शान्ति उपदेश तत्त्व संग्रह

आचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी महाराज

के

प्रवचनों पर आधारित
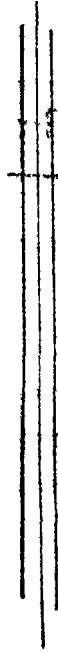
प्रकाशक :

सतीशचन्द्र जैन

रामपुर मनिहारान

जि० सहारनपुर

२ मार्च १९८२

सम्पादक :

सूरजमल जैन (इंजीनियर)

सुशीला सदन

७७ प्रेमपुरी मुजफ्फरनगर

मुद्रक
गोल्डन प्रिन्टर्स
रुड़की रोड (आनन्द भवन)
मुजफ्फरनगर-२५१ २

पुस्तक मंगाने का पता
सतीशचन्द्र जन
रामपुर मनिहारान (सहारनपुर)

मूल्य :
न्योछावर स्वाध्याय
[illegible]

☆ अर्पण ☆

त्याग तपस्या आत्म बोध से
करते स्व कल्याण।
आचार्य बन उपदेश करते
हो जग का कल्याण॥
ऐसी भावना से सदा
होता सम्यक ज्ञान।
उपदेशो से मिलता सबको
रत्नत्रय का दान॥
तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो
उपजे केवल ज्ञान।
अनन्त सुख मिले तुम्हे
मिले ऐसा मोक्ष स्थान॥

ऐसी शुभ भावना के साथ आचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी महाराज को सादर समर्पित—

सतीश

परम पूज्य प्रात स्मरणीय दिगम्बर जैन महान तपस्वी
श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज प्रसन्न मुद्रा मे ।

दो शब्द

रामपुर मनिहारान के इतिहास को बदलने वाले आचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी महाराज ने रामपुर मनिहारान (सहारनपुर) मे प्रथम आचार्य चातुर्मास सन् १९८० में करके रामपुर समाज का कल्याण कर दिया। सर्वप्रथम महाराज श्री चैत्र मास के अन्त में रामपुर आये तो पन्द्रह दिन के प्रवास तथा प्रवचनो ने रामपुर समाज को इतना प्रभावित किया कि रामपुर समाज ने महाराज श्री से पुन चतुर्मास के लिए अत्यन्त विभोर हो प्रार्थना की। महाराज श्री ने समय निकट आने पर स्वीकृति प्रदान की।

सौभाग्य से १९ जौलाई सन् ८० को महाराज श्री का रामपुर मनिहारान (सहारनपुर) में चातुर्मास हेतु पदार्पण हुआ और २६ जौलाई को महाराज श्री के वर्षायोग की स्थापना हुई। २१ नवम्बर १९८ को चतुर्मास पूण हुआ। इस चातुर्मास काल मे महाराज श्री के प्रवचन सुनकर आत्मा को जो आन द मिला उसका मैं श दो मे वर्णन करने मे असमर्थ हूँ। जैसे तीर्थंकर रूपी सूर्य से जग का अन्धकार दूर हो जाता है और ज्ञान रूपी प्रकाश चारों ओर फल जाता है विश्व उद्धारक सर्व ज्ञाता दृष्टा वीतराग देवाधि देव अपनी अमृतमयी वाणी से उन भूले भटके सासारिक प्राणियो को इस विषम दु खमय वन स निकालने हेतु सुपथ दिखाते हैं और उनके अमर उपदेश सुन भव्य जीव उनका अनुसरण कर ससार सागर से पार होकर अक्षय सुख माक्ष धाम पाते हैं उसी तरह से आपके प्रवचनो मे मानव का हृदय बदल जाता है। चू कि आप मे आडम्बर नाम की काई वस्तु नही है। इस कारण आपके प्रवचन हृदयग्राही होते हैं।

महाराज श्री ने अपने प्रवचनो से अनेक मनुष्यो की जीवन धारा का रुख भौतिकवाद से आध्यात्मिकवाद की आर माड दिया है। आपने अपने प्रवचना द्वारा मिथ्यारूपी पाप का स्पष्ट चित्रण कर समाज मे शुद्ध भावनाओ का समावेश किया है। अनेक श्रावको ने आपसे अनेक नियम ले अपने जीवन को सार्थकता की ओर मोड लिया है। आपके हितोपदेशक प्रवचन सुनते समय मानव अपनी आत्मा मे लीन होकर सब कुछ भूल आत्मीय आनन्द प्राप्त करता है। अत मेरी भावना बनी कि महाराज श्री के ऐसे जग हितकारी प्रवचन संकलन कर छपवाये जायें जिससे भव्य जीव अपना कल्याण कर सके। श्री सूरजमल जी जैन रिटायर्ड इंजीनियर मुजफ्फरनगर का अथक सहयोग

मिला एव उन्होंने बहुमूल्य समय लगाकर इसका सम्पादन किया। इसके लिये मैं तथा समाज उनका अत्यन्त आभारी है। इसके अतिरिक्त प्रकाश पुस्तक भडार रामपुर का मुझे लगातार परामर्श मिलता रहा जिससे इसका शीघ्र प्रकाशन हो सका इसलिए मैं इनका आभार मानता हू एवम् जन समाज रामपुर के पूर्ण सहयोग का आभारी हू।

आचार्य गुरुदेव के प्रवचनो द्वारा धम मार्ग का अनुसरण करने के लिए हम सब प्रयत्नशाल रहे यही भावना है। यदि इस पुस्तक को पढने से एक भी जीव का कल्याण हो जावे तो पुस्तक का छपना सार्थक होगा।

प्रकाशक

सतीश चन्द्र जन

सुपत्र स्व लाला जियालाल जन

रामपुर मनिहारान

सहारनपुर (यू पा)

आचार्य श्री १०८ शांति सागर जी महाराज का

जीवन चरित्र

आपका जन्म राजस्थान प्रांत के जिला अलवर स्थित अलावडा ग्राम मे श्रावण शुक्ला द्वितीय सम्वत् १९७२ को शेलवाल वशीय मालेश्वरी गोत्र म हुआ। आपके पिता का नाम श्री छोटेलाल जी एव माता जी का नाम चन्दना जी था।

आप चालीस वर्ष तक गृहस्थावस्था मे रहे। आपके विचार बाल्यावस्था से ही धार्मिक थे। बचपन स ही नित्य देव दर्शन एव स्वाध्याय का नियम पालते थे। जमीकन्द तथा रात्रि भोजन के भी आप त्यागी थे। आपका नाम सुखराम था। बड हाने पर आप समाज मे विद्वान समझे जाते थे और उपदेश आदि देते रहते थे। आपकी विद्वता एव सत्यता के कारण ही आप ११ गावों के सरपच बनाये गये। इस कार्य को कुशलता पूर्वक करते हुवे भी आप आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर रहते थे। सवत् २ १२ मे आपकी सहधर्मिणी श्रीमती चन्द्रकला जी के स्वर्गवास के पश्चात आप पूर्ण ब्रह्मचारी बन गये और सप्तम प्रतिमा ले ली और आत्म अनुभव म मग्न रहने लगे।

सम्वत् २०२८ मे आपने श्री १ ८ पूज्य आचार्य निमल सागर जी महाराज से मुजफ्फरनगर मे मुनि दीक्षा ले ली और निरतिचार २८ मूल गुण का पालन करने लगे। आपको वचन सिद्ध पाकर बडे बडे राज्याधिकारी समाज नेता एव विचारक आपके पास शुभाशीर्वाद लेने आने लगे।

इसके पश्चात आपका िहार समस्त पश्चिमी भारत मे हुआ। आपने एक बार सघ सहित श्री सम्मेदशिखर जी की भी यात्रा की। आप अपने चतुर्मासो मे अधिकतर एक दिन छोडकर आहार के वास्ते उठते हैं। काफी लम्बे लम्बे मौन भी रखते हैं। आपने सन् १९७१ मे दिल्ली मे डढ महीने का मौन रक्खा। श्री सम्मेदशिखर जी ने १९७५ मे तीन माह का मौन रक्खा और अपना समय अकले पहाडियो की गुफाओ मे बिताया। इसी प्रकार पार्श्वनाथ अहिक्षत्र मे जितने दिन भी आप रहे आपका समय अकले भीम किले की गुफाओ मे ही ध्यान मे बीतता था। श्री हस्तिनापुर तीथ क्षेत्र पर चतुर्मास करने वाले आप इस समय के पहले दिगम्बर मुनि थे। वहा आपने

१६७६ मे चतुर्मास किया और लगभग २ महिने का मौन रक्खा और दिन छाडकर आहार लिया। हस्तिनापुर के चतुर्मास मे आपने कई रात्रि अकेले नसिया जी पर ही आत्मध्यान में व्यतीत की।

आपने क्रोध एव नींद पर पूर्ण विजय प्राप्त की है। अन्तर बाहर दानो प्रकार के परिग्रह से दूर है। न आप काई घडी वगरा रखते है और न चटाई आदि कवल बहुत सर्दी मे कभी-कभी पराल का प्रयोग कर लेते हैं। आप पूणत परिग्रह जय हैं।

आपकी तपस्या ध्यान एवं महाव्रत के पालन से प्रभावित होकर समस्त उत्तर भारत के जन समाज क प्रतिनिधियो ने एव समस्त भारत के दूसरे भागो से आये चतुर्विध सघ के श्रावक श्राविका त्यागी व व्रतियो क समुदाय के जिन शासन की रक्षा समृद्धि एव प्रभावना के लिये ३-११-७६ दिनाक चतुदशी शनिवार का हस्तिनापुर तथक्षेत्र पर जो श्री शातिनथ कुथुनाथ जी एव अरहनाथ भगवान के चार कल्याणो से पवित्र है आपका आचार्य पद प्रदान करके अपने आपका सौभाग्यशाली माना। इस अवसर पर आपको परम तपोनिधि प मपूज्य श्री १ ८ जय सागर जी महाराज का आशीर्वाद एव अनुमति प्राप्त हुई।

इस अवसर पर विशिष्ठ व्यक्तियो मे आत्मधर्म के सम्पादक एवं जाने माने जैन दर्शन के प्रकाड पण्डित श्री हकमचन्द जी भारिल्ला जयपुर वाले एव अखिल भारतीय जन सघ समिति व मत्री जा सुकुमाल चन्द जन मेरठ वाले अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद के मत्री श्री हुकमचन्द जैनी तथा हस्तिापर क्षेत्र के परम उदासीन त्यागी एव प्रकाड विद्वान ब्र० हुकमचन्द जी भी उपस्थित थे।

महाराज श्री शुद्ध आम्नाय क स्वय मानने वाले व उसी का लगातार उपदेश देने वाले है और पूण रूप स जिन शासन गुरु परम्परा एव शुद्ध आम्नाय का प्रकाश करते हुवे समाज की आकांक्षा को पूर्ण कर रहे हैं।

सुरजमल जैन
(इजीनियर)
५ २ ८१

सम्पादकीय

पूज्य श्री १ ८ आचार्य शान्ति सागर जी महाराज का सम्बन्ध मुजफ्फरनगर से बहुत अधिक रहा है। उनकी मुनि दीक्षा भी मुजफ्फरनगर मे ही हुई थी। मुनिदीक्षा से पहले और बाद म भी उनकी कृपा मुजफ्फरनगर जन समाज पर लगातार बनी रही और उनके कई चतुर्मास का लाभ इस नगर के जन समाज को बराबर मिलता रहा है।

मैं १९७६ में सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त करके प्रमपुरी मुजफ्फरनगर मे ही रहने लगा। महाराज श्री का चतुर्मास अधिकतर प्रमपुरी म जैन औषधालय मे होता रहा है इस कारण मुझे महाराज श्री क लगभग सभी प्रवचन सुनने का मिलते रहे और लगभग प्रतिदिन तत्त्व चर्चा का भी लाभ मिलता रहा। इस मैं अपने पुण्य का ही उदय समझता रहा। ज्यो-ज्यो उनके प्रवचन सुनने को मिले और सान्निध्य मिला उनकी स्पष्ट वाणी का तपस्या का एव आगमानुसार निश्चय ज्ञान का प्रभाव मेरे मन पर पडता गया। उनके उपदेशो मे पक्षपात का काई अश नही रहता था। कसा ही श्रोता हो महाराज श्री का प्रवचन निश्चय को लक्ष्य मानकर और व्यवहार को साधन मानकर होता था। महाराज श्री की नाट बुक मे विविध जन सिद्धान्तो पर काफी नोट लिखे हुए थे जिन्हे मैं अक्सर महाराज श्री से लेकर समय-समय पर पढता रहा हू और मुझ उनम बहुत लाभ हुआ। उन्ही पर महाराज श्री से चर्चा मे शका समाधान भी होता रहता था। इन धर्म चर्चाओ मे मुजफ्फरनगर के साधर्मी भाईयो की ये इच्छा स्पष्ट झलकती थी कि यदि महाराज श्री के इन नोटो का किसी पुस्तक रूप मे प्रकाशन हो जाय तो वह जन समाज के मुमुक्ष जनो के लिये बहुत लाभकारी होगा। कई सज्जनो ने सन् १९७८ मे जब कि महाराज श्री का चतुर्मास मुजफ्फरनगर ही था मेरे ऊपर जोर भी डाला कि मैं प्रयत्न करके और अपना समय लगाकर इस काम को करू। परन्तु इस कार्य की विशालता को और अपने ज्ञान के क्षयोपशम को देखते हुवे मेरी हिम्मत इस कार्य को अपने हाथ मे लेने की नही हुई और बात आई-गई हो गई।

मार्च १९८१ मे महाराजश्री रामपुर (मनियारान) जिला सहारनपुर मे रुके थे और ब्रह्मचारी श्री प्रेमचन्द जी (करनाल वाले) को क्षुल्लक दीक्षा १५ मार्च १९८१ को हो जाने वाली थी। मुजफ्फरनगर से भी काफी जन

समाज वहाँ इस समारोह मे शामिल हुआ था। मैं भी गया हुवा था। वहा पर मैंने पाया कि रामपुर मनिहारान के एव दूसरे नगरो के मुमुक्ष जन महाराज श्री के प्रवचनो से बहुत प्रभावित है और चाहते हैं कि किसी प्रकार महाराज के प्रवचनो का जो उनकी नोठ बुक पर आधारित है किसी प्रकार पुस्तक रूप मे जन समाज के वास्ते प्रकाशन हो जावे। कई सज्जनो ने मेरे ऊपर व्यक्तिगत जोर दिया और रामपुर के ही श्री सतीश चन्द्र जी ने किसी प्रकार महाराज श्री की नोट बुक भी प्राप्त कर ली और मुझसे कहा कि मुझे इस काम मे अवश्य लगना है और उन्होने इसका पूरा व्यय भी देने को कहा। कार्य को देखते हुवे मेरी हिम्मत नही पड रही थी परन्तु तभी मुजफ्फरनगर के ही श्री वासुदेव प्रसाद जी जन ने जो वही पर थे मुझे इस काम मे लग जाने को कहा और अपना पूरा सहयोग मुझे देने का भी वायदा किया। वे मेरे मित्र भी थे और उनसे अक्सर तत्त्व चर्चा भी होती रहती थी। अत मुझे हा करनी पडी और महाराज जी से इसके प्रकाशन की अनुमति लेकर और उनका आशीर्वाद लेकर मैं इस काम पर लग गया।

प्रस्तुत पुस्तक के सभी निबन्धो का सग्रह आचार्य श्री शान्त सागर जी महाराज के उपदशा पर ही आधारित है जो मनुष्य मात्र को शान्ति के देने वाले ह और इनमे कवल उन्ही विषयो का लिया गया है जो जन सिद्धान्त मे महत्वपूण समझे जाते हैं अत इस पुस्तक का नाम शाति उपदेश तत्व संग्रह रक्खा गया है। इसमे १ ६ निबन्ध प्रवचन रूप मे है जो भिन्न भिन्न विषयो पर हैं। इनमे जन दशन क लगभग सभी सिद्धान्ता का वर्णन आ जाता है। सात तत्व नौ पदाथ दस धर्म बारह तप सप्तभय सम्यक दशन एव उसके अष्ट अग और पच्चीस दाष आदि निश्चय एव व्यवहार रूप स रत्नत्रय सम्यक दशन सम्यक ज्ञान सम्यक चारित्र आदि को भली भाति रूप से समझाया गया है। समयसार की कुछ मुख्य गाथाओ को कलशो के साथ बहुत ही अच्छी प्रकार स्पष्ट किया गया है। चू कि महाराज श्री शुद्ध आम्नाय के दिगम्बर साधु एव तपस्वी है अत इस पुस्तक के हर निबन्ध स निश्चय (लक्ष्य रूप) का और व्यवहार (साधन रूप) का स्पष्ट बोध होता है। समाज मे आजकल द्रव्य लिंगी और भाव लिंगी साधु की काफी चर्चा रहती है। इस बात को महाराज श्री ने साधुआ क प्रति बिना किसी पक्षपात के बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे विशा बाध दिया है यहा तक कि कही-कही किसी त्यागी वर्ग को महाराज श्री की वाणी कटु भी प्रतीत हो सकती है। इस प्रकार ये सभी निबन्ध ग्रहस्थी श्रावको को ही नही अपितु त्यागी वर्ग को भी लाभकारी सिद्ध होगे ऐसी पूरी आशा है।

महाराज श्री का १९७८ मे मुजफ्फरनगर मे चतुर्मास हुआ था।

प्रतिदिन उनके प्रवचन में कोई व कोइ ऐसी बात मिल जाती थी जिसे मैं घर जाकर अपने लाभ के लिए नोट कर लेता था। इस प्रकार उनके उस चतुर्मास मे मेरे पास जैन दर्शन के विविध विषयो पर महाराज श्री क विचारो का एक सग्रह हो गया जिसे मैं समय समय पर अपनी स्मृति के लिये पढ़ लेता था। उनका प्रकाशन शाति प्रवचन नामक लघु पुस्तिका रूप मे मेने १६८ मे किया था जो सब मुमुक्ष भाईया का बहुत ही पसन्द आई थी। इसी पुस्तक के परिशिष्ट-१ मे उनको ज्यो का त्यो पाठको के लाभ के लिए दे दिया गया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे कुछ देर अवश्य हो गई। इसका मुख्य कारण मुजफ्फरनगर मे किसी बडे प्रस का न होना रहा। यदि इसे कही बाहर छपवाया जाता तो प्रफ आदि के देखने की दिक्कत होती। इसका प्रकाशन श्री सतीश चन्द्र जी जन रामपुर मनिहारान (जि सहारनपुर) वालो ने किया है अत समाज उनका आभारी है। इस पुस्तक का सपादन करन मे श्री वासुदेव प्रसाद जी अवकाश प्राप्त एक्जीक्यूटिव आफीसर जिला परिषद् मुजफ्फरनगर ने मुझे बहुत सहयोग दिया है अत मैं व्यक्तिगत रूप से उनका बहुत ही आभारी हू।

मैने अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया है कि महाराज श्री के विचार व उसका भाव ज्यो का त्यो हर विषय के निबन्ध मे आव। फिर भी यदि कही पर काई त्रुटि दिखाई द तो मैं उसका क्षमा प्रार्थी हू।

सुशीला सदन
७७ प्रमपुरी मुजफ्फरनगर
(उ प्र)

सूरजमल जन
(इजीनियर)
५-२ ८२

अनुक्रमणिका

श्री सतीश चन्द जन सुपुत्र लाला जियालाल जन रईस रामपर
जिनके द्वारा शास्त्र प्रकाशन का षण किया गया।

ॐ नमः सिद्धाय

शान्ति उपदेश तत्त्व संग्रह

१ शुद्ध आत्मा

(मंगलाचरण)

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ-लाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिन शासनम् ॥

"शुद्ध आत्मा का आदर'

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

अर्थ—मैं (अमृतचन्द्र) समयसार अर्थात् समस्त पदार्थों मे श्रेष्ठ उस आत्म तत्त्व को नमस्कार करता हू जो स्वानुभूति से प्रकाशमान है चैतन्य स्वभाव है शुद्ध सत्तारूप है और समस्त पदार्थों को जानने वाला है अथवा चैतन्य स्वभाव से भिन्न समस्त रागादिक विकारी भावो को नष्ट करने वाला है।

समयसार के प्रारम्भ मे नम समय साराय कहकर आचार्य देव ने शुद्ध आत्मा का आदर करके उसे नमस्कार किया है। मोक्षार्थी को शुद्ध आत्मा का आदर आना चाहिये। शुद्ध आत्मा का आदर करके उसकी प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है। जीव ने पूर्व अनन्त काल मे शुद्ध आत्मा का आदर या प्रतीति कभी नही की सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है तथा उसकी क्या रीति है— यह बात भी कभी जीवने यथार्थ पात्रता पूर्वक नही सुनी यहाँ आचार्य देव वह बात समझाते हैं। जिसे नमस्कार किया जिसका आदर किया वह शुद्ध आत्मा कैसा ?—चित् स्वभावी वस्तु है। 'भाव' कहने से वह सत् वस्तु है और 'चित् स्वभाव कहने से चैतन्य उसका लक्षण है तथा अपने को अपनी स्वानुभूति से ही प्रकाशित करता है-जानता है-अनुभव करता है वह उसकी क्रिया (पर्याय) है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा के द्रव्य गुण पर्याय तीनो का पहिचान कर उसे नमस्कार किया है। देखो भाई जीव ने अनन्तबार चारों गति

मे जन्म धारण किये हैं उनमे देव और नारकी राजा और रक चीटी और हाथी अनन्तवार हुआ है किन्तु शुद्ध आत्मा का भान कभी एक क्षण भी नही किया इसलिए वह दुर्लभ हैं । ससार मे सब कुछ सुलभ हैं किन्तु एक आत्म ज्ञान ही दुर्लभ है । जीव को पूव भवो मे अनन्तवार महान वभव तो प्राप्त हो चुका है इसलिए उसे सुलभ कहा है और सम्यग्दशन तथा सम्यग्ज्ञान सम्यक चारित्र पूव काल म कभी प्राप्त नही हुए इसीलिए उन्हे दुलभ कहा है तथापि वह सम्यग्दर्शन आत्मा के अपने स्वभावाधीन है और स्वाधीन होने से सुलभ हैं । परवस्तु की प्राप्ति आत्मा के आधीन नही किन्तु पराधीन है इसलिए वह दुर्लभ है । एक क्षण भी अन्तर मे शुद्ध आत्मा का पहिचान कर सम्यग्दर्शन प्रकट करे तो स्वानुभव से विश्वास हो जाये कि अब मेरे जन्म मरण का अन्त आ गया है अन्तर के स्वानुभव मे सिद्ध भगवान जसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ जाता है ॥

अरे जीव तू आत्मा को भूलकर अनादि काल से चार गति के अनन्त जन्मो मे भटक रहा है । भगवन क्या अभी भी तुझे थकान मालूम नही होती । यदि तू ससार भ्रमण से थक गया हो और चतन्य की निर्विकल्प शांति का वेदन करना चाहता हो तो उसका उपाय यह है कि तू अपने शुद्ध आत्मा को जान । शुद्ध आत्मा स्वानुभूति से ही प्रकाशमान होता है । स्वानुभूति ही सवर–निजरा है । उनके द्वारा आत्मा सवज्ञ होता है । पुण्य पाप या आस्रव बध द्वारा शुद्ध आत्मा प्रकट नही होता इसलिए जो मोक्षार्थी हो वह सवप्रथम शुद्ध आत्मा को जानकर उसका आदर कर । प्रथम कलश म ही समयसार कहकर शुद्ध जीव तत्व बतलाया स्वानुभूति कह कर सवर–निर्जरा तत्व बतलाये और सव भावान्तरच्छिदे कहकर सवज्ञता रूप मोक्षतत्व बतलाया । आस्रव बन्ध या पुण्य–पापरूप हेय तत्वो को उनमे नही लिया—शुद्ध आत्मा मे उनका अभाव है ।

मन मन्दिर के उजाड होने पर उसमे किसी भी सकल्प–विकल्प का वास न रहने पर–और समस्त इन्द्रियो का व्यापार नष्ट हो जाने पर आत्मा का स्वभाव अवश्य आविर्भूत होता है और उस स्वभाव के आविर्भूत होने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है ॥

जो योगी आत्माज्ञान से विमुख हुआ पर द्रव्य मे राग करता है वह न तो रत्नत्रय रूप हैं और न चारित्र पर चलने वाला ही है । जो योगी आत्म तत्त्व से विमुख न होकर उसका पूर्ण ज्ञाता तो है परन्तु पर वस्तु मे बहुत थोडा–सा राग भी यदि रखता है तो वह कर्म बन्धन से अवश्य बन्ध को प्राप्त होता है । मात्र सम्यग्ज्ञान का होना कर्म बन्धन का रोकने मे समर्थ

नही है उसक लिए राग ्ष के अभाव रूप चारित्र का होना जरूरी है। जो निरन्तर पर द्रव्यो की चिन्ता मे रत रहता है वहा पर द्रव्य जसा हो जाता है। और जो शुद्ध आत्मा के चिन्तन में लीन रहता है वह शीघ्र ही अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त हैं पर द्रव्य रूप अथवा बहिरात्मा नही रहता । कर्मों मे मोहनीय कम व्रतो मे ब्रह्मचर्यव्रत-गुप्ति मे मनो गुप्ति इन्द्रियो मे रसना यह चार प्रबल होती है। इनको जीतने से मुक्ति प्राप्ति होती है। विषयो के लोभी मनुष्य शील स रहित होते हैं। अत ग्यारह अङ्ग और दस पूर्व का ज्ञान होने पर भी मोक्ष माग से वचित रहते है। इसके विपरीत शीलवान् मनुष्य अष्ट प्रवचन मातृका के जघन्य ज्ञान से भी अन्तमु हूर्त के भीतर केवल ज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील की वीतराग भाव की कोई अद्भुत महिमा है। यदि विषयो के लाभी कुज्ञानी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते होते तो दस पूर्वो का पाठी रुद्र नरक क्यो जाता।

२ सुन्दर आत्मा

एयत्त णिच्छय-गओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंध - कहा एयत्त तेण विसंवादिणी होई ।।३।।

अर्थ—जो समय पदार्थ एकत्व मे निश्चित है वही सर्वलोक मे सुन्दर है। इसी हेतु से एकपन मे जो सम बन्ध की कथा है वह विसंवादरूपिणी है अर्थात् निन्द्य है।

विशेषार्थ—प्राय लोक मे भी देखा जाता है कि जब तक यह मनुष्य छात्र जीवन मे रहकर गुरुकुल मे विद्याध्ययन करता है तब तक सब आपत्तियो से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मचारी हो सानन्द जीवन से अपने समय को निर्द्वन्द्व बिताता है और जब घर मे प्रवेश करता है तथा माता पिता के आग्रह से विवाह बन्धन को स्वीकृत करता है तब द्विपद से चतुष्पद होता है। दैवयोग से बालक हो गया तो षट्पद (भौरा) हो जाता है। और अपने बालक का जब विवाह संस्कार हो गया तब अष्टापद (मकडी) हो जाता है और अपने ही जाल मे आप ही मरण को प्राप्त हो जाता है। इससे यह तत्व निकला कि पर का सम्बन्ध ही संसार मे आपत्तियो की खान है। इस गाथा मे जो समय शब्द आया है इसका अर्थ यहा पर आत्मा नही है किन्तु सामान्य पदार्थ है। अतएव उसकी व्युत्पत्ति श्री अमृतचन्द्र महाराज ने इस रूप से की है—समयते एकत्वेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति समय —अर्थात् जो एकपन कर स्वकीय गुण पर्यायो को प्राप्त होता है उसे समय कहते हैं। अत समय शब्द से धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल और जीव ये छह लिये जाते है। इन्ही षड्द्रव्यो का समुदाय ही लोक है। इस लोक मे जो द्रव्य है वह अपने अनन्त धर्मों का चुम्बन करता है अर्थात् अपने अनन्त धर्मो से तन्मय है एक द्रव्य कदापि पर द्रव्यो के धर्मों का चुम्बन नही करता। ये षड्द्रव्य अत्यन्त प्रत्यासत्ति (एक क्षेत्रावगाह) के होने पर भी स्वरूप से पतित नही होते-कभी भी पररूप से परिणमन नही करते इसी से उनके अनन्त व्यक्तित्व का भी अभाव नही होता। समस्त विरुद्ध और अविरुद्ध कार्यों मे कारण होकर विश्व का उपकार कर रहे हैं किन्तु निश्चय से एकत्वरूप कर ही सुन्दरता को पाते हैं। यदि इस प्रक्रिया का त्यागकर प्रकारान्तर से व्यवस्था की जावे तो सर्वसंकरादि दोषो की आपत्ति आ जावेगी। इस प्रकार यह व्यवस्था चली आ रही है। उसमे जीव नामक जो पदार्थ है उसमे बन्ध की कथा विसंवादिनी है।

क्योंकि बन्ध दो पदार्थों के सम्बन्ध से हाता है। बन्ध का यह अथ नही कि उन दोनो की सत्ता का अभाव हो जाता है किन्तु वे दोना अपने-अपने स्वरूप को छोडकर एक भिन्न ही अवस्था (विकारी दशा) को प्राप्त हो जाते हैं। पुद्गलो मे यह ठाक है क्योंकि जस चूना और हल्दी मिलाने से एक लाल रग वाली भिन्न ही वस्तु हो जाती है। कारण कि पुद्गलो मे वर्ण गुण सभी मे रहता है अत वर्ण का अवान्तर पर्याय लाल रग दोनो का होने मे कोई बाधा नही। परन्तु जीव और पुद्गलो के बन्ध मे कुछ विलक्षणता है। जीव के रागादि परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गलो मे ज्ञानावरणादि रूप पर्याय हा ज ती है और ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल का निमित्त पाकर जीव मे रागादिरूप परिणति होती है अर्थात जीव अपने स्वरूप से च्युत होकर रागादि रूप परिण मता और कार्माण वगणाए ज्ञानावरणादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाती है। जीव और पुद्गलो की एक पर्याय नही होती। यहा यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्मों का विपाक पुद्गलो म होता है और जीव का रागादिक जीव मे होता है तथापि दोनो ही अपने अपने स्वरूप से च्युत होकर एक क्षत्रावगाह से रहते हैं। यही सिद्धान्त श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने स्वय लिखा है।।

इस प रिपाटी स जीव क साथ पुद्गल द्रव्या के सम्बन्ध से यह बन्ध ही हा रहा है सो विसवाद जनक है। अतएव पर द्रव्यो से भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायो से अभि न आत्मा का जा एकत्वपन है वही सुन्दर है।।

३ आत्मा का एकत्व

सुदपरिचिदाणु भूआ सव्वस्सवि काम भोग बध कहा।
एयत्तस्सुवलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

अथ —समस्त लोक को काम भाग (कतृत्व भोक्तृत्व) सम्बधी बध की कथा श्रवण म परिचय म व अनुभव मे भी आ गई है। भाई तूने अनादि से विकार करन की तथा उसक उपभोग की ही रुचि की है उसी के श्रवण मे प्रम और उत्साह बतलाया है। बारम्बार उसी का अनुभव किया है। किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी भाव से सुना है न उसका परिचय प्राप्त किया हैं विकार रहित शुद्ध ज्ञानान्द स्वरूप आत्मा की रुचि कभी नही की उसक श्रवण मे प्रम और उत्साह नही किया तूने उसका अनुभव नही किया। इसलिए अब एक बार अन्तर मे शुद्ध आत्मा का उल्लास लाकर प्रमपूवक यह बात सुन—

प्रश्न प्रभो अनन्तवार समवसरण मे जाकर श्रवण किया है फिर भी आप ऐसा क्या कहत है कि श्रवण नही किया।—

उत्तर समवसरण मे जाकर श्रवण किया और सता स सुना कितु उसे हम वास्तव मे श्रवण नही कहते क्याकि सवज्ञो आर सतो का जसा आशय था वसा लक्ष मे नही लिया इसलिए श्रवण नही किया ऐसा कहा है। इसी प्रकार अनादि निगाद के जीव की जिन्हे कभी ससार म कण इन्द्रिय की प्राप्ति ही नही हुई तथापि उन्हाने भी काम भोग बध की कथा अनन्तबार सुनी है-ऐसा कहा है क्योकि शब्द न सुनने पर भी उनकी रुचि मे-अभिप्राय मे-अनुभव मे ता उस काम भोग बध की बात का ही मथन हो रहा है। अनादि काल स जो विपरीत रुचि था वसी ही रुचि का मन्थन दिव्य ध्वनि सुनते समय भी होता रहा सलिए दिव्य ध्वनि श्रवण करने का काई फल तो नही मिला उपादान मे कुछ अन्तर तो नही पडा इसलिए वास्तव मे उसने शुद्ध आत्मा की बात सुनी ही नहा है-उसने भगवान की बात का श्रवण ही नही किया है।

भले ही समवसरण मे जाये और दिव्यध्वनि सुने किन्तु जिसकी रुचि मे ही विकार भरा है उसे शुद्ध आत्मा की सुगन्ध (रुचि) नही आती।

अपनी अनादि कालीन विकार की रुचि को हटाकर शुद्ध आत्मा की रुचि प्रगट करे तो उसका अपूर्व स्वाद आये। उसका एक दृष्टान्त इस प्रकार है दो भंवरे थे दोनो दुर्गन्ध मे रहते थे और अपनी नाक मे दुर्गन्ध की गोलिया भर कर उनका स्वाद लेते थे एक बार एक भंवरा उडकर सुगन्धित गुलाब के फूल पर जा बैठा और उसकी सुगन्ध से प्रसन्न होकर अपने साथी भवरे से कहा कि—चल भाई गुलाब की सुगन्ध लेने चले। आज तुझे सुन्दर गुलाब की सुगन्ध का अनुभव कराऊँ। उसका साथी भंवरा गुलाब की सुगन्ध लेने चला तो गया किन्तु उसे वह सुगन्ध न आई क्योकि उसकी नाक मे उस समय भी दुर्गन्ध की गोलियाँ भरी हुई थी। उसके साथी ने पूछा—क्यो भा सुगन्ध आ रही है न तो वह भँवरा बोला कि भाई मुझे तो पहले ही जैसी दुर्गन्ध आ रही है कोई अन्तर नही पडा। पहले भवरे ने कुछ सोचकर कहा कि अरे भाई तेरी नाक मे जो यह दुर्गन्ध की गोलिया भरी हुई हैं इन्हे निकाल दे और फिर सूंघ तो तुझे सुगन्ध का अनुभव अवश्य होगा। दूसरे भवरे न तुरन्त अपनी नाक मे भरी हुई गोलिया निकाल दी और गुलाब का सुगन्ध लेकर प्रसन्न हो उठा।

उसी प्रकार अनादि कालीन विकार की रूचि को हटाकर अपने स्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेकर ज्ञानी धर्मात्मा अन्य भव्य जीवो से कहते हैं कि अरे जीवो! चलो अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेने। इस अनादि कालीन विकार के आकुलतामय स्वाद की जगह तुम्हे अतीन्द्रिय चैतन्य स्वभाव का अनाकुल शातरस चखाऊँ। ज्ञानी ने जब ऐसा कहा तब जीवो ने अन्तर मे विकार की रूचि रखकर श्रवण किया इसलिये उन्हे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नही आया। ज्ञानी ने उन्हे पुन समझाया कि अरे जीवो तुमने अपनी रूचि म विकार को पकड रखा है इसलिये तुम्हे अपने अतीन्द्रिय स्वाद का अनुभव नही होता इसलिये एक बार विकार की रूचि छोडकर श्रवण करो और अन्तर्मुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद का अनुभव करो। तब तुम्हे अवश्य अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आयेगा। इस प्रकार अन्तर्मुख होकर अनुभव करने पर फिर जिज्ञासु जीवो को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ जाता है। यही धर्म की तथा अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की रीति है।

प्रभो एकबार ता इस धर्म की रीति का लक्ष मे ले। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से धर्म नही हो सकता। धर्मी जो ऐसा आत्मा है उसी के आश्रय से धर्म होता है रागादि के आधार से धर्म नही होता। अरे भाई इस ससार के दुखो से छूटने के लिये अन्तर मे इस बात को समझने का प्रयत्न कर। मात्र क्षणिक विकार का बल न देख विकार के समय भी सम्पूर्ण नित्या

नन्द अविकारी आनन्द स्वभाव भरा हुआ है उसका अनुभव कर-उसका आदर कर। भाई चिरस्थाई स्वभाव की शरण बिना बाह्य मे कोई तुझ शरणभूत नही होगा। क्षणिक विकार की शरण लेने से तेरे भव भ्रमण का अन्त नही हो सकता। ऐसा मत सोच कि आत्मा की बात कमे समझ म आयेंगी। तू छोटा नही हैं। तुझमे सिद्ध भगवान जैसी महान प्रभुता भरी हुई है। यदि तूने अपनी प्रभुता को लक्ष मे नही लिया तो कुछ भी नहीं किया। कुछ ऐसा अपूर्व काय कर जिससे भव भ्रमण का अन्त आ जाये। आत्मा का चिदानन्द स्वभाव विकार मे नही है और विकार आत्मा के स्वभाव म नही है-ऐसे आत्म स्वभाव को लक्ष्य मे ले। उसका लक्ष्य करते ही अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन सहित उसकी प्रतीति होती है उसी का नाम सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा में सिद्ध पद की झलक आ जाती है।

भाई अपने अनन्त कालीन दु खो को दूर करने की यह बात है। इसे समझे बिना जगत मे अन्य कही तुझे सुख का अश भी प्राप्त नही हो सकता। तू अपनी कल्पना से दु ख को सुख रूप मान ले तो दु ख कसे दूर होगा। अहा जिसमे चतन्य के आत्मरस-अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद न आये वह सुख कसा ? वह धम कैसा ? चतन्यलता मे ऐसी शक्ति है कि उसमे केवल नान और सिद्धपद रूपी फल उत्पन्न होते हैं। हे जीव एक बार अन्तर मुख होकर तू अपनी उस शक्ति की प्रतीति कर। यदि तूने आत्मा की प्रतीति नही की तो तेरा शास्त्राभ्यास या मुनिव्रत पालन मोक्ष प्राप्ति मे कायकारी नही हो सकगे यह सब तो जीव अनन्तबार कर चुका है। इसलिए आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव को लक्ष मे ले—उसकी प्रतीति कर उसकी प्रतीति करने स भवभ्रमण का अन्त आ जाता है। (देखो)—देश भूषण और कुल भूषण मुनिवर इसी कु थल गिरि स मोक्ष पधारे हैं। मोक्ष प्राप्ति से पूव उन्हाने अपने शुद्ध आत्मा की प्रतीति और अनुभव किया था फिर उसमे सम्पूण लीनता क पश्चात उ ह केवल ज्ञान और मोक्षपद प्राप्त हुआ। इस प्रकार मोक्ष का उपाय अन्तर स्वभाव मे हैं उस स्वभाव की पहिचान तथा प्रतीति का प्रयत्न करना चाहिए देखो न इन मुनियो के धाम कसे हैं। जब देश भूषण और कुल भूषण मुनिराज यहा साक्षात विचरते होगे वह दृश्य कसा होगा। मानो सिद्ध लोक से सिद्ध भगवान उतर आये ही चतन्य मे झूलते हुए वे सिद्धपद की साधना कर रहे थे और उन्हे अतीन्द्रिय निजानन्द का अनुभव हो रहा था। श्री रामचन्द्र जी जसे भी उनके समक्ष भक्तिपूर्वक नाच उठे थे।। असुर देव जब उपद्रवो द्वारा उन ध्यान मग्न मुनिवरो को उपसर्ग कर रहे थे तब श्री राम लक्ष्मण ने उन असुरो को भगा दिया था और मुनिवरो की खूब भक्ति की थी। मुनिवरो ने

केवल ज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष पधारे ऐसे मुनिवरो का यह सिद्ध धाम है। अहा मुनिपद क्या है। उसका लक्ष करना भी जीवो को कठिन हो गया है। चैतन्य का सम्यक प्रतीति के पश्चात उसमें अत्यन्त लीनता करके बारम्बार राग से पृथक चैतन्य का निर्विकल्प रूप से अनुभव करते हैं ऐसा सम्यक श्रद्धा ज्ञान पूर्वक अनुभव ही मोक्ष प्राप्त करने का सच्चा तीर्थ है ऐसे तीर्थ के स्मरण तथा भावना के लिए ही साधक को तीर्थ यात्रा का भाव आता है।

४ भूतार्थ—शुद्धनय

ववहोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ।।११।।

अर्थ—व्यवहार अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। ऐसा ऋषि श्वरा ने बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से सम्यग दृष्टि है।

शिष्य का प्रश्न है कि प्रभु अखण्ड आत्मा को समझने म ज्ञान मे भेद रूप व्यवहार निमित्त होता है तो उसे अगीकार क्यो नही करना चाहिए। उसके उत्तर मे आचार्य देव यह ग्यारहवी गाथा कहते हैं। यह गाथा अत्यन्त शान्ति और धैर्य से समझने योग्य है। इसका भाव समझने वाले के जन्म-मरण का अन्त आ जाए—ऐसी यह गाथा है। आत्मा का स्वभाव एक रूप प्रभेद है व्यवहारनय भेद करके समझाता है। अशुद्धता और भेद अभूतार्थ है स्थायी चीज नही वर्तमान ज्ञान जिस भेद या अशुद्धता को बताता है वह व्यवहारनय है। व्यवहारनय अभतार्थ हैं अभत अर्थात नही—ऐसे अर्थ का बताने वाला हाने से असत्याथ है। वस्तु मे जो परमार्थ वस्तु भत नही ऐसे राग और भेद का बताने वाला होने से व्यवहारनय असत्यार्थ ह।

शुद्धनय वस्तु जसी हैं वसी बताने वाला हाने से भूताथ हैं। अनन्तगुण जिसमे हैं—एसी अभेद एकरूप त्रिकाली वस्तु ही सत्याथ है वही भूताथ है उसे शुद्धनय बताता है अत शुद्धनय का आश्रय करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि है।।

यह गाथा दृष्टि की प्रधानता से है। आत्मा एक समय मे अनन्त गुणो का पिण्ड है। उसमे विकल्प उठाने से गुण भेद करने से सम्यग्दशन नही होता। प्रगट पर्याय को गौण करके शक्ति रूप ध्रव सामान्य स्वभाव के अव लम्बन से सम्यग्दर्शन होता है। एक मे अनेकता की वृत्ति उठाना अभूताथ है। पर्याय मे भेद है पर एकरूप स्वभाव मे भेद नही अत भेद अभूताथ हैं।।

अनादि से त्रिकाली ध्रव ज्ञायक भाव का अनादर करके राग का आदर किया है यही महान हिंसा है। राग का आदर छोडकर शुद्धनय का त्रिकाली ज्ञायक भाव का आदर करना ही सच्ची अहिंसा है। वर्तमान ज्ञान की दशा राग की ओर झुकी हैं। वह दशा वहा से विमुख होकर त्रिकाली ज्ञायक भाव

की ओर झुके यही धर्म की शुरुआत है। — त्रिकाली अखण्ड वस्तु को भेद द्वारा बताना व्यवहार वह चार प्रकार का है —

(१) उपचरित असद्भूत व्यवहार=ख्याल मे आने वाला राग।

(२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार=ख्याल में न आये ऐसा अबुद्धि पूर्वक राग।

(३) उपचरित सद्भूत व्यवहार=ज्ञान अपना होते हुए भी उसे पर को जानने वाला राग का जानने वाला कहना।

(४) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार=ज्ञान वह आत्मा–ऐसा भेद करना उपरोक्त समस्त व्यवहार अभूतार्थ हैं असत्यार्थ है। भगवान आत्मा अभेद एक रूप अखड वस्तु है। उस भेद करके जानने वाला व्यवहार वह समस्त ही असत्यार्थ है अभूतार्थ है क्योकि वह अविद्यमान–असत्य अर्थ को प्रकट करने वाला है। त्रिकाली अभेद एकरूप ज्ञायक भाव का आश्रय करने के लिए व्यवहारनय समस्त ही असत्यार्थ है। निर्मल पर्याय और द्रव्य दोनो को साथ मे लेना भी आश्रय करने के लिए असत्यार्थ हैं। स्वभाव और स्वभाववान अभेद हैं उसकी दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है।

अभेद एकरूप आत्मा सत्यार्थ है। उसकी अपेक्षा चारों व्यवहारनय असत्यार्थ हैं आदरणीय नही जानने योग्य हैं। व्यवहारनय राग-ज्ञान आदि के भेद करके दिखाता है जो कि अभेद त्रिकाली वस्तु मे नही। — सम्यग्दर्शन के प्रयोजन की सिद्धि के लिए त्रिकाली को मुख्य करके भेद को गौण करके वहा से दृष्टि हटाने के लिए उसे असत्यार्थ कहा है। पर्याय ध्रुवद्रव्य मे है और उसे गौण किया है। ऐसा नही है। त्रिकाली ज्ञायक की दृष्टि कराने के लिए पर्याय को पर्याय मे गौण करके असत्यार्थ कहा है त्रिकाली मे नही।

और पर्याय सर्वथा नही है अत उसे असत्यार्थ कहा है ऐसा भी नही है। यह बहुत शान्ति से समझने योग्य बात है। त्रिकाली वस्तु का मुख्य करके उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। पर्याय मे भेद होते हुए भी प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसे गौण करके त्रिकाली अभेद को मुख्य करके सत्यार्थ कहकर उसका आश्रय कराया है और इससे सम्यग्दर्शन के प्रयोजन की सिद्धि होती है।

शुद्धनय एक ही भूतार्थ है क्योकि सत्य अर्थ को प्रकट करता है। शुद्ध नय एक ही है। उसके शुद्धनय और अशुद्धनय ऐसे दो भेद नही हैं। वास्तव मे तो अशुद्धनय भी भेद करता है अत: व्यवहारनय ही है। आत्मा सम्यग्दर्शन

ज्ञान चारित्ररूप परिणमित होता है यह भी भेद प्ररूपण होने से अशुद्धनय का विषय है। अत शुद्धनय एक ही भूतार्थ है।

पर्याय सहित द्रव्य को विषय करने से व्यवहार हो जाता है जो कि असत्यार्थ है। त्रिकाली अभेद को जानने वाला एक शुद्धनय ही है। पर्याय रहित त्रिकाली ध्रुव धाम ही एक सत्यार्थ हैं। शुद्धनय और उसका विषय त्रिकाली ज्ञायक ऐसे दो भेद भी ज्ञायक का आश्रय करने वाले को नही रहते इसलिये यहा शुद्धनय का विषय भूतार्थ है ऐसा न कहकर शुद्धनय को ही भूतार्थ कहा है। अब यह बात उदाहरण द्वारा समझाते हैं।

प्रबल कीचड मिलने से जिसका सहज एक निर्मल भाव ढक गया है ऐसा जल का अनुभव करने वाले बहुत से लोग जल और कीचड की भिन्नता का विवेक न होने से जल को मलिन ही अनुभव करते है। परन्तु कुछ लोग जल और कीचड की भिन्नता का विवेक होने से अपने पुरुषार्थ द्वारा उस जल मे कतक फल डालकर सहज एक निर्मल जल को प्रगट करके उस जल को निर्मल ही अनुभव करते है। उस प्रकार कर्म के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व कषाय आदि भावो के मिलने से आत्मा का सहज एक ज्ञायक भाव ढक गया है तिरोभूत हो गया है। राग मे एकत्व के अहं की आड मे निर्मल आनन्द ज्ञायक भाव आच्छादित हो गया है। ज्ञायक भाव स्वभाव की अपेक्षा तो अनादि से जैसा का तैसा ही है। पर विकल्प मे एकत्वरूप मिथ्यात्व के कारण वह सहज स्वभाव दृष्टि मे नही आता। इसलिये ज्ञायक भाव का तिरोभूत कहा है।

जैसे आँख की आड मे एक उँगली करने पर सारा समुद्र नही दिखता अत देखने वाले के लिये समुद्र तिरोभूत कहा जाता है। नजर मे नही आने से समुद्र तिरोभाव को प्राप्त है पर समुद्र तो जैसा का तैसा है। उसी प्रकार ज्ञायक भाव तो स्वभाव से पूर्णानन्द का नाथ त्रिकाली नित्यानन्द प्रभू अनन्त गुणो का पिण्ड अनादि से जैसा का तैसा ही है वह तिरोभूत नही होता पर जानने वाले की दृष्टि में मैं रागादि हू ऐसा मिथ्यात्व की आड मे ज्ञायक भाव नजर नही आता अत उसे तिरोभूत कहा जाता है।

मोक्षमार्ग मे सर्व प्रथम क्या होना चाहिये ? उसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ के न्याय के अनुसार शुद्धात्मा की श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र होते ही नही अत धर्म का प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है जिसे इस गाथा मे कहा है। जिससे बन्दूक पकडते न बने वह शत्रु के सामने आने पर क्या करेगा उसी प्रकार जिसे वर्तमान मे सत् की

रुचि विवक और सत् शास्त्र का अभ्यास नही वह मरण के समय कैसे सम भाव रखेगा जिसके प्रथम अनीति का त्याग न हो लौकिक सज्जनता न हो उसके लिये तो धर्म है ही नही।

मिथ्यात्व भाव मे जिसका सहज एक ज्ञायक भाव ढक गया है ऐसे आत्मा का अनुभव करने वाले व्यवहार से विमोहित हृदय वाले पुरुषो को आत्मा और रागादि की भिन्नता का विवक न होने से जिसमे भावो का अनेक पना प्रगट हैं ऐसे आत्मा का अनुभव करते है। अर्थात् सहज एक ज्ञायक भाव का अनुभव न करते हुए आत्मा का रागादि वाला अनुभव करने वाले मिथ्यादृष्टि है।

परन्तु भूतार्थदर्शी अर्थात् शुद्धनय से देखने वालो को आत्मा और राग की भिन्नता का विवेक होने से वे अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सम्मुख दृष्टि करने स सहज एक ज्ञायक भावपने से जिसमे एक ज्ञायकभाव प्रकाशित है ऐसा आत्मा का आविर्भाव करके प्रगट करके अनुभव करते हैं वे धम का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि है।

कीचड मिश्रित मलिनता होते हुए भी जो पहले से ही स्वच्छ जल का विश्वास करता है उसे जल की सभी मलिनता टालने की दृष्टि पहिले ही प्राप्त हुई है। मलिनता दूर करने मे कदाचित थोडा समय लगेगा परन्तु एक रूप निर्मलता प्राप्त करने की रुचि मलिनता नही रहने देगी। जब तक पुण्य पाप भाव को ही आत्मा का स्वभाव मानता है और शुभ भाव से गुण मानता हैं तब तक निमल स्वभाव पर दृष्टि नही जाती और अशुद्धता दूर करने का वास्तविक उपाय नही सूझता। बन्ध मार्ग को मोक्ष मार्ग मानकर अज्ञानी व्यवहार–व्यवहार करते हैं और व्यवहार को उपादेय मानकर उसी को पकड बठे हैं। उन्हे आचार्य देव व्यवहार मूढ कहते हैं।

जल के निमल स्वभाव की खबर न होने से अज्ञानी कीचड मिश्रित जल को मला ही मानकर मलिन जल को पीते हैं। जल का निमल स्वभाव जानने वाले तो अपने हाथ से निमल औषधि डालकर अपने पुरुषाथ द्वारा निर्मल जल का स्वाद लेते हैं। उसी प्रकार सहज ज्ञायक स्वरूप चतन्य ज्योति भगवान आत्मा अनादि से कम संयोग से ढँका होने से मलिन भासित होता है। कर्मों ने मला नही किया पर स्वय विपरीत दृष्टि से अपने को रागादि का कर्ता मानकर उन विकार भावा को अपनाता है। ऐसा मानने वाला व्यवहार मूढ है क्योकि उसे स्वभाव की खबर नहीं है। भूतार्थ दर्शी को निर्मलता का विवेक होने से अपने पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान ज्योति से शुद्धनय के

अनुसार बोध होता है जिससे निर्मल ध्र व स्वभाव का भान तथा आत्मा और कर्म की भिन्नता का ज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टि अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रकट किये गये सहज एक ज्ञायक स्वभाव का ही शुद्धनय द्वारा अनुभव करत है यही सम्यग्दर्शन हैं।

इस प्रकार जो शुद्धनय अर्थात् शुद्धनय के विषय भूत भूतार्थ त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का आश्रय करते है वे सम्यग्दृष्टि हैं। पर जो अशुद्धनय का आश्रय करते हैं वे मिथ्यादृष्टि है अत कर्म और विकार से भिन्न आत्मा को देखने वालो को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नही मात्र शुद्धनय ही अनुसरण करने योग्य हैं।

५ भूतार्थ शुद्धनय

यहाँ सम्यग्दर्शन का विषय बताया है। दो भाव हैं–एक वतमान पर्याय भाव और दूसरा त्रिकाली द्रव्य स्वभाव। वर्तमान पर्याय को जानने वाले व्यवहारनय को अभूताथ कहा है और त्रिकाली अभेद एक रूप ज्ञायक भाव को बताने वाले शुद्धनय का भूतार्थ कहा है।

यह देर से समझ मे आये तो घबराना नही धैर्य से समझने का प्रयत्न करना। पर्याय है उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है अभाव करके नही। जिसका विषय विद्यमान न हो उसे असत्यार्थ कहते हैं अर्थात् त्रिकाली द्रव्य स्वभाव मे पयाय और भद नही है। अत समस्त व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है। पर्याय और भद सर्वथा ही नही है ऐसा नही है।

जिसमे भूतकाल और भविष्यकाल का भद नही वर्तमान पर्याय भी नहा अनन्त गुणो का पिण्ड होते हुए भी जिसमे ज्ञान वह आत्मा ऐसा गुण गुणी का भेद नही ऐसा जो अभेद एकाकार रूप नित्य द्रव्य शुद्धनय का विषय है। सम्यग्दर्शन के ध्येय भूत शुद्ध ज्ञायक भाव की दृष्टि करने पर अभेद एक रूप वस्तु का ही अनुभव होता है अभद वस्तु ही दृष्टि मे आती हैं भद दृष्टि गोचर ही नही होता। अत शुद्धनय की दृष्टि मे भद को अविद्यमान असत्याथ ही कहना चाहिये। फिर भी भदरूप कोई वस्तु ही नही पर्याय सर्वथा हैं ही नही ऐसा नही समझना चाहिये। पर्याय पर्यायरूप से अवश्य है परन्तु अभद दृष्टि मे पर्याय का अभाव है। अभद की दृष्टि करने वाली पर्याय है तो भी दृष्टिरूप पर्याय जिस विषय बनाती है उस अभद ज्ञायक भाव मे तो पर्याय और भेद का सवथा अभाव ही है। दृष्टि के विषय मे पर्याय गौणरूप से भी सम्मिलित नही है। दृष्टि के विषय मे पर्याय और गुण-गुणी के भेद रहित त्रिकाली अभद एकरूप आत्मा आता है और वहां से धर्म का प्रारम्भ होता है।

पर्याय सम्यग्दर्शन का विषय नही है परन्तु विषय बनाने वाली तो पर्याय ही है। अभद एकरूप ज्ञायक भाव को अभद की दृष्टि नही करता परन्तु पर्याय को उसकी दृष्टि करना है अत पर्याय है अवश्य। यदि पर्याय को सर्वथा न मानकर असत्यार्थ माना जाये तो वेदान्त मतानुसार मान्यता हो जाती है। वेदान्त मत वाले भदरूप अनित्य को, पर्याय को माया स्वरूप कह

कर सवथा अभाव स्वरूप कहते हैं और सव व्यापक एक अभद शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं। यहा पर्याय को असत्याथ करने का ऐसा प्रयोजन नही है। पर्याय का सर्वथा अभाव मानने से वेदान्तमत के समान सवथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यात्व का प्रसग आता है। कथचित् अशुद्धनय को स्वीकार न करके सर्वथा एकान्त शुद्धनय का पक्ष करने वाला मिथ्यादृष्टि ही है

यहा ऐसा समझना कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है प्रयोजन वश नय को मुख्य गौण करके कहने वाली है। अत जिस अपेक्षा स कहा गया हो उस अपेक्षा स समझना चाहिये। नित्य का सत्यार्थ और अनित्य को असत्यार्थ कहा यह कथन स्याद्वाद शली स किया है। जिनवाणी स्याद्वाद रूप हाने स जन्म मरण का अन्त करने वाल सम्यग्दर्शन के प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य कहकर निश्चय कहकर सत्याथ कहती हैं तथा व्यवहारनय को गौण कहके असत्यार्थ कहती हैं।

जस जगत् मे अन्य पदाथ हात हुए भी अपने से विभिन्न होने से वे असत्यार्थ कहे जाते है। तो भी वे पदाथ सवथा असत् नही है। पदार्थ अपने स्वरूप से सत् ही हैं। परन्तु इस जीव मे वे नहीं इस अपेक्षा वे असत् कहलाते हैं। उसी प्रकार सत् के त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवभाव और वर्तमान अश ऐसे दो भेद अवश्य है परन्तु सम्यग्दशनरूपी साध्य की सिद्धि के प्रयाजनवश त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक अश मे वर्तमान पर्याय अश न होने स त्रिकाली ज्ञायक भाव को मुख्य करके सत्यार्थ कहा हैं। और वर्तमान अश को गौण करके असत्यार्थ कहा है।

अनादि से दु ख के मार्ग मे चलते हुए जीव को वहा से छुडाकर सुख के लिए उसे मुख्य करके सत्याथ कहते हैं और दुखमय परिभ्रमण का हेतु अनादि कालीन पर्याय बुद्धि छुडाने के लिये पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा हैं। इस प्रकार जिनवाणी प्रयोजनवश नय को मुख्य गौण करके कहती हैं।

जीव को व्यवहार का पक्ष तो अनादि से है ही और सर्वप्राणी परस्पर बहुधा व्यवहार का ही उपदेश करते हैं तथा शास्त्रो मे भी उसे शुद्धनय का हस्तावलम्ब सहायक निमित्त जानकर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है परन्तु इस समस्त व्यवहार का फल ससार ही हैं। शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष हैं परन्तु शुद्धनय का पक्ष जीव को कभी आया नहीं। मैं त्रिकाली चतन्य सत्तामात्र हू ऐसा स्वीकार इसने कभी किया नही। ऐसा स्वीकार करे तो जन्म मरण का अन्त आये बिना रहे नहीं—

अनादि से शुद्धनय के यथार्थ पक्ष बिन अनन्त बार द्रव्यलिंगी साधु

होकर उसके फल मे अनन्तबार नव मे ग्रवेयक भी गया पर ध्रुव आत्म स्वभाव के आश्रय बिना शुभ क्रिया के फल मे ही अनादि से दुख करता रहा है। अशुभ के फल मे तो दुखी है ही पर ध्रुव स्वभाव के आश्रय के अभाव से शुभ के फलो मे भी अनन्तकाल से दुखी हैं।

अशुभ भाव छेदने के लिये शुभ करने का निषेध नही है। प्रथम भूमिका मे भी साधारण सज्जनता का आचरण ब्रह्मचर्य की प्रीति अनीति का त्याग सत्य का आदर तो होते ही हैं परन्तु वह अपूर्व नही। ऐसा चित्त शुद्ध तो अनन्तबार करके उसी मे सर्वस्व मानकर जीव अटक गया है। तो भी शुभ का निषेध नही है। क्योकि जो तीव्र क्रोध मान माया लोभ मे खडा है उसे बिल्कुल अविकारी सच्चिदानन्द भगवान आत्मा की बात कैसे रुचेगी। अत अविरोध तत्व समझने की प्रथम पात्रता के लिये शुभ भाव के आगन मे आना चाहिये परन्तु शुभ मे ही अटक कर शुभ से निरपेक्ष निर्मल अविकारी स्वभाव की श्रद्धा न करे तो चित्तशुद्धि के शुभ व्यवहार का फल तो ससार ही है। शुद्धनय का उपदेश भी विरल है। दिगम्बर जन धर्म के सिवाय शुद्धनय का उपदेश अन्य कही भी नही है। पर दिगम्बर जन शास्त्रो मे भी बहुधा व्यवहारनय का उपदेश किया है क्योकि व्यवहारजनो को व्यवहार के उपदेश बिना परमार्थ कसे समझायें अत व्यवहार का उपदेश बहुत किया है तो भी व्यवहार को सत्यार्थ जानकर उसका अवलम्बन करने का फल तो संसार ही है।

इस प्रकार शुद्धनय का पक्ष कभी न आया होने से उसका उपदेश भी कही-कही होने से तथा शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष होने से यहा श्री आचार्य ने उसकी मुख्यता से उपदेश दिया है। उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। द्रव्य दृष्टि का विषय निर्मल पर्याय सहित त्रिकाली ज्ञायक भाव ही हैं। उसकी दृष्टि बिना जीव जब तक व्यवहार में वर्तमान प्रकट आनन्द वगैरह जो अनन्त गुण हैं उनको भली प्रकार पहिचान कर वही एकाग्र होवे तो साध्य की प्रगट प्राप्ति होती है।

जितने अर्हन्त भगवान हुए हैं वे ऐसे एकाग्र ध्यान द्वारा प्रगट शुद्धता को प्राप्त हुए हैं। अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्य ये अनन्त चतुष्टय तेरहवें गुण स्थान मे एक साथ प्रगट होते हैं और निमित्त मे चार घातिकर्म के अभाव मे होते है। शक्ति पूर्ण थी वह अन्दर अभेद थी वह प्रगट हुई। वह श्रद्धा ज्ञान आचरणरूप एकाग्रता से ही प्रगट होती हैं। ऐसा पुरुषार्थ भी बताया है और प्रगट हुई पूर्ण दशा अन्दर से नई-नई उत्पन्न हुई सदा आत्मा के साथ रहती है प्रत्येक आत्मा ऐसा परिपूर्ण स्वभावी है।

इस प्रकार ऐसी आत्मा को पूर्णज्ञान स्वभावी पहिचानकर उसमे एकाग्र होकर जो केवल ज्ञान प्रगट होता है वह एक समय मे सर्व द्रव्य क्षत्र काल भाव को वगैर इच्छा के जाना करता है और सर्व प्रकार से उपादेयरूप ग्रहण करने योग्य हैं।

यहाँराग–अवस्था मे खण्ड-खण्ड होता ज्ञान भी अनेक तिथिवार और अनेक वर्ष के सूर्य ग्रहण चन्द्रग्रहण की बातें जानता हैं तब इच्छा और अज्ञान सर्वथा दूर कर अन्दर एक स्वद्रव्य स्वभाव से जो केवल ज्ञान प्रगट होता है वह एक समय में सर्व प्रकार से त्रिकालवर्ती पर्याय सहित सबको (सम्पूर्ण पदार्थों को) जानता है तो क्या आश्चर्य है क्योंकि ज्ञानगुण की पूर्ण पर्याय का ऐसा सामर्थ्य है इससे वह केवल ज्ञान सर्व प्रकार से उपादेय है।

यहा उपयोग का अधिकार है इसलिये केवल ज्ञान उपादेय है ऐसा कहा है लेकिन जहा शुद्धद्रव्य दृष्टि की बात हो वहा त्रिकाली ध्रुव परम पारिणामिक शुद्ध द्रव्य स्वभाव ही आदरणीय है ऐसा कहने में आता है। वहा पर्याय गौण रहती हैं। यहा उपयोग मे केवल ज्ञानरूप जो पूण पर्याय प्रगट हुई वह आत्मा के साथ नित्य रहने वाली है इसलिये वह आदरणीय है। अपूर्णदशा आदरणीय नही है ऐसा समझना। अश मे मग्न रहेगा तब तक उसकी पर्याय दृष्टि नही छुटेगी और उसे निश्चय सम्यग्दर्शन नही होगा।

यह बात समझने योग्य है। यह बात बार बार सुनने को भी मिलना दुर्लभ है। समझने मे स्वय की तैयारी होनी चाहिये। जसे शक्कर शब्द सुनने से या किसी को शक्कर खाते हुए देखने से उसका स्वाद नही आ सकता पर स्वय शक्कर लेकर मुख मे रखकर चखने से शक्कर का स्वाद यथार्थ लक्ष मे आता है उसी प्रकार भगवान आत्मा की बात सुनने या उसका अनुभव करने वाले ज्ञानियो को देखने से स्वभाव का निराकुल सहज आनन्द नही आ सकता पर सत्समागम से स्वयं निर्णय करके नित्य असयोगी पूण स्वरूप को ज्ञान मे दृढ करके अन्दर मे स्वआश्रय करके शुद्धनय से अभेद स्वभाव का अनुभव करके विकल्प रहित एकाकार शुद्धात्म स्वरूप के आनन्द का स्वाद अनुभव मे आता है। इस बात का खास श्रवणमनन करना चाहिये परमार्थ निर्मल वस्तु का निरन्तर बहुमान होना चाहिये। उसकी दरकार और पुरुषार्थ के बिना अपूर्व फल नहीं आता।

—:०:—

६ जैन शासन

जो पस्सदि अप्पाण अबद्ध पुट्ठम् अणण्णमविसेस ।
अपदेस सतमज्झ पस्सदि जिणसासण सव्व ॥१५॥

अर्थ—कैसा आत्मा को जानने से शासन को जाना कहा जाता है ?

कर्मबन्धन तथा परके सम्बन्ध से रहित जो एक रूप आत्म स्वभाव उसे जान लेने से जैन शासन को जाना कहा जाता है। पर के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से आत्मा को जाने तो उसमे सच्चा जिन शासन नही आता। जिन शासन का सार जिन शासन का हार्द यह है कि आत्मा का पर के सम्बन्ध रहित भाव श्रुतज्ञान से अनुभव करें। ऐसा आत्मा का जो अनुभव है वहा जन शासन है।

जा जीव आत्मा को अबद्ध स्पष्ट अनन्य नियत अविशेष तथा उप लक्षण से नियत और असयुक्त देखता है वह द्रव्यभाव श्रतरूप समस्त जिनागम के रहस्य को जानता है। १ म अबद्ध हू बधा हुआ नही पर से छुआ हुआ नही २ मे अन्य-अन्य जो सयोगी पर्याय है मे नही ३ राग द्वेष में एकरूप नियत हू फलने वाली पर्याय रहित हू ४ दर्शनज्ञान चारित्र आदि के जा गुण पर्याय के भेद हैं उनसे रहित हू ५. रागद्वेष की सयुक्तता से रहित हू इसलिये असयुक्त हू।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि अरे आत्मा भावश्रुत को अन्तरामुख करके अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव कर वही सर्व जिनशासन का सार है तथा वही दिव्य ध्वनि का सार है। जिनशासन मे सर्वज्ञदेव कथित जो द्रव्यश्रुत हैं उसका सार क्या है ? तो कहते हैं कि शुद्ध आत्मा का श्रुतज्ञान से अनुभव करना ही सर्व द्रव्यश्रुत का सार है। इसलिये जिसने शुद्ध आत्मा का अनुभव किया उसने जिन शासन का सर्व द्रव्यश्रुत जान लिया और जिसने भावश्रुत से अपने शुद्ध आत्मा को नहीं जाना उसने जिनशासन का द्रव्यश्रुत भी वास्तव मे नहीं जाना है। अनन्त शास्त्र पढे महाव्रत धारण करके द्रव्य लिंगी भी अनन्तबार हुआ किन्तु श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मा को नहीं जाना इसलिये उसका हित नहीं हुआ उसने वास्तव में जैन शासन को नही जाना है। निश्चय स्वभाव के अनुभव बिना मात्र व्यवहार को जानने में रुके तो उसे जैन शासन का पता नहीं चलता। अपने को अबद्ध स्पर्शी

आत्म निर्णय भी होता है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान ऐसा अन्धा नही है कि स्वय को अपनी खबर न पडे। सम्यग्ज्ञान होते ही नि शकरूप से स्वय को उसकी खबर पडती है। जिसे अपने ज्ञान मे सन्देह है हमे सम्यग्दर्शन होगा या नही— ऐसी जिसे शका हैं वह भले ही बाह्य मे त्यागी हो तथापि वह साधु नही है वह धर्मी नही हैं वह व्रताश्रावक नही हैं पण्डित नही हैं। अभी तो आत्मा का ज्ञान हुआ है या नही—इसमे भी जिसे शका हैं उस जीव को एक भी धर्म नही हैं। क्योकि जन शासन का सार तो यह है कि अपने शुद्ध आत्मा को शुद्धनय द्वारा जानना। ऐसे आत्मज्ञान के बिना अन्य चाहे जो करे किन्तु वह कोई सच्चा उपाय नही है। सच्चा उपाय जाने बिना अभी तक अन्य सब कुछ अनन्तबार किया। क्या क्या किया तो कहते हैं।

कि' यम नियम संयम आप कियो पुनि त्याग विराग अथार्म लह्यो ॥
वनवास रह्यो मुख मौन रहो हठ आसन पद्म लगाय दियो ॥
सग शास्त्रन के नय धारि हिये मत मण्डन खण्डन भेद किये
वह साधन बार अनन्त कियो तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यो न विचारत है मन मे कछु ओर रहा उन साधन से
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे मुख आगल हैं कह बात कर।

अरे जीव विचार तो कर कि यह सब अभी तक किया तथापि किंचित् सुख शान्ति या धर्म तेरे हाथ मे नही आया तुझे अभी आत्मा की नि शंकता नही हुई जैन शासन क्या है उसे तू अभी तक नही समझा उसमे कौन सा वास्तविक साधन रह गया। यह बात यहा आचार्य भगवान बतलाते हैं कि भावश्रुत को अन्तरोन्मुख करके तू अपने शुद्ध आत्मा को जान।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

इसलिये हे भाई! तू पहली ही बार यह जान कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान क्या वस्तु है तथा किस प्रकार उसकी प्राप्ति होती है। तुझे अपने आत्मा की शान्ति या सम्यग्दर्शन के लिये विकार व्यर्थ हैं तूने अनन्तबार शुभभाव किये किन्तु उससे तुझे सम्यग्दर्शन नही हुआ क्योकि शुभराग सम्यग्दर्शन का उपाय ही है सम्यग्दशन का उपाय तो यह है कि परके सम्बन्ध रहित अपने एकरूप शुद्ध आत्मा को भावश्रुतज्ञान द्वारा स्वानुभव मे लेना चाहिये। अकेले गुरु के शब्दो से भी ऐसा स्वानुभव नही होता किन्तु अपने भावश्रु त ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने से ही आत्मा का स्वानुभव होता है और ऐसा स्वानुभव करना ही जिनशासन है।

जिसे स्वानुभव हो उसे अन्तर से ही निःशंकता आ जाती है कि अब मैंने जिनशासन का हार्द जान लिया है मुझे आत्मा का सम्यग्दर्शन हो गया है। उस सम्यग्दृष्टि के अन्तर में सर्व आगम का रहस्य वर्तता है। जिनशासन वीतराग का उपदेश देता है और वीतराग स्वानुभव से होती है अर्थात् ज्ञान का स्व की ओर झुकाव होने से वीतरागता होती है वही जैन शासन है। अन्तर्मुख भावश्रुत से अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है ऐसा अनुभव करने वाली श्रुतज्ञान पर्याय आत्मा के साथ अभेद हो चुकी है इसलिये उसी को आत्मा कहा है और उसको जिनशासन कहा है। प्रथम ऐसी यथार्थ समझ का प्रयत्न करना चाहिये।

७ रत्नत्रय प्राप्ति क्रम

जह णाम को वि पुरिसो रायाण जाणिऊण सद्दहदि ।
तो त अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥

एव हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

अर्थ—जैसे धनका अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है तदन्तर प्रयत्न द्वारा उसके अनुकूल आचरण करता है ऐसे ही मोक्ष की कामना रखने वाले पुरुष को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये तदन्तर उसकी श्रद्धा करना चाहिये और तत्पश्चात उसी के अनुकूल आचरण करना चाहिये। जो तीन रूपता को प्राप्त होकर भी एक रूपता से च्युत नही है जो सदा उदय रूप है स्वच्छ है तथा अनन्त अविनाशी चतन्य ही जिसका लक्षण है ऐसी इस आत्म ज्योति का हम सदाकाल अनुभव करते है क्योकि अन्य प्रकार स साध्य सिद्धि नही हो सकती। यद्यपि भेदहष्टि से आत्मा सम्यग्दशन ज्ञान और चारित्र गुणो के द्वारा त्रित्व को प्राप्त हो रहा है तीन रूप अनुभव मे आ रहा है तथापि अभेदहष्टि से वह एक रूप ही है। यह आत्मा यद्यपि अनादि कालीन उपाधि मे मलिन दिख रहा है तो भी स्वभाव से मलिन नही है उपाधि के पृथक होने पर स्वच्छ ही है। ऐसे अनन्त चतन्य लक्षण से शोभित आत्मा के अनुभव से ही मोक्षरूपी साध्य की सिद्धि होती है।

हे मोक्षार्थी जीवो पहली बार मे ही तुम शुद्ध आत्मा को जानो। पहले व्यवहार करते करते फिर आत्मा का ज्ञान हो जायेगा—ऐसा नही है यानी पहले व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नही है। शुभराग रूप व्यवहार तो पराश्रित है और वह पुण्य बन्ध का कारण है अर्थात् वह बन्ध का ही कारण है किन्तु मोक्ष का कारण वीतराग भाव हैं और जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्ग है वह आत्माश्रित हैं वह बन्ध का कारण नही है। मोक्षमार्ग तो वीतराग हैं और वह मोक्ष का ही कारण है। मोक्षमार्ग से पुण्य बन्ध नही होता। यदि मोक्षमार्ग से भी कर्म बन्धन हो तो उसका छुटकारा काहे से होगा। मोक्षमार्ग कहो या धर्म कहो उससे बन्धन नही होता। मोक्षमार्ग के फलस्वरूप बाह्य सयोगो की प्राप्ति नही होती किन्तु असयोगी चैतन्य स्वभाव। सयोग कही जीव को शरणरूप नही हाते स्वभाव ही शरणभूत

होता है । मृत्युकाल मे कोई करोडो रुपयो का ढर लगाकर प्रार्थना कर कि—हे पैसा अब तुम्ही मुझे शरणभूत हो, तो क्या पैसा का ढर उसे शरण देगा। नही वह तो जड हैं कोई भी बाह्य संयोग जीव को शरणभूत नही होता अपना स्वभाव ही शरणभूत है । यदि संयोग दृष्टि छोडकर अन्तर के चिदानन्द स्वभाव ही शरणभूत है । यदि संयोग दृष्टि छोडकर अन्तर के चिदानन्द स्वभाव के निकट जाकर उसकी सेवा (श्रद्धा-ज्ञान रमणता) करे तो वह शरण भूत होकर जीव को अतीन्द्रिय शान्ति प्रदान करता है ।

बनवास के समय का सीताजी का दृष्टान्त

बनवास के समय सीताजी को बाह्य मे राम का वियोग हुआ था किन्तु अन्तर मे आतम राम का वियोग नही हुआ था । वनवास के समय भी उन्हे नि.शकरूप से भान था कि मुझे अपने चिदानन्द स्वभाव का ही आधार है यह जगल अथवा सिंह बाघ की गर्जनायें कोई सयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुडाने मे समर्थ नही है । ऊपर आकाश है और नीचे धरती कोई अपना नही । तथापि मैं अशरण नही हू अन्तर मे मेरा चिदानन्द स्वभाव ही मुझे शरणभूत है । राजमहल मुझे शरणभूत थे और यह जङ्गल अशरण हैं ऐसा नही हैं । सारा जगत ही मेरे लिये अशरण हैं । मेरा आत्मा ही मुझे उत्तम मङ्गल और शरणभूत हैं ।

इस प्रकार मोक्षार्थी जीव जानता है कि अहो मेरा शुद्ध आत्मा ही मुझे शरण है मैं उसी का आदर करता हू । बाह्य भावो का अनन्तकाल तक सेवन किया अब उनका आदर छोडकर मैं अपने अनतर स्वभावो मुख होता हू शुद्ध आत्मा मे ढलकर उसका आदर करता हू उसी को नमस्कार करता हू । देखो यह मोक्षार्थी जीव का कर्तव्य । यही सम्यग्दर्शन की रीति है और इसी रीति मे मोक्षार्थी जीव मोक्ष प्राप्त करता है ।

८ भेद विज्ञान

भेद विज्ञानत सिद्धा सिद्धाये किल केचन ।
अस्यवा भावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञान मे सिद्ध हुए है और जो कोई बधे हैं वे उसी के अभाव से बधे हैं ।

भेद विज्ञान से शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है । राग से भिन्न शुद्ध आत्मा भेद विज्ञान द्वारा प्राप्त होता है किन्तु व्यवहार रत्नत्रय से उसकी प्राप्ति नही होती इसलिये भेद विज्ञान की भावना अत्यन्त भाने योग्य हैं यही करने योग्य हैं और इसके द्वारा आत्मा का आस्वादन करने योग्य हैं । संसार के भोग विलास मे तो राग का स्वाद आता है फिर भी पर—पदार्थ का आस्वाद तो किसी जीव को हो ही नही सकता । भेद विज्ञान द्वारा आत्मा के आनन्द का स्वाद लेना बस यही करने योग्य हैं ।

यह भेद विज्ञान की धारा ज्ञानी के अखण्ड सतत रहा ही करती है । राग होने पर भी भेद विज्ञान की धारा अन्तर मे निरन्तर चालू ही है । जब तक ज्ञान ज्ञान मे सर्वथा स्थिर न हो जाय ठहर न जाय तब भेद विज्ञान निरन्तर भाने योग्य है ।

ज्ञान की ज्ञान मे स्थिरता दो प्रकार से है । एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर ज्ञान का ज्ञान मे ठहरना तथा दूसरा राग का सवथा अभाव होकर ज्ञान का ज्ञान मे ठहरना । यह दोनो प्रकार की स्थिरताये जब तक पूर्ण न हो तब तक ज्ञान की भावना निरन्तर धारा प्रवाहरूप से भाना योग्य हैं ।

आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब इसी भेद विज्ञान के प्रताप से ही सिद्ध हुए हैं वर्तमान मे जो हो रहे हैं और भविष्य मे भी जितने जीव मुक्त होगे वे सभी भेद विज्ञान के प्रताप से ही होगे । यहा व्यवहार रत्नत्रय से सिद्ध होते है ऐसा नही कहा अपितु यह कहा कि व्यवहार रत्नत्रय का जो शुभ राग है उससे भी भेद विज्ञान करके सिद्ध दशा प्राप्त होती है । जिससे भेद करना है उससे सिद्ध पद कसे मिल सकता है अत राग रहित भेद विज्ञान से ही मुक्ति होती हैं ।

एक स्त्री की अन्धेरे मे सुई खो गई और वह स्त्री किसी अन्य के कहने

स उमे उजाले मे ढ ढने लगी। किन्तु उजाले मे कहा से मिलती। खोई तो अधेरे म थी। इस भाति राग की एकता म आत्मा अनादि से खो गया है उसे यदि राग से भिन्न होकर दखे तो ही भेद विज्ञान द्वारा हाथ मे आ सकता है।

जीव को बन्धन कसे होता है और मुक्ति कसे हो यह बात यहा बहुत संक्षेप मे कह दी है। जो कोई जीव बधे हैं वे सभी इस भेद विज्ञान क अभाव से ही बधे हैं। कम के उदय से जीव बँधे हैं ऐसा यहाँ नही कहा। जीव की हीन दशा होती है वह स्वय अपने द्वारा ही की गई। कर्मों ने हीन दशा नही नही की है। शास्त्र मे जो कम द्वारा होने की बात लिखी है वह तो मात्र निमित्त का कथन है।

अहो गजब की बात की है। किन्तु इस जीव को ससार की अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति मिलती नही। इससे कदाचित निवृत्ति मिले तो शुभ भाव मे आवे परन्तु शुभ भाव से भी मैं भिन्न हू यह बात सुनने को मिलना भी बहुत दुर्लभ है।

निगोद के जीव भी भेद विज्ञान के अभाव से ही बधे हैं कर्म के जोर से नही बधे हैं भाव कलक की प्रचुरता के कारण ही निगोद के जीव बधे हैं। नित्य निगोद के जीव भी भेद विज्ञान के अभाव के कारण ही बधे है। कर्मो दय के कारण जीव बन्धन का प्राप्त होते हैं यह बात ही उड जाती है। बन्ध का कारण तो मात्र राग मे एकता बुद्धि ही है। इस एक श्लोक मे बहुत कुछ रहस्य भरा है। बात तो केवल इतनी सी है कि आश्रव भाव मे एकत्व बुद्धि से जीव बन्धन का प्राप्त होता है और आश्रव भाव मे भेद बुद्धि से जीव मुक्त होता है। अनादि से जीव को भेद ज्ञान नही है। आश्रव का यथार्थ ज्ञान भी उसको कहा जाय कि जो ज्ञान आश्रव से भिन्न पड गया हो भिन्न पडने पर ही आश्रव का सच्चा ज्ञान होता है। आश्रव मेरे मे नही है। ऐसा नास्ति का ज्ञान भी अस्ति स्वरूप के ज्ञान बिना नही होता।

अनादि काल से भेद ज्ञान नही हुआ इसलिये जीव बधा हुआ है ऐसा यहाँ कहा किन्तु अनादिकाल व्यवहार नही किया इसलिये जीव बन्धन म है ऐसा यहा नही कहा। दया दान व्रत तपादि के शुभ भाव हो किन्तु उन शुभ भावो से भी मैं भिन्न हू ऐसा भेद ज्ञान करे तो उस भेद ज्ञान से जीव मुक्त होता है। जिसने राग से भिन्न होने का पुरुषार्थ किया और स्व के आश्रय मे गया वह जीव कम से छूटता ही है। यहा मोक्ष का प्रथम कारण भेद विज्ञान है ऐसा कहा परन्तु प्रथम व्यवहार और पश्चात् भेद बिज्ञान हो ऐसा नही

कहा । भेद विज्ञान अर्थात् स्व का आश्रय और वही मुक्ति का कारण है । प्रथम तो राग मे भेद ज्ञान करना वहप्रथम दर्शन शुद्धि है । पश्चात् राग छोडकर स्वरूप म स्थिरता करना वह चारित्र का पुरुषाथ है । राग से भि न होने का अभ्यास करके भेद विनान प्रगट करना ही धम का प्रथम सोपान हैं ।

अथ—भेद ज्ञान की प्राप्ति से शुद्ध आत्म तत्व की उपलब्धि हुई शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि से राग समूह का प्रलय हुआ और राग समूह के प्रलय से कर्मों का सवर हुआ तथा कर्मों के सवर से यह ऐसा ज्ञान प्रगट हुआ जो कि परम सन्तोष को धारण कर रहा है निमल प्रकाश से सहित है कभी ग्लान नही होता है एक है ज्ञान मे स्थिर रहता है और नित्य ही उद्योतरूप रहता है । (भावार्थ) अनादिकाल से यह जीव अज्ञानवश नाना प्रकार के दुखा से आकीर्ण ससार मे भ्रमता हुआ आकुलता का पात्र रहता है । परन्तु जब इस जीव का ससार अल्प रह जाता है तब पहले इसे अज्ञान का अभाव होने म स्व पर का भदज्ञान होता है तदनन्तर उसी का निरन्तर अभ्यास करता है पश्चात् उस दृढ अभ्यास की सामर्थ्य से शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है अनन्तर उस शुद्ध आत्मा के बल से रागादिक रूप विभाव भावो के समुदाय का नाश हो जाता है और रागादिका के नाश से कर्मों का बध न होकर सवर होता है । तदनन्दर परम सन्तोष को धारण करने वाले ऐसे ज्ञान का उदय होता है । जिसका प्रकाश अत्यन्त निर्मल है जो अम्लान है एक है ज्ञान मे स्थिर है और नित्य उद्योत से सहित है अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान मे यह सब विशेषताय नही थी जो अब केवल ज्ञान मे प्रगट हुई है ।

६ ज्ञान चारित्र

येन न चीण तपश्चरण निमल चित्त कृत्वा ।
आत्मा बचित तेज पर मनुष्य जन्म लब्धवा ।।२६५।।

अथ आगे जिसने चित्त की शुद्धता करके तपश्चरण नही किया उसने अपना आत्मा ठग लिया यह अभिप्राय मन मे रखकर व्याख्यान करते हैं। जिस जीव ने बाह्याभ्यन्तर तप नही किया महा निमल चित्त न करके उसने मनुष्य को पाकर केवल अपना आत्मा ठग लिया ।

आगे इस भूमि की प्राप्ति कैसे होती है यह कहते हैं ।

महान दुर्लभ इस मनुष्य देह को पाकर जिसने विषय कषाय सेवन किये और क्रोधादि रहित वीतराग चिदानन्द सुखरूपी अमृत प्राप्त कर अपना निमल चित्त करके अनशनादि तप न किया वह आत्मघाती है अपने आत्मा को ठगने वाला है । एकेंद्री पर्याय से विकल त्रय होना दुलभ है । विकल त्रय से असेनी पचेन्द्री होना असेनी पचेन्द्री से सनी होना सेनी तिर्यंच से मनुष्य होना दुलभ है । मनुष्य मे भी आर्य क्षेत्र उत्तम कुल आयु सतसग धर्म श्रवण धर्म का धारण और उसे जन्म पर्यन्त निवाहना ये सब बाते दुलभ हैं । सब मे दुलभ (कठिन) आत्मज्ञान है जिससे चित्त शुद्ध होता है । ऐसा महादुर्लभ मनुष्य देह पाकर तपश्चरण अगीकार करक निर्विकल्प समाधि के बल से रागादि का त्याग कर परिणाम निर्मल करने चाहिये । जिन्होने चित्त को निर्मल नही किया वे आत्मा को ठगने वाले है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि चित्त के बधने से यह जीव कर्मों से बधता है । जिनका चित्त धन धान्यादि स आसक्त हुआ वे ही कम बन्ध से बधते है और जिनका चित परिग्रह स छूटा आशा (तृष्णा) से अलग हुआ वही मुक्त हुए । इसमें सन्देह नही है । यह आत्मा मिमल स्वभाव है सो चित्त के मले होने से मला होता है ।

ये ज्ञान मात्र निज भाव मयीम कम्पा
भूमि श्रयन्ति कथमप्यपनीत मोहा ।
ते साधक त्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ।।२६६।।

अथ—जिसका किसी तरह माह (मिथ्यात्व) नष्ट हो गया है ऐसे जो सत्पुरुष ज्ञान मात्र निज भावरूप निश्चल भूमि का आश्रय करते हैं वे साधकपन को प्राप्त कर सिद्ध होते हैं और जो मूढ मिथ्यादृष्टि वे इस भूमि को न पाकर परिभ्रमण करते है। (भावार्थ) स्वभाव से अथवा परके उपदेश आदि से जिनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है ऐस जो जीव इस ज्ञानमात्र भूमि को प्राप्त करते हैं वे साधक अवस्था को प्राप्त होकर अन्त मे सिद्ध होते है और इनके विपरीत मिथ्यादृष्टि जीव इस भूमि को न पाकर चतुर्गति ससार मे जन्म मरण करत हुए निरन्तर घूमते रहते हैं।२६५।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसयमाभ्या
यो भावयत्यहरह स्वमिहोपयुक्त ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमत्री–
पात्रीकृत श्रयति भूमिमिमा स एक ।२६७।

अथ—जो स्याद्वाद की कुशलता तथा अत्यन्त निश्चल सयम के द्वारा निरन्तर इसी ओर उपयोग लगाता हुआ अपने ज्ञानरूप आत्मा की भावना करता है आत्मा का चिन्तन करता है वही एक ज्ञान नय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मित्रता का पात्र हुआ इस ज्ञानमयी भूमि का प्राप्त हाता है। (भाषाथ) जो पुरुषमात्र ज्ञान नय को स्वीकार कर क्रियानय को छोड देता है अर्थात् चरणानुयोग की पद्धति म चारित्र का पालन नही करता वह स्वच्छन्द इस ज्ञानमयी भूमि का नही पाता और जो क्रिया नय को ही स्वीकार कर मात्र बाह्य आचरण म लीन रहता है तथा आस्रव और बन्ध आदि के योग्य भावो के परिज्ञान स रहित होता है वह भी इस भूमि का नही प्राप्त करता। किन्तु जो इन दोनो नयो को अगीकार कर ज्ञानपूर्वक सम्यक चारित्र का पालन करता है वही इस भूमि को प्राप्त हाता है।

भेद विज्ञानी निश्चय भासो

मोक्ष प्रकाशक छठा अधिकार पृष्ठ २६४ पर कहा है बहुरि इस अनुक्रम का उलघन करि जाकं देवादिक मानने का तो किछू ठीक नाही अर बुद्धि की तीव्रताते तत्त्व विचारादिक विष प्रवत है तात आपको ज्ञानी जानै है अथवा तत्त्व विचार विष भी उपयोग न लगाव हैं आपा पर का भेद विज्ञानी हुआ हे है अथवा आया पर का भी ठीक न कर हैं अर आपको आत्मा ज्ञानी मान है सो ए सर्व चतुराई की बाते है मानादिक कषाय के साधन हैं किछू भी कार्यकारी नही।

गाथा—जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिट्ठो ।
दस पुव्विस्स य भावो ण कि पुण णिम्मलो जादो ।।३१।।

अर्थ—यदि विद्वान शील के बिना मात्र ज्ञान से भाव को शुद्ध हुआ कहते है तो दस पूर्व के पाठी रुद्र का भाव निर्मल शुद्ध क्यो नही हो गया ।

भावार्थ—मात्र ज्ञान से भाव की निर्मलता नही होती । भाव की निर्मलता के लिये राग द्वेष और मोह के अभाव से भाव की जो निर्मलता होती है वही शील कहलाती है । इस शील से ही जीव का कल्याण होता है ।

१० भेद विज्ञानसार

सत्थ णाण ण हवई जह्मा सत्थ ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्ण णाण अण्ण सत्थ जिणा विंति ।।३६०।।

सद्दो णाण ण हवई जह्मा सद्दो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णणाण अण्ण सद्द जिणाविंति ।।३६१।।

अथ–ज्ञान यदि आत्मा का आश्रय करे तो धम है। पर का आश्रय करे तो अधम है ।

भावाथ–आत्मा की जो अवस्था वर्णादि (पर) का आश्रय कर उसम रागादि के साथ एकता होती है वह अधम है और यदि एकरूप द्रव्य स्वभाव का आश्रय करे तो रागादि के साथ एकता टूटकर स्वभाव मे अभेदता होती है–धम होता है और अधम दूर होता है ।

जसे बाजार म किसी दुकान पर बडा दपण लगा हो और माग पर से आने जाने वाली सवारी गाडिया मनुष्य कपडे उसमे दिखाई देते है प्रतिबिम्ब दिखाई दते है तो वहा कभी वह दपण पदार्थो की ओर नही जाता और न पदाथ उसमे प्रविष्ट हो जाते है । उसी प्रकार ज्ञान सामथ्य ऐसा है कि उसम पर वस्तुय ज्ञात होती है परन्तु वास्तव मे तो वसा ज्ञान की ही योग्यता है । पदार्थो के कारण ज्ञान नही है और पदाथ ज्ञान म प्रविष्ट नही हो जाते । ऐसा होने पर भी जो ज्ञान अपने स्वभाव का आश्रय न करके वर्णादि का आश्रय करता है वह मिथ्या है अचेतन है ।

पर से भिन्न ज्ञान स्वभाव के अनुभवन का उपाय

वर्ण और ज्ञान का पृथक्त्व है ऐसा कहते ही वर्ण वणरूप है ऐसा सिद्ध होता है इस जगत मे सब ब्रह्म स्वरूप है ऐसा नही है । और जो भाति भाति के रग आदि दिखाई देते है वे भ्रमरूप नही परन्तु सत है जगत के पदाथ है और ज्ञान स्वभावी आत्मा भी स्वतन्त्र पदाथ है । रग है इसलिये ज्ञान है— ऐसा नही है ज्ञान आत्माश्रित है और वण पुद्गलाश्रित है । इस प्रकार ज्ञान की और वण कोस्पष्टतया भिन्नता है । वण से भिन्न ज्ञान स्वभाव के अनुभवन का उपाय यहहै कि ज्ञान का लक्ष वण की ओर से छोडकर त्रिकाली स्वभाव की रुचि

करके उस स्वभाव की ओर उन्मुख करना चाहिये। जो ज्ञान संयोगो की पर पदार्थों की ओर ही देखता रहता है वह ज्ञान आत्म स्वभाव को नही जान सकता। परन्तु सर्व संयोगो की ओर से लक्ष हटाकर एक स्वभाव की ओर ही एकाग्र होने से सम्यक ज्ञान होता है। वास्तव मे तो अपने परिपूर्ण स्वभाव को लक्ष मे लेकर ज्ञान उसमे स्थिर हो वहा बाह्य संयोगो का लक्ष नही छोडना पडता किन्तु वह स्वयमेव छुट जाता है।

कौनसा ज्ञान आत्मा को जानता है–

अस्ति स्वभाव से आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है और नास्ति से शास्त्र के अक्षर रूप रग आदि से आत्मा पृथक है। वर्णादि मे आत्मा की नास्ति है इससे उन वर्णादि क लक्ष से होने वाला ज्ञान भी वास्तव मे आत्मा का स्वरूप नही है। आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान कार्य करता है उसे आत्मा का स्वरूप कहा जाता है। आत्मा का स्वभाव आत्मा की रीति से आत्मा के लक्ष से समझना चाहे तो समझ मे आता है। आत्मा होकर आत्मा को समझना चाहे तो वह समझ मे आता है किन्तु अपने को निबल जड के आश्रित माने तो आत्मा समझ मे नही आता। आत्मा को जो ज्ञान पर लक्ष से काय करता है वह ज्ञान आत्म स्वभाव के साथ एकता नही करता इससे वह ज्ञान आत्मा का नही जानता। ज्ञानी की वर्तमान पर्याय अनेक प्रकार के पर का आश्रय (लक्ष) छोड कर एकरूप परिपूर्ण चतन्य स्वरूप का आश्रय करे तो आत्मा स्वभाव के साथ उसकी एकता होती है और वह ज्ञान आत्मा को यथार्थ जानता ह। पश्चात वह ज्ञान स्वभाव के साथ एकता रखकर पर को भी यथार्थ जानता ह यही धम की रीति ह इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धम नही होता।

रुचि करे तो स्वभाव को समझ लेना सरल है–

कोई लोग कहते है कि इसमे तो हमे कुछ भी खबर नही पडती कोई बाहर बाहर की बात करो तो खबर पडे। उसका उत्तर –बाह्य पदार्थों मे तो आत्मा हैं ही नही बाह्य पदार्थों से तो आत्मा पृथक ह इससे आत्मा के धम मे बाह्य बात कसे आयेगी। आत्मा बाहर का कुछ भी कर ही नही सकता और बाह्य रुचि होने से बाहर का ही दिखाई देता ह उसी प्रकार यदि अन्तर स्वभाव की रुचि करे तो यह भी बराबर समझ मे आ सकता है। पर वस्तुय शरीर की क्रियादि दिखाई देती है उन्हे कौन जानता ह। शरीर वाणी इत्यादि तो अजीव पदाथ हैं उन्हे कुछ भी खबर नही पडती। स्वय ही उसका ज्ञाता है। मुझे इसमे कुछ खबर नही पडती ऐसा कहा से निश्चित किया। स्वय अपने ज्ञान को जाने बिना वह निश्चित नही होता। स्वय अपने ज्ञान को

जानता है तथापि विश्वास नहीं करता। अपने ज्ञान का और पर का निर्णय करने वाला अपना ज्ञान सामर्थ्य है। अपने ज्ञान सामर्थ्य का अविश्वास ही अधम है। पर की खबर भी आत्मा को ही पड़ती है और अपनी खबर भी उसको होती है।

अज्ञानी मूढ जीवों को आत्मा की रुचि नहीं है और विषयों की रुचि है इससे उन्हें आत्मा को समझना महँगा—दुःखदायक लगता है और विकार तथा पर का करने की बात सरल मालूम होती है तथा उसमें सुख भासित होता है। पुण्य करना और उसके फल भोगना विषय सेवन करना पर का अहंकार करना यह सब अज्ञानियों को सरल लगता है और रुचिकर प्रतीत होता है। इससे वैसी बात उनकी समझ में झट आ जाती है क्योंकि वह तो अनादि संसार से कर ही रहे है। परन्तु इन सबसे भिन्न यह आत्मा स्वभाव की अपूर्व समझ है यह अपने स्वभाव की बात उन्हें नहीं रुचती। स्वभाव को समझना ही वास्तव की बात उन्हें नहीं रुचती। स्वभाव को समझना ही वास्तव मे सरल और सुखदायक है।

११ अपूर्व शान्ति

यह आत्मा अनादि काल से वह का वही ही है परन्तु अनादिकाल मे कभी भी उसने अपने स्वाधीन स्वभाव की पहिचान करके उसका आश्रय नही किया है और पर का ही आश्रय किया है। इससे पराश्रय से कभी उसे शान्ति नही मिली। आत्मा का सुख पर मे नही हैं तो फिर पराश्रय से आत्मा को कस सुख होगा। जीव का अपना स्वभाव ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है उसका विश्वास करके उसका आश्रय करे तो अपूर्व शान्ति सुख हो। जिस प्रकार लकडी समुद्र के जल में तैरती है उसी प्रकार आत्मा की वर्तमान अव स्था त्रिकाली चतन्य सागर में गिरने से [त्रिकाल चैतन्य का आश्रय करने से] तैरती है अर्थात् मुक्ति प्राप्त करती है। ज्ञान को पर से भिन्न जाने तो ससार परिभ्रमण दूर हो। अनेक प्रकार के पर पदार्थों को जानने पर भी वतमान रुचि मे स्वभाव का आश्रय रहना वह धर्म है। अनेक को जानने वाला स्वय अनेक रूप होकर नही जानता परन्तु एकरूप स्वभाव का आश्रय रखकर सबको जानता है। ऐसे एकरूप ज्ञान स्वभाव का आश्रय ही धम है। आत्मा पर वस्तु का कुछ नही कर सकता। पर का ग्रहण त्याग-त्याग या अच्छा बुरा आत्मा नही कर सकता तथापि अज्ञानी जीव पर के कर्तृत्व का अभिमान करता है इससे उसका ज्ञान अनेक प्रकार के पर के आश्रय मे ही रुक जाता है। इससे उस पर के साथ एकत्व बुद्धि पूर्वक राग-द्वेष होता है वह अधर्म है। पर की कर्तृत्व बुद्धि होने से पर का आश्रय छोडकर स्वभाव का आश्रय नही करता। स्वभाव के आश्रय बिना दया दान भक्ति आदि पुण्यभाव करे तो भी संसार परिभ्रमण ही होता है। लेकिन मैं पर का कुछ भी करने वाला नही हू और पर के कारण मेरा ज्ञान नही है इस प्रकार अपने ज्ञान को पर से बिल्कुल भिन्न समझे तो पर का अहंकार छोडकर ज्ञान स्वभाव की रुचि करे उससे धर्म हो और संसार परिभ्रमण दूर हो।

जीव की वर्तमान बुद्धिमानी से पैसा नही मिलता—अपनी वर्तमान चतुराई के कारण मैं पसादि प्राप्ति कर सकता हू ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु धन प्राप्ति का भाव पाप है उसके कारण धन नही आता। धन तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है। गायो को काटने वाले महापापी कसाई यदि प्रतिदिन हजारो रुपये कमाते हैं तो क्या वह गाये काटने की पापबुद्धि का फल है। वर्त मान पाप के फल में तो भविष्य में नरक के दुःखो का संयोग होगा। वर्तमान

मे जो रुपया मिल रहा है वह पूर्व के कारण पापानुबन्धी पुण्य का फल है। हिंसा झूठ चोरी आदि के कारण पसे की प्राप्ति नही होती और सत्यादि शुभ परिणाम करे उनके कारण भी वतमान मे पसा नही मिलता। किसी जीव को वर्तमान मे पुण्य परिणाम होते हैं लेकिन पूर्व पाप के उदय के कारण वर्तमान मे लक्ष्मी आदि सयोग नही होते। बाह्य का कोई भी सयोग वियोग हो उसका कर्ता आत्मा नही है और न उन सयोगो के कारण ज्ञान होता है। इसलिए जिसे आत्महित करना हो उसे पसा आदि पर सयोगो की और बाह्य ज्ञान की रुचि छोड असयोगी आत्म स्वभाव की ही रुचि करके उसकी पहिचान करना चाहिये। यही आत्महित का उपाय है।

सुख का सच्चा साधन क्या है ? प्रत्येक जीव सुखी होना चाहता है सुख होने के लिए प्रथम तो वह समझ लेना चाहिए कि सुख का स्वरूप क्या है और उसके साधन क्या हैं ? वतमान अवस्था मे दुःख है। इससे उसे दूर करके सुखी होना चाहता है इसलिए वतमान अवस्था मे दुःख है उसे भी जान लेना चाहिए। यदि वर्तमान मे स्वयं परिपूर्ण सुखी हो तो पर पदार्थों के सन्मुख देखना न हो और न उन्हे प्राप्त करने की इच्छा हो। अज्ञानी जीव पर वस्तु प्राप्त करके अपना दुःख दूर करना चाहता है परन्तु वह प्रयत्न मिथ्या है। आत्मा का स्वभाव ही पूर्ण सुखरूप है। उसक विश्वास से अन्तर साधन द्वारा ही वह प्रगट होता है। किन्ही बाह्य साधनो द्वारा आत्मा को सुख नही होता। अज्ञानी पर मे सुख मानकर पर की चाह करता है उसके बदले स्वभाव की चाह-रुचि करे तो सुखी हो जावे। आत्मा ज्ञान स्वभावी स्वाधीन परिपूर्ण है पर से पृथक हैं पर के अवलम्बन से उसे सुख हो—ऐसा वह पराधीन नही है। पर्याय मे रागादि होने पर भी अतरंग मे श्रद्धा करना चाहिए कि मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण सुखरूप हू ज्ञानादि अनन्त गुणो का भडार हू अपने ही अवलम्बन से मुझे सुख है। यदि ऐसी श्रद्धा न करे तो जसे जसा पर पदार्थ आये उनमे सुख मानकर ज्ञान वही एकाकार हो जायेगा। इससे उसका ज्ञान वर्तमान मे पर लक्ष से होने वाले विकार मे ही रुक जायेगा परन्तु सुख से परिपूर्ण अपना स्वभाव है उसका आश्रय नही करेगा इससे उसे सच्चा सुख नही होगा। पर्याय मे शुभ अशुभ भाव होने पर भी उस समय त्रिकाल एक रूप परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा और विश्वास उसे स्वभाव के आश्रय से सुख प्रगट होता है और विकार दूर होता जाता है।

दोहा—तुलसी काया खेत है मनसा भयो किसान।
पाप पुण्य दोउ बीज है बुवै सो लुनै निदान॥

शुद्ध धर्म की दृष्टि कर्म विषय मे किस रूप मे है। यह टढ़ मे इस

आख्यान द्वारा अवगत होती है। कहते हैं एक बार गोतम बुद्ध भिक्षार्थ किसी मपन्न किसान के यहा गये। उस कृषक ने उनसे कहा— आप मेरे समान किसान बन जाइये मेरे समान आपको धन धान्य की प्राप्ति होगी। उससे आपको भिक्षा प्राप्ति हेतु प्रयत्न नही करना पडगा। बुद्धदेव ने कहा— भाई मै भी तो किसान हू। मेरा खेत मेरा हृदय है। उसमे मैं सत्कर्म रूपी बीज बाता हू। विवेक रूपी हल चलाता हू। मैं विकार तथा वासना रूपी घास की निलाई करता हू तथा प्रेम और आनन्द की अपार फसल काटता हू।

१२ पूर्ण-केवल ज्ञान

द्विधा कृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्द्व ब ध पुरुषौ
नय मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलम्भक नियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहज परमान द सरस
पर पूण ज्ञान कृतसकल कृत्य विजयते ।।१८ ।।

अर्थ—जो प्रज्ञारूपी करोत के द्वारा विदारण करने से ब ध और पुरुष अर्थात् आत्मा को पृथक-पृथक कर स्योपल ध्धि स्वानुभव से निश्चित पुरूष को साक्षात मोक्ष प्राप्त करा रहा है जो प्रगट होते हुए स्वभाविक उ कृष्ट आन द से सरस है उत्कृष्ट है तथा जो समस्त करने योग्य कार्य कर चुका है ऐसा पूर्णज्ञान केवल ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है ।

भावार्थ—अनादि काल से जीव की ब ध दशा चली आ रही है जिससे यह जीव कम और नोकर्म के साथ एकी भाव को प्राप्त हो रहा है । भेदज्ञान के अभाव मे मिथ्या दृष्टि जीव इस सयुक्त दशा को ही जीव मानता है । जब उसे पर से भिन्न शुद्ध जीव का अस्तित्व ही अनुभव मे नही आ रहा है तब मोक्ष का लक्ष्य कसे बन सकता है । श्रयोमाग मे अग्रसर होने वाले जीव को सर्व प्रथम प्रज्ञा अर्थात् भेद ज्ञान की प्राप्ति होती है । जिस प्रकार लोक मे करोत के द्वारा काष्ठ के दो भाग कर दिये जाते हैं उसी प्रकार यह जीव प्रज्ञा के द्वारा ब ध और आ मा के दो भाग कर देता है अर्थात भेदज्ञान की महिमा से इसे अनुभव होने लगता है कि यह कम औ नोकर्मरूप पुद्गल का ब ध पृथक है और पुरूष अर्थात् आत्मा पृथक है । उस पुरूष का स्वानुभव प्रत्येक ज्ञानी पुरुष को होता है । मैं ज्ञानवान् हू मैं सुखी हू इत्यादि प्रकार के स्वानुभव से पुरूष का अस्ति व पृथक अनुभव मे आता है । इस भेद ज्ञान के द्वारा जीव मोक्ष का लक्ष्य बनाता है और उसके लिये पुरूषार्थ करता है । उस पुरूषार्थ के फलस्वरूप वह दशमगुणस्थान के अन्त मे मोहकर्म को नष्ट कर वीतराग दशा प्राप्त करता है और अन्तमु हूत क भीतर शेष तीन घातियो कर्मों को नष्ट कर पूर्णज्ञान केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है । यह पूर्णज्ञान सहज आत्मीय आनन्द से युक्त होता है सर्वोत्कृष्ट होता है और कृतकृत्य होता है । मोक्षाधिकार के प्रारम्भ मे इसी पूण ज्ञान का जय घोष आचाय ने किया है और वह इसलिये कि इसके होने पर मोक्ष की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है ।।१८ ।।

अब मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है यह कहते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयम्मि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंद सहाव काल च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइणवि कुणइच्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसोस ।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्ख ॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभाव ।
जाणंतो विण मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकाल से बधन मे पड़ा हुआ है और वह उसके तीव्र मन्द स्वभाव को तथा बन्धन के काल को जानता है तो भी यदि वह बधन का छेद नही करता है तो बधन से मुक्त नही हो सकता। वह बधन के वशीभूत होता हुआ बहुत समय मे भी बन्धन से छुटकारा को नही प्राप्त करता है उसी प्रकार जो पुरुष कर्मबन्धनो के प्रदेश स्थिति प्रकृति तथा अनुभाग भेदो को जानता है तो भी उनसे मुक्त नही होता किन्तु जब रागादि को छोडकर शुद्ध होता है तभी मुक्त होता है।

विशेषार्थ—आत्मा और बन्ध का जो द्विधाकरण अर्थात् पृथक्-पृथक करना है वही मोक्ष है। बन्ध के स्वरूप का ज्ञान मात्र हो जाना मोक्ष का हेतु है ऐसा कोई कहते है। पर यह कहना ठीक नही है क्योकि जिस प्रकार बेडी आदि से बद्ध पुरुष को बध के स्वरूप का ज्ञान मात्र हो जाना बन्धन से छुटने का कारण नही हैं उसी प्रकार कम बधन स बद्ध पुरुष को बध के स्वरूप का ज्ञान मात्र हा जाना बध स छुटने का कारण नही हैं किन्तु वह उसका अकारण है। अर्थात् चारित्र क बिना ज्ञान मोक्ष का कारण नही हैं। इस कथन से कर्मबध के विस्तार सहित भेद प्रभेदो को जानने मात्र से सतुष्ट रहने वाले पुरुषो का निरास हो जाता है। आगे कहते हैं कि बध की चिन्ता करने से भी बन्ध नही कटता है।

जह बंधे चिंततो बंधण बद्धो ण पावइ विमोक्ख ।
तह बंधे चिंततोजीवो वि ण पावइ विमोक्ख ॥२९१॥

अर्थ—जिस प्रकार बन्धनबद्ध पुरुष उन बधनो की चिन्ता करता हुआ उन बन्धो से छुटकारा नही पाता उसी प्रकार कम बधो का विचार करने वाला पुरुष भी उन कर्म बन्धों से मुक्ति को नहीं पाता हैं।

विशेषार्थ—कोई ऐसा मानते हैं कि बन्ध की चिन्ता का जो प्रबन्ध है वह मोक्ष का हेतु है परन्तु उनका ऐसा मानना असत्य है क्योंकि जिस प्रकार बेडी आदि से बद्ध पुरुष के बन्ध की चिन्ता का प्रबन्ध उस बन्धन से छूटने का कारण नहीं है उसी प्रकार कर्मबन्ध से युक्त पुरुष के बन्ध की चिन्ता का प्रबन्ध उस बन्ध से छूटने का कारण नहीं है किन्तु वह उसके प्रति अकारण है। इस कथन से कर्मबन्धन विषयक चिन्ता के प्रबन्धरूप धर्म्यध्यान से अर्थात् मात्र विपाक विचय धर्म्य ध्यान से अन्ध बुद्धि वाले मनुष्य प्रतिबोधित हो जाते हैं।

भावार्थ—बहुत से मनुष्य केवल बन्ध के भेद प्रभेदो के ज्ञान से अपने आपको संसार बन्धन से मोक्ष मानते हैं सो वे भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। तब मोक्ष का कारण क्या है सो कहते हैं।

जह बंधे छित्तूण य बंधण बद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

अर्थ—जिस प्रकार बन्धन से बंधा हुआ पुरुष बन्धनो को छेद कर ही उनसे मोक्ष को पाता है उसी प्रकार कर्म बन्धन से बंधा हुआ जीव भी कर्म बन्धो को छेदकर ही उनसे मोक्ष प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार बेडी आदि मे बद्ध पुरुष के उस बन्धन का छेदा जाना छूटने का कारण है उसी प्रकार कर्मों से बद्ध पुरुष के कर्मबन्ध का छेदा जाना उसका कारण है क्योंकि वही एक उसका हेतु है। इस कथन से पहले कहे गये बन्ध का स्वरूप जानने वाले तथा बन्ध की चिन्ता करने वाले इन दोनो को आत्मा और बन्ध के पृथक्-पृथक् करने मे व्याप्त किया गया है। अर्थात् समझाया गया है कि बन्ध स्वरूप जानने मात्र अथवा बन्ध की चिन्ता करने मात्र से मोक्ष होना नहीं है किन्तु उसके तो पुरुषार्थ पूर्वक आत्मा और बन्ध को पृथक् पृथक् करना ही आवश्यक है। क्या यही मोक्ष का हेतु है इस प्रश्न का उत्तर है—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म विमोक्खणं कुणई ॥२९३॥

अर्थ—बन्धो के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो बन्धो मे विरक्त होता है वही मोक्ष को करता है।

जो पुरुष निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र आत्म स्वभाव को और उसके विकार को करने वाले बन्धों के स्वभाव को जानकर बन्धों से विरक्त हो जाता है वही पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इससे यह नियम किया गया कि आत्मा और बन्ध का पृथक-पृथक करना ही मोक्ष का हेतु है।

आगे आत्मा और बन्ध पृथक-पृथक किस के द्वारा किये जाते हैं इस आशङ्काका उत्तर कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२६४॥

अर्थ —जीव और बन्ध ये दोनो निश्चित स्वकीय-स्वकीय लक्षणो से प्रज्ञा रूपी छैनी के द्वारा छेदे जाकर नानापन को प्राप्त होते हैं।

आत्मा और बन्ध के बीच जब तक प्रज्ञा रूपी छनी को नही पटका जाता है तब तक दोनो एक दिखते हैं। परन्तु जब अपने-अपने नियत लक्षणो की सूक्ष्म सन्धि पर प्रज्ञा रूपी छैनी को डाला जाता है तब आत्मा और बन्ध दोनो ही पृथक पृथक अनुभव में आने लगते हैं।

आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है क्योकि वह आत्मा को छोडकर शेष समस्त द्रव्यो मे नही पाया जाता है। आत्मा का यह चैतन्य लक्षण प्रवपता हुआ जिस जिस प्रयाय को व्याप्त कर प्रवृत्त होता है तथा निवृत्त होता हुआ जिस जिस पर्याय को ग्रहण कर निवृत्त होता हैं वह सभी सहप्रवृत्त और क्रम प्रवृत्त गुण-पर्यायो का समूह आत्मा है। इस तरह यहा आत्मा लक्ष्य है और एक चतन्य लक्षण के द्वारा वह जाना जाता है। चतन्य लक्षण समस्त सह प्रवृत और क्रम प्रवृत अनन्तगुण पर्यायो मे अविनाभावरूप से विद्यमान रहता है। अत आत्मा चैतन्य मात्र ही है यह निश्चय करना चाहिये।

लक्षण वह है जो समस्त लक्ष्य मे रहें और अलक्ष्य मे न रहे। आत्मा का चतन्य लक्षण उसकी क्रमवर्ती समस्त पयायो मे तथा सहभावी समस्त गुणो मे अविनाभाव से रहता हैं। अर्थात् आत्मा की कोई भी ऐसी पर्याय नही जो चेतना रिक्त हो अत चिन्मात्र ही आत्मा जानना चाहिये यह निर्विवाद है।

अनादि काल से इस जीव के कर्मों का बन्ध है और उस कर्मबन्ध के उदय मे आत्मा के रागादिक भावो का उदय होता है। उससे यह जीव पर

पदार्थों मे राग और द्वेष भावरूप प्रवृत्ति करता है। जो इसके अनुकूल है उनके सद्भाव और जो प्रतिकूल हैं उनके अभाव की चेष्टा करता हैं। वास्तव मे जो रागादिक भाव है वे इसके निजभाव नहीं हैं। मिथ्यादर्शन के उदय में यह उन्हे निजभाव मानता है। परन्तु जिस काल मे मिथ्या दर्शनरूप तिमिर का अभाव हो जाता है उस काल मे इसकी परपदार्थ मे निजत्वबुद्धि मिट जाती है। तब जो पर पदार्थों के निमित्त से रागादिक होते हैं उन्हे औपाधिक भाव जानकर उनके पृथक करने की चेष्टा करता है और मोह के क्षय होने पर फिर उनका अस्तित्व ही नही रहता। उस समय आत्मा अपने स्वरूप मे ही परिणमन करता है। यह कल्याण का पथ है।

१३ केवल ज्ञान महिमा

चिदा नन्दैकस्वावजिनाय परमात्मने
परमात्म प्रकाशाय नित्य सिद्धात्मने नम ॥१॥
केवल ज्ञानेनानवरत लोका लोक जानन ।
नियमेन परमानंदमय आत्मा भवति अर्हन् ॥ ३२७ ॥

अब केवल ज्ञान की महिमा कहते हैं ।

अथ केवल ज्ञान से लोक अलाक को निरतर जानता हुआ निश्चय से परम आनन्दमयी यह आत्मा ही रत्नत्रय के प्रसाद से अरहत होता है । समस्त लोका लोक को एक ही समय केवल ज्ञान से जानता हुआ अरहत कहलाता है । जिसका ज्ञान जानने के क्रम से रहित है । एक ही समय मे समस्त लाकालाक को प्रत्यक्ष जानता है आगे पीछे नही जानता । सब क्षेत्र सब काल सब भाव को निरतर प्रत्यक्ष जानता है । जो केवली भगवान परम आनन्दमयी है बीतराग परक समरसी भाव रूप जा परम आनन्द अतीन्द्रय अविनाशी सुख वही जिसका लक्षण हैं । निश्चय से ज्ञानानद स्वरूप है इसमे सदेह नही है ।

य जिन केवल ज्ञानमय: परमानद स्वभाव:
स परमात्मा परमपर स जीव आत्म स्वभाव. ॥३२८॥

अर्थ –केवल ज्ञान ही आत्मा का निज स्वभाव है और केवली का हो परमात्मा कहते हैं । जो अनत ससार रूपी वन के भ्रमण के कारण ज्ञाना वरणादि आठ कर्म रूपी वैरी उनका जीतने वाला वह केवल ज्ञानादि अनत गुणमयी है और इन्द्रिय विषय से रहित आत्मीक रागादि विकल्पो से रहित परमानंद ही जिस का स्वभाव है ऐसा जिनेश्वर केवल ज्ञानमयी अरहत देव वही उत्कृष्ट अनंत ज्ञानादि गुणरूप लक्ष्मी वाला आत्मा परमात्मा है । इसी को वीतराग सर्वज्ञ कहते हैं । हे जीव वही ससारियो से उत्कृष्ट है ऐसा जो भग वान वह तो व्यक्ति रूप है और वह आत्मा का ही स्वभाव हैं ।

ससार अवस्था में निश्चय नयकर शक्ति रूप कहते हैं । द्रव्यार्थिक नयकर जसा भगवान है वैसे हो सब जीव हैं । इस तरह निश्चय नय कर

जीव को परब्रह्म कहो परमशिव कहो जितने भगवान के नाम हैं उतने ही निश्चय नयकर विचारो तो सब जीवो के हैं। सभी जीव जिन समान है और जिनराज भी जीवो के समान हैं ऐसा जानना। जो सम्यग्दृष्टि जीवो को जिनवर जाने जानो और जिनवर को जीव जानें जानो। जो जीवा की जाति है वही जिनवर की जाति है और जो जिनवर की जाति है वही जीवा की जाति है। ऐसे महामुनि द्रव्यार्थिक नयकर जीव और जिनवर मे जाति भेद नही मानते वे मोक्ष पाते हैं।

सकलेभ्य कर्मभ्य दोषेभ्य अपियो जिनदेव विभिन ।

त परमात्मप्रकाश त्व योगिन् नियमेन म यस्व ।।३२६।।

अर्थ–ज्ञाना वरणादि अष्ट कर्मों से और सब क्षुधादि अठारह दोषा से रहित जो जिनेश्वर देव है उसको हे योगी तू परमात्मा प्रकाश निश्चयमान अर्थात् जो निर्दोष जिनेंद्र देव हैं वही परमात्मा प्रकाश हैं। रागादि रहित चिदानद स्वभाव परमात्मा से भिन्न जो सब कर्म वे ही ससार के मूल हैं। जगत के जीव तो कर्मोंकर सहित हैं और भगवान जिनराज इनसे मुक्त है और सब दोषो से रहित है। वे दोष सब ससारी जीवो के लग रहे है। ज्ञायक स्वभाव आत्मा के अनत ज्ञान सुखादि गुणो के अ छादक है। उन दोषो से रहित जो सर्वज्ञ वही परमात्मा प्रकाश है योगीश्वरो के मन मे ऐसा ही निश्चय हैं।

केवल दर्शन ज्ञान सुख वीय य एव अन त ।

स जिन देवोपि परम मुनि परमप्रकाश म यमान ।३३०।

य परमात्मा परम पद हरि हर ब्रह्मापि बुद्ध ।

परमप्रकाश भणति मुनय स जिन देवो विशुद्ध ।३३१।

अर्थ–केवल दर्शन केवल अनत सुख अनत वीय ये अनत चतु टय जिसके हो वही जिन देव है वही परम मुनि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानी है। क्या करता सता ? उत्कृष्ट लाकालोक का प्रकाशक जो केवल ज्ञान वही जिसके परम प्रकाश है उससे सकल द्रव्य क्षेत्र काल भाव भव को जानता हुआ परम प्रकाशक है। केवल ज्ञानादि अनत चतुष्टय एक ही समय मे अनत द्रव्य अनत क्षेत्र अनतकाल और अनत भावो व भव को जानते हैं इसलिए अनत हैं अविनश्वर हैं इनका अत नही है।

जिन देव के ही अनेक नाम है ऐसा निश्चय करते हैं। जिस परमात्मा को मुनि परम पद हरि महादेव ब्रह्माबुद्ध आर परम प्रकाश नाम से कहते हैं वह रागादि रहित शुद्ध जिन देव ही है। उसी के ये सब नाम हैं प्रत्यक्ष ज्ञानी उसे परमानद ज्ञानादि गुणो का आधार होने से परमपद कहते हैं। वही विष्णु है वही महादेव है उसी का नाम परब्रह्म हैं। सबका ज्ञायक होने से बुद्ध है सब मे व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधि परमात्मा अनेक नामो से गाया जाता है। समस्त रागादिक दोष के न होने से निमल है ऐसे जो अरहत देव वही पर मात्मा प्रकाश है। निर्दोष परमात्मा का व्याख्यान करने से वही परमात्मा परम पद वही विष्णु वही ईश्वर वही ब्रह्म वही शिव वही सुमत वही जिनेश्वर और वो ही विशुद्ध इत्यादि एक हजार आठ नामो से गाया जाता है। नाना रूचि के धारक ये ससारी जीव नाना प्रकार के नामो से जिन को आराधते है ये नाम जिन राज के सिवाय दूसरे के नही हैं ऐसा ही दूसरे ग्रथो मे भी कहा हैं। एक हजार आठ नामो सहित वह मोक्ष पुर को स्वामी उसकी आराधना सब करते हैं। उसके अनंत नाम और अनत रूप हैं। वास्तव मे नाम से रहित रूप से रहित ऐसे भगवान देव को हे प्राणियो तुम आराधो।

ध्यानेन कमक्षय कृत्वामुक्तो भवति अनत ।

जिनवर देवेन स एव जीवप्रभणित सिद्धो महान् ॥३२२॥

अर्थ–शुक्ल ध्यान से कर्मों का क्षय करके जो मुक्त होता है और अविनाशी है हे जीव उसे ही जिनवर देवे ने सब से महान सिद्ध भगवान कहा है। अरहत परमेष्ठी सकल सिद्धातो के प्रकाशक हैं। वे सिद्ध परमात्मा को सिद्ध परमेष्ठी कहते है जिसे सब सत पुरुष आराधते हैं। केवल ज्ञानादि महान अनत गुणो के धारण करने से वह महान अर्थात सब मे बडा है।

जो सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठो ही कर्मों से रहित है और सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं क्षायक सम्यक्त्व केवल ज्ञान केवल दर्शन अ तवीर्य सूक्ष्म अवगाहन अगुरूलघु अव्याबाध इन आठ गुणो से मडित है और जिसका अत नही ऐसा निरजन देव विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो आत्म द्रव्य उससे विपरीत जो आर्त रौद्र खोटे ध्यान उनसे उत्पन्न हुए जो शुभ अशुभ कर्म उनका स्व संवेदन ज्ञान रूप शुक्ल ध्यान से क्षय करके अक्षय पद पा लिया है।

कसा है शुक्ल ध्यान रागादि समस्त बिकल्पो से रहित परम

निराकुलता रूप है। यही ध्यान मोक्षमूल हैं इसी से अनत सिद्ध हुए और होगे।

किसी को तुच्छ न निरखो सब जीव अर्हंत सिद्ध के स्वरूप के समान है। कर्मों की उपाधि लगी है। अपने अवगुणो को निकासने की कोशिश करो। चारित्र मोहनीय का उदय है।

१४ आत्मा ही सम्यग्दर्शन

अप्पा दंसणु केवलुवि अण्णु सव्वु ववहारु ।
एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहं सारु ।।६७।।

अर्थ केवल आत्मा ही सम्यग्दर्शन है दूसरा सब व्यवहार है इसलिए हे योगी एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है जो कि तीन लोक में सार हैं। सहआत्म स्वरूप के सम्मुख होकर जो दशा प्रकट हो वह आत्मा है। आत्मा के आश्रय से जो दशा उत्पन्न हो वह आत्मा है और अनात्मा क आश्रय से जो दशा उत्पन्न हो वह अनात्मा है। आत्मा के आश्रय से जो आत्मा की दृष्टि उत्पन्न हुई वह आत्मा है। अन्य सर्व व्यवहार हैं अनात्मा है। सम्यग्दर्शन वह विशष है। विशेष ने सामान्य का आश्रय लिया इसलिये वह आत्मा है। इसके अतिरिक्त अन्य सर्वदेव शास्त्र-गुरु की भक्ति का विकल्प अथवा शास्त्र-स्वाध्याय का विकल्प वह सभी अनात्मा है व्यवहार हैं क्योंकि उसमें आत्मा का आश्रय नही है। विकल्प से रिक्त और अनन्त-अनन्त स्वभाव से भरपूर वर्तमान पर्याय से खाली और अनन्त आनन्द से परिपूर्ण अटूट केवल ज्ञानादि पर्यायो का भण्डार ऐसा भगवान तू स्वयं हैं। जिससे परके साथ स्नेह सम्बन्ध नही तथा राग का सम्बन्ध भी नही ऐसा तू है।

जिसने निमत्त का अथवा पर का आश्रय लिया है वह अनात्मा है भगवान पूर्णानन्द का नाथ है। उसका जिसने आश्रय लिया वही आत्मा है तथा अन्य सर्व अरे वीतरागी देव की श्रद्धा भी अनात्मा हैं व्यवहार है। अनात्मा से आत्मा कैसे प्राप्त हो देव-गुरु शास्त्र की पूजा भक्ति व्रत-दया दान आदि सवभाव व्यवहार है अनात्मा हैं। अरे तीर्थंकार गोत्र जिस भाव से बधता है यह भाव भी व्यवहार हैं अनात्मा है। जिसने वर्तमान पर्याय को राग के साथ जोड दिया हैं वह अयोगी हैं अर्थात् वह योगी नही है किन्तु भ्रष्ट हैं। जिसने वर्तमान पर्याय को द्रव्य में जोड दिया है वही योगी हैं। हे योगी आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई दशा ही आत्मा है। इसके अतिरिक्त अन्य सर्वभाव अनात्मा हैं व्यवहार हैं अत. हे योगी एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य हैं और वह एक ही अर्थात् मात्र वही तीन लोक मे सारभूत हैं।

हे आत्मन तू पर द्रव्य के प्रपंच में क्यों फंसा गया है। अरे एक वीत

रागी निश्चय रत्नत्रय ही इष्ट है शेष तो सभी अनिष्ट हैं। अत अपने लक्ष्य का बदल दे। पर की ओर का लक्ष्य छोडकर स्वतरफ लक्ष्य की दृष्टि को मोड जब तक पर का निमित्त का विकल्प का प्रम है तब तक आत्मा पर द्वेष है। अरे जीव भाग्य बिना ऐसी परम सत्य मागलिक बात सुनने का भी कसे मिले। भगवान तुझसे कहत हैं कि प्रभू तू स्व मुख देख तो जरा वहा सुख का भण्डार लबालब भरा है। लक्ष्मी तेरे मस्तक पर तिलक करने आवे और उस समय तू मु ह धोने भी न जावे तो तेरे अभाग्य की महिमा क्या कही जाय। अरे भाई यह वाणी कण गोचर हुई सुनने का अवसर आया। ऐसे अवसर पर पहले ससार का यह काय कर लू अथवा वह काय कर लू। ऐसा मत कहो नही तो सुअवसर चला जायेगा और कभी भी वापस आयेगा नही। अत पहले यही कार्य कर ले। राग मे प्रीति करने वाले को निज परमात्मा का विरह पड गया है। भगवान आत्मा की रुचि के आगे इन्द्र के भोग की भी रुचि उड जाती है। जिसे त्रिकाली प्रभू की दृष्टि बिना पर्याय की रुचि है उसे ब ध की रुचि है। राग से धर्म होता है ऐसी मान्यता से तुझे अपनी आत्मा का विरह पड गया है।

अब ध स्वभावी आत्मा का निश्चय वह अब ध परिणामी है उससे बन्धन कस हो आत्मा ज्ञायक स्वरूप भगवान उसके स मुख होने पर उसका निश्चय होगा वह सम्यग्दर्शन है। दुख से मुक्त होने का उपाय ता आ म स मुख दृष्टि करना ही है। निश्चय मोक्ष मार्ग तो माक्ष का कारण है वह बध का कारण कसे हो सकता है। यहा काई कहे कि उससे ब ध तो हाता है न ? उससे कहते है कि निश्चय मोक्ष माग के साथ जो राग है अर्थात् जा व्यव हार मोक्ष माग है उससे ब ध होता है। (भावाथ) य हुआ कि निश्चय मोक्ष मार्ग का ही कारण है। वह मोक्ष मे अकिंचित्कार हैं।

पुणणेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मई मोहो।
मइ मोहेण य पाव ता पुण्ण अम्ह मा होउ ॥

अर्थ—पुण्य से वभव हाता है और वभव से अभिमान अभिमान से बुद्धि मे भ्रम होता है बुद्धि मे भ्रम होने से पाप होता है। इसलिये पुण्य हमारे न होवे।

अथ—आगे निश्चय कर आत्म स्वरूप ही सम्यग्दशन हैं। केवल (एक) आत्मा ही सम्यग्दर्शन है दूसरा सब व्यवहार हैं इसलिये हे योगी एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है जो कि तीन लोक मे सार हैं।

भावार्थ—बीतराग चिदानन्द अखण्ड स्वभाव आत्म तत्त्व का सम्यक श्रद्धान ज्ञान अनुभव रूप जो अभेद रत्नत्रय वही जिसका लक्षण हैं तथा मनो गुप्ति आदि तीन गुप्तिरूप समाधि में लीन निश्चयनय से निज आत्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है अन्य सब व्यवहार है। इस कारण आत्मा ही ध्यावने योग्य है। जसे दाख कपूर चन्दन वगैरह बहुत द्रव्यो से बनाया गया जो पीने का रस वह यद्यपि अनेक रसरूप है तो भी अभेद नय कर एकपान वस्तु कही जाती है उसी तरह शुद्धात्मानुभूति स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि अनेक भावो से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप है तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है। यही अभेद रत्नत्रय का स्वरूप जन सिद्धान्तो मे हर एक जगह का है। दर्शनमित्यादि। इसका अर्थ ऐसा है कि आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन हैं आत्मा का जानना वह सम्यग्ज्ञान हैं और आत्मा मे निश्चल हाता वह सम्यक चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है इनसे बन्ध कसे हो सकता है कभी नही हो सकता। आगे देवगुरु शास्त्र की भक्ति से मुख्यता से पुण्य बन्ध होता है उससे परम्परा मोक्ष होता है साक्षात् मोक्ष नही ऐसा कहते है। श्री बीतरागदेव द्वादशाग शास्त्र और दिगम्बर साधुओ की भक्ति करने से मुख्य पुण्य होता है लेकिन तत्काल कर्मक्षय नही होता ऐसा शान्ति नाम आर्य अथवा कपट रहित सन्तपुरुष कहते है। परम्परा से सम्यक्त्वी जा देवगुरु शास्त्र की भक्ति करता है उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है और परम्परा से मोक्ष होता है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि है उनके भाव भक्ति तो नही हैं लौकिक बाहिरी भक्ति होती है उससे पुण्य ही बन्ध है कर्मक्षय नही है।

१५ प्रायश्चित

णवि कम्म णो कम्म णवि चिंता णव अट्टरुद्दाणि ।

णवि धम्म सुक्कझाण तत्थेव य होइ णिव्वाण ।।१८१।।

अथ—आत्मा त्रिकाल ज्ञायक स्वरूप है। उसका चितवन अर्थात् निरन्तर प्रायश्चित है। शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता वह प्रायश्चित्त है और ऐसा प्रायश्चित ससार का नाश करता है। धर्मात्मा के ऐसा प्रायश्चित वर्तता है क्योंकि वे त्रिकाली अतीन्द्रिय आनन्द स्वभाव के प्रेमी हैं। धर्मात्मा निजसुख स्वभाव मे रतिवान होने से उन्हे पर मे कही सुख भाषित नही होता मिठास नही लगती।

आचार्यो का एक एक शब्द तो देखो। धर्मात्मा कैसे होते हैं। जो निज सहज सुख मे रतिवान है अर्थात् पर मे कहे सुख बुद्धि नही रही है। भले ही इन्द्र का इन्द्रासन हो या चक्रवर्ती की सम्पदा परन्तु निज सुख स्वभाव मे रतिवान धर्मात्मा को जगत के ऐश्वर्य मे मिठास नही लगती।

> चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरीखे भोग।
> काग-बीट सम गिनत है सम्यग्दृष्टि लोग।।

एक साधारण पुण्य के फल की तुच्छ सामग्री मे अज्ञानी को हर्ष और आनन्द का वेदन होता है। यहाँ तो कहते है कि निज सुख मे रतिवान धर्मात्मा को उत्कृष्ट पुण्य की सामग्री भी कौए की बीट समान भासित होती है। यद्यपि समस्त उत्कृष्ट पुण्य की सामग्री एक साथ किसी के होती ही नही। परन्तु एक साथ हो तब भी ज्ञानी धर्मात्मा की दृष्टि मे उसे इच्छा भासित नही होती है पुदगल शरीर पर्याय के समान तुच्छ भासित होती है। उसमे उन्हे कही आनन्द नही आता उन्हे तो एक आत्मा मे प्रेम जागृत हुआ है।

जिसे शुभ की रूची है उसे विषय की ही रूची है। क्योकि शुभ के रूचीवान को उसके फल मे पुण्य की सामग्री आयेगी तब वह उसी मे लीन हो जायेगा।। इसलिए वास्तव मे तो शुभ राग का प्रेमी वह विषय का ही प्रेमी हैं फिर भले ही वर्तमान मे राज-पाट को छोड़कर द्रव्य लिंग धारण

किया हो। धर्मात्मा को तो पुण्य और उसकी सामग्री काले नाग जैसी लगती है। इसलिए उससे छुटने को वह अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करता है। अस्थिरता के करण धर्मात्मा को शुभ विकल्प आते हैं परन्तु उसे उनकी रूचि नही होती। रूचि पूर्वक राग का सेवन वह आत्म स्वरूप से विरुद्ध आचरण होने के कारण व्यभिचार है। अज्ञानी को राग का रूचिपूर्वक सेवन होता हैं। धर्मात्मा के तो स्वभाव की ही रूचि होती है।

श्री पद्मप्रभ मुनिराज कहते हैं कि मुनियो को स्वात्मा का चिन्तन वही निरन्तर प्रायश्चित्त हैं क्योकि प्राय अर्थात् उत्कृष्ट और चित्त अर्थात् बोधज्ञान आत्मा उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूपी वस्तु होने से वस्तु स्वभाव ही प्रायश्चित्त है। ऐसे त्रिकाल प्रायश्चित्त स्वरूपी भगवान आत्मा का आश्रय करने से पर्याय मे प्रायश्चित्त प्रकट होता है।

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा महान है कि जो भी शुद्ध पर्याय प्रकटता हैं वह उस उस त्रिकाल गुण स्वरूपी द्रव्य के आश्रय से ही उत्पन्न होती है।

वस्तु त्रिकाल प्रायश्चित स्वरूप ही है इसलिए उसके आश्रय से निश्चय समता प्रकट होता है। वस्तु त्रिकाल क्षमा स्वरूप ही है इसलिए उसके आश्रय से पर्याय मे निश्चय क्षमा प्रकट हाती है। वस्तु त्रिकाल केवल दशन उपयाग स्वरूप ही हैं इसलिए उसक आश्रय से पर्याय मे आनन्द प्रकट होता है। जा सम्यग्दशन प्रकट होता है वह त्रिकाल सम्यग्दर्शन स्वरूपी वस्तु के ही आश्रय से प्रकट होता है। जो वीतरागता प्रकट होती है वह त्रिकाल वीतराग स्वरूप वस्तु क ही आश्रय से प्रगट होती हैं। अहा। वस्तु स्वभाव ही अचित्य महिमावान है।

यहा तो कहते हैं कि मुनियो को त्रिकाल प्रायश्चित्त स्वरूप वस्तु की एकाग्रता होने से निरन्तर प्रायश्चित्त हैं। उस प्रायश्चित्त द्वारा पाप का परित्याग करके वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार चिडिया और कबूतर धूल मे लोटकर फिर पख फडफडा कर धूल को झाड देते हैं उसी प्रकार निज सुख मे रतिवान धर्मात्मा निश्चय प्रायश्चित्त द्वारा पाप का परित्याग करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। परन्तु यदि किसी मुनि को आत्म चितवन के अतिरिक्त अन्य कोई चिन्ता हा तो वह विमूढ है।। अर्थात् जिसे त्रिकाल सुख स्वरूप वस्तु के प्रेम के बदल शुभ राग का प्रेम वतता है वह मिथ्यात्व के पाप को उत्पन्न करता है। आचार्यों ने बताया है—

चरणानुयोग के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले व्रत्तियो को जनागम मे व्रत न

लेने को अपराध नहीं माना है किन्तु लेकर उसमे दोष लगाना या उसे भङ्ग करना अपराध बताया है। अत ग्रहण किये हुए व्रत को प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिये। मनुष्य पर्याय का सबसे प्रमुख काय चारित्र धारण करना ही है। इसलिए यह दुर्लभ पर्याय पाकर अवश्य ही चारित्र धारण करना चाहिये। त्यागी होने पर लोग तीर्थ यात्रा आदि के बहाने से गृहस्थो से पसा की याचना करते हैं यह मार्ग अच्छा नही है। यदि याचना ही करनी थी तो त्याग का आडम्बर ही क्यो किया। त्याग का आडम्बर करने के बाद भी यदि अन्त करण मे नही आया तो यह आत्म वञ्चना कहलायेगी। मुनियो के आत्मा ही तीर्थ हैं।

१६ मुमुक्ष का वैराग्य

मोक्षार्थी का कुटुम्बी जनों को सबोधन करना

आपिच्छ बधुवग्गविमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहि ।
आसिज्ज णाणदंसण चरित्त तव वीरियायार ।२०२।

अर्थ —ज्ञानी ज्योति के जगमगाते प्रकाश मे जिसे गृहवास कारागृह के समान प्रतीत होता है जिसकी वृत्ति संसारिक कार्यों से अत्यन्त उदास हो गयी है और जो चरित्र दशा अंगी कार करने के लिए घरबार छोडने को तत्पर हुआ है ऐसा मोक्षार्थी जीव अपने कुटुम्बी जनो की विदा लेते हुए उन्हे वराग्य की प्रेरणा देते हुए कहता है —

हे स्नेही जनो ! तुम जागो । यह मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है । आशामे रह कर सद्विवेक प्राप्त करना असंभव है । समस्त लोक मात्र दुख से सुल गता है और अपने भाव कर्मों द्वारा इधर उधर भटकता रहता है । ऐसे संसार से मुक्त होने के लिए हे जीवो ! तुम सत्वर आत्मभान सहित जागो जागो— हे जीवो ! यह स्नेही जनो का संयोग तो ऊँचे पर्वत के शिखर पर वायु के थपड खाते हुए दीपक जसा चचल है । वे तो मात्र भोजनादि गृहकार्यों में ही साथ दे सकते है परन्तु मृत्युकाल मे वे सब व्यर्थ हैं ।

हे कुटुम्बी जनो ! मैं अपने अतीन्द्रिय आनन्द मे निवास करने जा रहा हू इसलिए तुम मुझ स्नेह-बन्धन मे जकड बिना प्रम पूर्वक विदा दो ।

हे इस पुरुष के (आत्मा के) शरीर के बन्धु वर्ग मे बर्तते आत्माओ मैं किंचित भी तुम्हारा नही हू और तुम किंचित भी मेरे नहीं हो मात्र भ्राति से वसी मान्यता थी । ज्ञान ज्योति द्वारा ऐसे भ्रम को छोडा और अनादि बधु ऐसे निज आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करो । मुझे तो ऐसी ज्ञान ज्याति प्रगट हुई है । इसलिए अब मैं अपने आत्म कंचन का विरह सहन नही कर सकू गा तुम मुझे दीक्षा लेने की अनुमति दो ।

हे इस पुरुष के शरीर के जनक तथा जननी के आत्मओ तथा इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा निश्चय से ऐसे हे इस पुरुष के शरीर के जनक तथा

जननी के आत्माओ तथा इस शरीर के पुत्र-पुत्रआत्मा। निश्चय से ऐसा जानो कि मेरा और तुम्हारा जनक—जन्य ऐसा कोई सम्बन्ध है ही नही। हमारा जनक—जन्य सम्बन्ध मात्र निजात्मा मे द्रव्य—पर्याय के बीच है। अब हम उसी के सहवास मे जा रहे है इसलिए विदा दो।

हे इस पुरुष के शरीर की रमणी के आत्मा इस शरीर की रमणी वह आत्मा की रमणी नही है। इस पुरुष के आत्मा ने तेरे आत्मा के साथ रमण नही किया है। आज यह आत्मा स्वानुभति रूपी जो रमणी उसक पास जा रही है। आज हम अपनी परम श्री रूपी कामिनी क विवाह-मण्डप मे जा रहे है इसलिए विदा दो।

अरे भाई मानो अपनी दृष्टी के समक्ष कोई जीव आत्म प्रतीतिपूवक दीक्षा लेने जा रहा हो, ऐसा दृश्य आचार्य देव ने इस गाथा २ २ की टाका मे उपस्थित कर दिया ह। कसी अद्भूत शली है कि श्रमण बनने के इच्छुक की वराग्य दशा का वणन सुनकर मुमुक्षु जीव भी ऐसी भावना भाने लगता है कि ऐसा अपूव अवसर मुझे भी शीघ्र प्राप्त हो।

बडो या स्नेही जनो की सम्मतिपूर्वक ही मुनि दशा अगीकार करने का कोई नियम नही है। भरत चक्रवर्ती के सकडो राज पुत्रो ने तो खेलते खेलते भगवान के समवशरण मे आकर दीक्षा ले ली थो और वराग कुमार ने दीक्षा लेने से पूर्व तीव्र ममत्व रखने वाले माता पिता को वराग्य पूण सम्बोधन किया था कि —

हे पिता जी हे माता जी ! जब भवन मे आग लग जाती है सब समझ दार मनुष्य बाहर भागने का प्रयत्न करता है। परन्तु कोई शत्रु हो तो वह उसे पकडकर फिर आग मे धकेलता है। उसी प्रकार मैं इस मोह ज्वाला से भभकते हुए ससार को अग्नि से बाहर निकलना चाहता हू तब आप शत्रु की भाति मुझे पुन उसी अग्नि ज्वाला मे न फेके मुझे घर मे रहने को न कहे।

जिस प्रकार लहराते हुए भीषण समुद्र के बीच से कोई पुरुष तरता तैरता किनारे तक आ गया हो और कोई शत्रु उसे धक्के देकर फिर समुद्र मे धकेले उसी प्रकार हे माता पिता दुर्गति के दु खो से भरपूर इस घोर संसार समुद्र मे अनादि से डबा हुआ मैं वराग्य द्वारा अभीमुश्किल से किनारे पर आया हू अब आप मुझे इस ससार समुद्र मे न धकेल घर मे रहने को न कहे।

कोई मनुष्य शुद्ध स्वादिष्ट स्वच्छ अमृत जसा मिष्ठान्न खा रहा हो और कोई शत्रु उसमे विष मिला दे उसी प्रकार मैं अभी ससार से विरक्त होकर अपने अतर मे धर्मरूपी परम अमृत का भोजन करने को तत्पर हू तब आप उसमे राज्य लक्ष्मी के उपयोग का विष मिलाकर शत्रु कार्य न करे ।

मेरे अतर मे इस समय शुद्धोपयोग की प्ररणा जाग्रत हुयी है और मेरा मन सर्वत विरक्त हुआ है इसलिए हे माता अब मुझे आज्ञा द रोना हो तो एक बार रो ल परन्तु मेरा यह वचन है कि अब मैं पुन माता नही कहूगा ।

इस प्रकार कितने ही जीव मुनि होने से पूर्व वैराग्य के कारण कुटुम्ब को समझाने की भावना से वराग्य प्र रक सम्बोधन करते है और उन वराग्य पूर्ण बचनो को सुनकर परिवार मे कोई निकट मोक्षगामी जीव हो ता वह भी वराग्य को प्राप्त होता है ।

पश्चात् जिस प्रकार भयभीत कछुआ अपने सर्वांग को अपने मे ही सिकोड लेता है उसी प्रकार ससार से भय जानो कि मेरा और तुम्हारा जनक जन्य ऐसा कोई सम्बन्ध है ही नही । हमारा जनक जन्य सम्बन्ध मात्र निजात्मा मे द्रव्य पर्याय क बीच है । अब हम उसक सहवास मे जा रहे ह इसलिए विदा दो ।

भीत ऐसा वह विरक्त जीव अपना उपयोग समस्त इन्द्रियो से सिकोड कर अपने मे ही एकाग्रत होने क लिए शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के पास जाकर कहता है प्रभो शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि रूप सिद्धी से मुझे अनुगृहीत करो । और संसार से विरक्त मोक्ष मार्ग मे विचरने की उग्र भावना वंत उस जीव को श्री गुरू दीक्षा देते हुए इस प्रकार कहते हैं कि यह तुझे शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि रूप सिद्ध हो ।

दिन प्रतिदिन होने वाली मृत्यु की क्षण भंगुर घटनाए सुनकर आचाय वैराग्य भरे शब्दो मे कहते ह कि हे भाई-यह शरीर तो क्षण मे छूट जायेगा । शरीर का संयोग तो वियोग जनित ही है । जिस समय आयु की स्थिति पूण होना है उस समय तेरे करोडो उपाय भी तुझे बचाने मे समथ नही होगे तू लाखो रुपया खर्च कर या करोडो चाहे तो बिलायत से डाक्टर बलवा परन्तु यह सब छोडकर तुझे जाना पडेगा । देह विलय की ऐसी नियत स्थिति को जानकर वह स्थिति आने से पूर्व ही तू चेत जा । अपनी आत्मा को चौरासी

क चक्कर से बचा ले । आख मिचने से पहिले जागृत हो जा । मरकर कहा जाएगा उसका तझे पता है ? वहाँ कौन तेरा भाव पूछने वाला होगा ? तो यहा लोग ऐसा कहेगे और समाज यह कहेगा ऐसे मोह के भ्रम जाल में उलझकर अपनी आत्मा को क्या तडपा रहा है । इस उपदेश मे सुन्दर दृष्टान्त दिया है कि मृग आदि अनेक प्राणियो से भरे हुए बन मे आग लगने पर उससे बचने के लिये कोई मनुष्य बन के बीच स्थित वृक्ष पर चढ जाता है और अग्नि ज्वालाओ मे भस्म होते हुए प्राणियो को देखता है । उस समय वह मानता है कि मैं तो वृक्ष पर सुरक्षित हू यह अग्नि मेरा कुछ नही बिगाड सकती परन्तु उस अज्ञानी को खबर नही है कि वह अग्नि थोडी देर मे वृक्ष को और उसे भी भस्म कर देगी । इस प्रकार मूढ जीव धनादि की आसक्ति के कारण दूसरा पर आने वाली आपत्तियो को देखने पर भी अपने को सुरक्षित मानता है और कभी यह विचार भी नही करता कि ऐसी विपत्तियाँ आज नही तो कल उस पर भी आ पडगी और कालाग्नि उसे भी जलाकर राख कर देगी । अरे अज्ञान दशा के कारण जीव चार गतियो म परिभ्रमण करते हुए आत्मा को दु खरूपी कोल्हू मे पेल रहे हैं । पूर्व पुण्य के कारण उनको मनुष्य गति एवम् साधन सामग्री प्राप्त होते हैं परन्तु पसा और प्रतिष्ठा आदि की तीव्र लालसा मे पडकर वे मनुष्य भव को व्यर्थ गवा देते हैं । धन सम्पत्ति के अहकार मे धम क्या वस्तु है उसे सुनने और जानने की परवाह भी नही करते ऐसे जीवो के दुर्भाग्य की महिमा कौन कर सकता है । वे बीच विचार भी नही करते कि हमे एक दिन मरना है और हम मरकर किस गति मे जायगे ।

ममता की तीव्रता वाले उन जीवो को स्वग म जाये ऐसे शुभभाव का भी अवकाश नही होता मरकर मनुष्य हो एसे कोमल परिणाम भी नही होते । उन्हे यदि मास मछली मदिरादि अभक्ष्य भक्षण के तीव्र अशुभ परिणाम न हो ता वे मरकर नरक मे नही जात इसलिये माया ममता के परिणाम वाले ऐसे जीव मरकर तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होते हैं । तिर्यंच गति विशाल है । चौरासी लाख जन्म स्थानो मे से बासठ लाख जन्म स्थान तिर्यंच गति के हैं । यहा सेठ साहब सेठ साहब कहलात हैं और मरकर दूसरे ही क्षण ममतामय परिणामो के कारण गधी या कुतिया के पेट से जन्म धारण करते हैं ।

अरे रे ऐसे अनन्त भव व्यतीत करने पर भी यह जीव नही चेता अब पुन वह अवसर आया है । तो हे भाई पर की चिन्ता छोडकर तेरा अपना कल्याण कसे हो उसका विचार कर तू अपना सुधार कर अपने हित के लिये तू अन्तमु ख होकर स्वभाव मे देख और अपने पूण स्वरूप को लक्ष मैं लें । भाई यह शरीर तो क्षण भर मे टूट जायेगा । बाह्य जगत मे चाहे जो हो,

परन्तु तू अपने आत्मा को समझ। उसे समझने से ही तेरा कल्याण होगा और भव का अन्त आयेगा। भव समुद्र मे डूबते हुए जीवो से धर्मात्मा सन्त कहते है कि हे जीव तेरे अपने हित के लिये यह बात है, अपनी आत्मा को उबारने की यह बात है। मरते समय अपनी आत्मा ही तुम्हे शरणभूत होगी इसलिये उसे जानने का प्रयत्न करो।

१७ आत्मस्वरूप

कुन्दकुन्द महाराज ने कहा कि भाव ही प्रथम लिङ्ग है। द्रव्य लिङ्ग परमाथ नही है। अर्थात् भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग परमार्थ को सिद्ध करने वाला नही है गुण और दोषा का कारण भाव ही है। भाव विशुद्धि के लिये बाह्य पि ग्रह याग किया जाता है। जो अभ्यन्तर परिग्रह से सहित है उसका बाह्य याग निष्फल है। भाव रहित साधु यद्यपि कोटि काटि ज म तक हाथा का नाचे लटकाकर तथा वस्त्र का परित्याग कर तपश्चरण करता है तो भी सिद्धि को प्राप्त नही हाता। भाव के बिना इस जीव ने नरकादि गतियो मे दुख भागे है। भाव के बिना इस जीवने अनन्त ज म धारण कर माताओ का इतना दूध पिया है कि उसका परिमाण समस्त समुद्रो के सलिल से भी अधिक है। भावो के बिना इस जीव ने मरण कर अपनी माताओ को इतना रुलाया है कि उनके नेत्रो का जल समस्त समुद्रो के जल से कही अधिक हो जाता है। भावो के बिना इस जीव ने अन्तमु हर्त म छयासठ हजार तीन सा छत्तिस बार ज म मरण प्राप्त किया है। बाहूबली तथा मधुपिं ग क दृष्टा त देकर मुनि को भाव शुद्धि के लिये प्ररित किया गया है। भ यसेन मुनि अग और पूव क पाठी होकर भो भाव श्रमण अवस्था को प्राप्त नही हो सके और शिवभूति मुनि मात्र तुषमाष का बार बार उ चारण करते हुए (न किसी से राग करो न द्व ष करो) केवल ज्ञानी बन गये। निष्कष क रूप मे कु दकुन्द स्वामी ने बतलाया है कि भाव से नगन हुआ जाता है। बाह्यलिग रूपमात्र नग्न भेश से क्या साध्य है। भाव सहित द्रव्यलिंग द्वारा ही कम प्रकृतियो के समूह का नाश होता है। भावलिगी साधु कौन होता है इसके उत्तर म कहा है-जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है मान कषाय से पूणतया निमु क्त है तथा जिसकी आत्मा आत्म स्वरूप मे लीन है वही साधू भावलिंगी होता है। भाव लिंगी साधु विचार करता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक नित्य आत्मा ही मेरा है। कर्मों क सयोग से होने वाले भाव मुझसे बाह्य भाव है। वे मेरे नही है। जिन धर्म की उत्कृष्टता का वर्णन करत हुए कहा है कि जिस प्रकार रत्नो म हीरा और वृक्षो के समूह मे च दन उ कृष्ट है उसी प्रकार धर्मो मे ससार को नष्ट करने वाला जिन धम उत्कृष्ट है। पुण्य और धम की पृथक्ता सिद्ध करते हुए श्री कुन्दकुन्द चाय कहते है कि पूजा आदि शुभ कार्यों मे व्रत सहित प्रवृति करना पुण्य है ऐसा जिनमत मे जिने द्र देव ने कहा है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा

का जो परिणाम है वह धम है धर्म का यही लक्षण इ होने (चारित्र खलु धम्मा) इस गाथा द्वारा प्रबचनसार मे कहा है। लोक मे जो पुण्य को धम कहा जाता है वह कारण मे काय का उपचार कर कहा जाता है। जो मनुष्य सम्यग्दशन से रहित हैं वे भले ही हजारो कराडो वर्षों तक उत्तमता पूवक कठिन तपश्चरण करे तो भी उन्हे रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता है।

जो पुरुष सम्यकत्व ज्ञानदर्शन बल और वीर्य से वृद्धि को प्राप्त हो रहे है तथा कलिकाल सम्बन्धी मलिन पाप से रहित हैं वे सब शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते है जिसका दर्शन मोह नष्ट हो गया है ऐसा जीव आत्मा के यर्थाथ स्वरूप को जानने लगता है। उसका अनुभव करने लगता है और वही जीव यदि राग द्व ष को छोड देता है तो शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है मिथ्या दर्शन के नष्ट होने से आत्म यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान और बाध हो जाता है तथा रागद्व ष के छोड़ने से शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिसका मिथ्या दर्शन नष्ट हो गया ऐसे जीव को रागद्व ष का नाश करने के लिए सदा जागरूक रहना चाहिए क्योकि य चोरो की भाति शुद्धात्म तत्त्व रूपी चिन्ता मणि को चुराने मे सदा प्रयत्न शील रहते है।

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी बतलाते हैं —

पहले अज्ञान अवस्था में यह आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता बनता था परन्तु सम्यग्ज्ञान के प्रकट होने पर अब वह अपने आप को कर्मों का कर्ता और भोक्ता नही मानता—पहिले अज्ञान दशा मे कर्मों के बन्ध और मोक्ष के विकल्प मे पडा हुआ था पर अब निश्चय दृष्टि प्रकट होने पर बन्ध और मोक्ष के विकल्प से दूर हो गया–पहिले द्रव्य कम और भाव कर्म के साथ सम्बन्ध होने मे अशुद्ध हो रहा था परन्तु अब उभय विध कर्मो का सम्बन्ध टूट जाने से अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त हो गया है पहले इसका क्षायोपशमिक ज्ञानरूपी प्रकाश रागद्वेष से सपृक्त (ढका) होने के कारण अपवित्र तथा अस्थिर था। परन्तु अब इसका क्षायिक ज्ञानरूपी प्रकाश रागद्व ष से सर्वथा रहित होने के कारण पवित्र और स्थिर है। पहले इसका ज्ञानादिरूप वभव मेघ मण्डल मे छिपी विद्यल्लता के समान प्रकट होता और फिर तिरोहित होता रहता था पर अब इसका ज्ञानादि रूप वभव टाकी से उकेरे हुए के समान सदा के लिये प्रगट हो चुका है ऐसा यह ज्ञान पुञ्ज अनन्त ज्ञान की राशि स्वरूप आत्मा प्रकट हो रहा है। जीवत्व गुण के समान कतृ त्व आत्मा का स्वभाव नही है क्योकि कर्तत्व यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण होता तो मुक्ति अवस्था मे भी इसका अस्तित्व पाया जाता। अत यह प्रतीति हाता है कि मोहादि विभाव

भावो का निमित्त पाकर अज्ञानी आत्मा कर्ता बनता है परमार्थ से करता नही है। जैसे मद्यपायी मद्य के नशा मे उन्मत्त बनता है स्वभाव से उन्मत्त नही होता। यहा पर इसे स्पष्ट करने के लिये के उदाहरण है।

एक बार एक राजा हाथी पर बठा हुआ मन्त्री के साथ वन क्रीडा के लिए जा रहा था मार्ग मे एक तन्तुकाय भी मद्य पान कर जा रहा था राजा को देखकर वह कहता है कि क्यों रे हाथी बेचेगा क्या मूल्य लगा राजा इस वाक्य को श्रावण कर एक दम क्रोधित हो उसे दण्ड देने की आज्ञा देना ही चाहता था कि मन्त्री ने कहा महाराज दो घण्टे के अनन्तर ही इसे दण्ड देने की आज्ञा दीजिये अभी यह बराक अपने मे नहीं है राजा ने मन्त्री के वाक्य को श्रवण कर तथास्तु कहा। अनन्तर वह राजा वन विहार से निवृत होकर जब राज सभा मे सिंहासन रूढ हुआ तब मन्त्री की आज्ञा से वह मद्य पायी तन्तुकाय बुलाया गया महाराज ने उससे प्रश्न किया हाथी खरीदोगे वह बेचारा महाराज के वाक्य श्रवण कर कम्पित हो गया और कर मुकलित कर नम्री भूत मस्तक ही विनय के साथ उत्तर देता है। भो प्रभो हाथी खरीदने वाला तो अभी नही है वह भाव तो तभी तक था जब तक मद्य का नशा था इसी तरह जब तक यह आत्मा मोह मदिरा के नशा मे उन्मत्त रहता है तब तक ही पर पदार्थ कर्ता बनता है उस नशा मे ससार भर के पदार्थों का कर्ता आप तो बनता है ठीक ही है परन्तु निर्विकार आनन्द स्वरूप विज्ञान घन विकल्प जाल विमुक्त जो परमात्मा हैं उन मे भी इस अज्ञान दशा मे जाय मान कर्तापन का आरोप करता है। अज्ञानवस्था मे जो जो विकार न हा सो थोडे हैं।

१८. उदासीनता

उदासीन श्रावक समाधि पर्वक देह छोडना चाहता है जब शरीर छूटना मालूम पड जाता है तथा धर्म मार्ग में शरीर कार्य नही करता है तब धर्मात्मा जीव सल्लेखना मरण करना चाहता है अपनी शक्ति देखकर प्रथम चारो प्रकार के आहार का त्याग कर दूध लेने की इच्छा रखता है। शरीर की अवस्था विशेष जीण देखकर तथा अपना परिणाम सोचकर दूध छोड छाछ लेने का भाव करता है। बाद में छाछ छोड कर मात्र जल लेने का भाव करता है। अन्त मे जल छोडकर शरीर का त्याग न होवे तब तक उपवास करता है। उसी का नाम सल्लेखना मरण है। सल्लेखना मरण मे प्रधान रूप से कषाय छोडने का लक्ष्य है और कषाय छूटने से पर पदार्थ का त्याग स्वयं हो जाता हैं।

उदासीनता—ससार मे वही मनुष्य परमात्म पद का अधिकारी हो सकता हैं जो ससार से उदासीन हो। जो कुछ होता है। प्रकृति के नियमानुसार होता हैं। उसमे कर्तृत्व बुद्धि का त्याग करना ही उदासीनता है। विषय कषायो मे स्वरूप से शिथिलता आ जाने का नाम उदासीनता है। भव्य जीव-जिस ससार के दुख से भगवान डर गए तुम नहीं डरसे बडे बलवान हो। जो सर्प घर मे बठा है। उसे निकालो यही संवेग है। जिन्हे ससार से भय नही वे क्या डरेंगे। उदासीनता ही वराग्य की जननी और ससार की जड काटने वाली हैं। उदासीनता का अर्थ है पर से आत्मीयता छोडो। कल्याण का उदय केवल लिखने पढने या घर छोडने से नही होगा अपितु स्वाध्याय करने और विषयो से दूर रहने से होगा। उपेक्षा भाव उदासीनता का पर्यायवाची है। और चित्त में रागद्वेष रूप विकल्प का न होना ही उपेक्षा भाव है। निरपेक्षता ही आत्म विकास का मुख्य कारण है। मानव जीवन मे जिसने यह गुण सम्पादन न किया उसने कुछ नही किया। जसे कमल जल मे रहकर भी उससे जुदा है वसे ही अनात्मीय भावो से अपने को जुदा अनुभव करना ही उदासीनता है। उदासीन वे हैं। जो सब कुछ करते हुए भी उसमे लिप्त नही होते। चाहे पजा करो चाहे जप तप संयम करो पर एक बात ध्यान में रखो कि संसार की कोई भी वस्तु तुम्हे लुभा न सके।

समाधि मरण—समाधि मरण के लिए भाव प्रायः निर्मल होने

चाहिये। जिनका उत्तम भविष्य है उनकी घार उपसग आदि (समाधि मरण के विरुद्ध प्रबल कारणो) के उपस्थित होने पर भी उत्तम गति हुई है इसलिए निमित्त करणो के ही जाल में फँसे रहना अच्छा नही। समाधि मरण क लिए आत्म परिणामो का निर्मल करने मे ही अपना पुरुषार्थ लगा देना चाहिये क्योकि जिन जीवो के निरन्तर निर्मल परिणाम रहते है वे नियम मे सद्गति के पात्र होते हैं। समाधि मरण करने वालो को बाह्य कारणो का गौण कर केवल रागादि का कृशता पर निरन्तर उद्यत रहना श्रयस्कार है। समाधि के लिए आचार्यों की आज्ञा है कि काय को कृश करने से पहले कषाय का कृश करो क्योकि काय पर द्रव्य है। उसकी कृशता और पुष्टता न तो समाधि मरण मे साधक है और न बाधक। जबकि कषादि अनादि काल से स्वभाविक पद को बाधक है। समाधि मरण के समय प्रज्ञा होना आवश्यक है। क्योकि प्रज्ञा एक ऐसी प्रबल छनी है कि जिसके पडते ही बन्ध और आत्मा जुदे जुदे हो जाते है। आत्मा और अनात्मा का ज्ञान कराना प्रज्ञा के आधीन है। प्रज्ञा के द्वारा जिसका ग्रहन होता है वही चतन्य रूप मै हू। सके सिवा अन्य जितने भाव है। निश्चय से पर द्र य है। पर पदाथ है। जिसक मोह निकल जाता है उसे एक आत्मा ही आत्मा का बोध होने लगता है। उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञयो की और जाती ही नही। ऐसी दशा मे आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा के लिए आत्मा से आत्मा मे ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षट-कारक रूप हो जाता है। समाधि निस्पृह पुरुषो को तो निरन्तर रहती हैं परन्तु जन्मान्तर होने का ही नाम मरण है। और जहाँ सम्यग्भाव स मरण होता है उसे समाधि मरण कहते है।

१६ मौनव्रत

मौन व्रत का प्रयोजन सासारिक चिन्ताओ से मन की वृत्ति का निरोध कर रागादिक को कृश करना है। यदि इस ओर दृष्टि नही गई तो मौन रखने से कोई विशेष लाभ नही। मौन का यह अर्थ है कि उस दिन अपना अभिप्राय काय द्वारा व्यक्त न करना तथा लिखकर भी प्रकट न करना यदि कषाय नही घटी तो बोलने मे क्या हानि है। सबसे उत्तम मौन तो वह है कि उस दिन अपनी वृत्ति को स्वाधीन रखा जाय। मौन व्रत तो वह कहलाता है जिसमे बालने की कषाय न हो। केवल ऊपर से न बोलना मौन व्रत नही। जहाँ बोलने की इच्छा होगी वही पर प्राणियो से ससर्ग कीं लालसा होगी जो कि मूर्च्छा है। इससे छूटने के लिये मौन व्रत सबसे अच्छा है। यदि बाह्य-वचन की प्रवृत्ति नही भी है। किन्तु अन्तरग रागादिक की शृ खलापूर्वत् वृद्धि रूप हाती गई। तब उस मोन से केवल लोगो की व्यञ्चना के लिये तथा अपनी प्रतिष्ठा के लिये इस व्रत का सदुपयोग नही प्रत्युत अन्तरङ्ग मे कषाय की प्रचुरता होने मे वह व्रत नही व्रताभास है और उसका फल अधोगति है। मौन रखने की आवश्यकता ही नही। यदि पर को अपना मानना छोड दो तो अनायास मानोक्ति व्यापार उस ओर नही जायेगा। जसे केवल परिग्रह के न होने से अपरिग्रह ही नही किन्तु मूर्च्छा के अभाव से अपरिग्रह ही होता है। वसे ही केवल मु ह से न बालने मे मौन व्रती नही किन्तु बोलने की कषाय के अभाव से मौनव्रती होता है। मौन का प्रयोजन रागादि को कृश करना है। अत अन्तरङ्ग मे रागादि को कृश करना है। अत अन्तरग मे रागादि को स्थान मत दो। जब तक तुम्हारी भावना सराग न होगी कदापि रागादि नही हो सकते।

तीन बल—सासारिक आत्मा मे तीन बल होते है। कायिक वाचनिक और मानसिक। जिनके ये बलिष्ठ होते हैं वे ही जीवन का वास्तविक लाभ ले सकते हैं।

(१) जिनका काम बल श्रेष्ठ हैं। वे मोक्ष पथ के पथिक बन सकते है। अत शरीर को पुष्ट रखना आवश्यक है। किन्तु इसी के शोषण मे सब समय न लगाया जावे दूसरे (शरीर) की रक्षा स्वात्मरक्षा की ओर दृष्टि रखकर ही की जाती है अपने आपको भूल कर नही।

(२) जिनम वचन बल था उन्ही के द्वारा आज तक मोक्ष-मार्ग की पद्ध त का प्रकाश हो रहा है और उन्ही की अकाटय युक्तियो और तर्कों के द्वारा बड-बड वादियो का गव दूर हुआ है। जिनके वचन बल नही वह मोक्ष मार्ग की प्राप्ति करने मे अक्षम हैं।

(३) मानव जीवन राज्य है मन उसका राजा है इन्द्रिया उसकी सेना हैं कषाय शत्रु हैं। यदि मन विवेकशील हैं तो इन्द्रिया सदा सचेत रह कर कषाय शत्रुओ को पराजित करती रहती हैं। ससार मे जितने व्यापार हैं व सब मनोबल पर अवलम्बित हैं। मनोबल ही बल है। इसके बिना असैनी जीवो मे सम्यग्दर्शन की योग्यता नही। मनोबल मे वह शक्ति है जो अनन्त जन्मार्जित कलको की कालिमा को एक क्षण मे पृथक कर देती हैं। जिससे आतमहित की सम्भावना है (मन को) कष्ट मत दो। उसे प्रत्येक कार्य करने से रोको। यदि वह दुबल हो जायेगा। तो आत्महित करने मे अक्षम हो जाओगे। सब दोषो मे प्रबल दोष मन की दुर्बलता है। जिनका मन दुर्बल हैं वे अति भीरू हैं और भीरू मनुष्य के लिये संसार मे कोई स्थान नही। वर्त मान मे हम लोग कषाय से दग्ध हो रहे हैं जिससे तीनो बलो की रक्षा का एक भी उपाय हमारे पास नही हैं।

जिनके तीनो बल श्रष्ठ हैं वे इस लोक मे सुखी हैं और परलोक मे भी सुखी रहेगे।

२० परिग्रह पिशाच

अधिक सम्पत्ति सदाचार की शिक्षिका नही दुराचार की दूती है। संसार मे पाप का मूल परिग्रह हैं। इसका जिसने सम्बन्ध किया उसी का ससार में पतन हुआ। आज यदि इस परिग्रह मे मनुष्य आसक्त न होते तब यह समाज वाद या कम्युनिष्ट क्यो होते आज यदि परिग्रह के धनी न होते होते तब ये हड़ताले क्यो होती यदि परिग्रह पिशाच न होता तब जमीदारी प्रथा और राज सत्ता का विध्वस करने का अवसर न आता। जिनको इसका स्वरूप परिज्ञात ही नही वे इसे दूर न करें तब इसमे आश्चर्य की कथा ही क्या आश्चय तो इस बात का है कि जिनके विद्वान हैं वे स्वय इसके द्वारा पराभूत हैं आवश्यकताये ता इतनी हैं कि ससार के सब पदार्थ भी मिल जाव तो भी उनकी पूर्ति नही हो सकती। अत किसी की आवश्यकता न हो यही आवश्यकता है। जो कहता है हमने परिग्रह छाडा वह अभी सुमार्ग पर नही आया राग भाव छाडने से पर पदाथ स्वमेव छूट जाते हैं। वास्तव मे गृह भार अन्य कुछ नही अपनी ही मुर्च्छा ने यह रूप दे रखा है कि उसे हेय जानता हुआ भो यह जीव उस त्याग नहीं सकता मुर्च्छा के अभाव मे चक्रवर्ती की विभूति का भार नही और मुर्च्छा के सद्भाव में एक फूटी कानी कौडी भी भार हैं। मन मे नाना विकल्प होते हैं। उनकी शान्ति का उपाय केवल कषायो का उपशमन करना है। कषायो के दूर करने का उपाय पर पदार्थों मे मूर्च्छा का त्याग है अत मूर्च्छा का त्याग ही मुख्य कार्य है। जो सुख अकिञ्चीन होने से होता है वह कोपीन मात्र परिग्रह के सद्भाव मे भी नही होता। ससार मे परिग्रह ही पाँच पापों के उत्पन्न होने मे निमित्त होता है जहां परिग्रह है वहा राग है। जहाँ राग हैं वहीं आत्मा के आकुलता रूप दुख है और वहीं सुख गुण का घात हैं। सुख गुण के घात का ही हिंसा है।

दान—लोक केवल दान देने मे महान पुण्य समझते हैं ठीक भी हैं परन्तु उसके साथ ही दृष्टि भी आत्मीय गुणो विकास में जानी चाहिये दान से जो लोभ कषाय का त्याग होता है उस ओर हमारी दृष्टि नहीं मनुष्य जिस वस्तु का दान करता है। उसे अपनी समझता है। इसी से अहं बुद्धि होती है यही संसार भ्रमण का कारण है। अत दान करने से धन को धन गया और संसार के पात्र हुए। आजकल लोग अभ्यन्तर से मान कषाय के अभिलाषी हैं

यही कारण है कि उसी जगह दान करना चाहते हैं जहा अधिक से अधिक व्यक्ति उनकी प्रशशा कर। शहरो मे जा दान की पद्धति है वह अपनी प्रसिद्धि के लिये है। ससार मे हमारी ख्याति हो जहा यह भावना है वहाँ लोभ के सिवा कुछ नही। ससार मे जो मनुष्य नाम के लोभ से दान देते हैं मेरा समझ म ता उनके पुण्य ब ध भी नही होता।

पहले लाभ कषाय से ग्रहण किया था अब मान कषाय से त्याग रहे है। कषाय से पिण्ड न छुटा पर हा इतना हुआ कि दानी कहलाने लगे। दान मे अनु ाग रखने स उसका जो फल मिलता है वह लौकिक विभूति ही ना है परमाथ ता नही। वस्तु दान के समय उच्च जनो के विचार कर सकीर्ण हृदय मन हाआ पर वस्तु के देने मे सकोच करना तथा लघु गौरव भाव की मन म कल्पना करना अपनी आत्मा को लघु बनाने का प्रयत्न है। दु खी को दान दिया इसमे क्या किया अपना दु ख दूर किया न कि दूसरे को। दान पहले पात्र बुद्धि से होता था। अब हम तुम्हारा उपकार करते हैं इस बुद्धि से दान देते हैं। वस्तुत लोभ के त्याग को ही दान कहते हैं अभ्यन्तर प्रवृत्ति मे जो कषाय है। सका त्याग जो कर देता है वही सत्यपथानुगामी दानी है।

बहिरग आहार औषधि ज्ञान तथा अभय ये त्याग के चार भेद है। दाता को हृदय से जब तक लोभ कषाय निवृत्ति नही हाती तब तक वह किसी के लिये एक एक पाई भी देने के लिये तयार नही होता पर जब अन्तरङ्ग स लोभ निकल जाता है। छ खण्ड का वभय भी दूसरे क लिये सौंपने मे देर नही लगती। दान मे स्व व पर दाना का कल्याण होना इष्ट है।

मुनि ने श्रावक से आहार लिया श्रावक ने भक्ति पूवक दिया। दोनो का कल्याण हुआ दाता का तो इसलिये हुआ कि उसकी आत्मा से लोभ कषाय निवृत्ति हुई (और भ ि त भाव के द्वारा सातिशय पुण्य का लाभ हुआ) मुनि का इसलिये हुआ कि आहार पाकर उसके शरीर मे स्थिरता आई जिससे वह रत्नत्रय की वृद्धि करने मे समथ हुआ।

त्याग से ही ससार मे सब काम चलते हैं। यदि नाव मे पानी बढ रहा हा तो दोनो हाथो से उलीच कर उसे बाहर करना ही बुद्धिमत्ता है। इस प्रकार यदि घर मे सम्पत्ति बढ रही है तो उस दान के द्वारा उत्तम कार्य मे खच करना ही उसकी रक्षा का उपाय है। सामाजिक व राष्ट्रय हष्टिकोण से भी त्याग का बड़ा महत्व है।

जिस ग्राम मे मन्दिर और मूर्तियो की प्रचुरता है यदि वहाँ पर मन्दिर न बनवाया जाय तथा गज रथ न चलाया जाय तो कोई हानि नही है। वही द्रव्य दरिद्र लोगो के स्थितिकरण मे लगाया जावे। बालको को शिक्षित बनाया जावे तो क्या धर्म नही हो सकता।

प्रभावना दो तरह से होती है एक तो पुष्कल द्रव्य का व्यय कर गजरथ चलाना और दूसरी वह है जिसकी लोग आज अत्यन्त आवश्यकता बतलाते हैं। वह यह कि हजारो दरिद्रो को भोजन देना अनाथो को वस्त्र देना आजिविका विहीन मनुष्यो को आजीविका मे लगाना स्थान-स्थान पर ऋतुओ के अनुसार धर्मशालायें बनवाना और लोगो का अज्ञान दूर कर उनमे सम्यग्ज्ञान का प्रचार करना। ऐसा दान करो जिससे साधारण लोगो का भी उपकार हो। ऐसे विद्यालय खोलो जिससे यथाशक्ति सबको ज्ञान लाभ हो। ऐसे औषधालय खोलो जिनमे शुद्ध औषधियो का भण्डार हो ऐसे भोजनालय खोलो जिनमे शुद्ध भोजन का प्रबन्ध हो। अनाथो को भोजन दो। अनुकम्पा से प्राणि मात्र को दान का निषेध नही। इस प्रकार ज्ञान दान औषध दान-आहार दान व अभयदान ऐसे चतुर्विध दान देकर प्राणियो को निर्भय बना दो।

वर्तमान मे अनेक मनुष्य अन्न के बिना अपना धर्म छोडकर अन्य धर्म अङ्गीकार कर लेते हैं। कोई उनकी रक्षा करने वाला नही। द्रव्य का सदुपयोग यही है कि दुखी प्राणियो की रक्षा मे लगाया जावे।

२१ इन्द्रिय सयम

पर्याय की सफलता संयम से है। मनुष्य पर्याय की देव पर्याय से भी उत्तमता इसी सयम की मुख्यता से है। अन्तरङ्ग की निमलता बाह्य क्रियाओ से अनुमापित करना प्राय असम्भव है। सयम ही आत्मा को कन्याण पथ मे सहायक है। सयम का यह अथ है कि पचेन्द्रियो के विषयो से विरक्त रहना मन के विकल्प मेटना-किसी को प्रसन्न करने से सयम की रक्षा नही हो सकती। सयम की रक्षा निरपेक्षता से ही हो सकती हैं। विषय लिप्सा ने जग को अन्धा बना दिया है। जगत को अपनाना ही अपने पतन का कारण है। हे तात् यदि आप मुक्ति की अभिलाषा रखते हो तो विषयो को विष के सहश जान त्याग करो और क्षमा आजव पर जीवानुकम्पा पवित्रता तथा सत्य धम को अमृत के सहश सेवन करो। जिन जीवो ने पञ्चेन्द्रिय के विषय मे अनुराग त्याग दिया है उनके शेष (क्षमा आदि) धम अनायास ही आ जाते है। इन्द्रियो का दास सबसे बडा दास है। रसनेन्द्रिय की प्रबलता भवगन मे पतन का कारण है। जो घ्राणेन्द्रिय के दास है लौकिक इत्र तेल फूल आदि की सुगन्ध के आदी है उन्हे आत्मोन्नति कुसुम की सुखावह गन्ध नही आ सकती। जो पर का रूप देखने मे लगे रहेगे उन्हे अपना रूप दिखाई नही दे सकता। सुखी ससार का गाना सुनने की अपेक्षा दुखी दुनिया का रोना सुनना कही अच्छा है। स्पशन इन्द्रिय क क्षणिक सुख का लौलुपी हाथी कागज की हस्तिनी के लिये गडढ मे गिर जाता है। इन्द्रिया की दासता मे जो मुक्त हुआ वही महान है। सयम कोई ऐसी वस्तु नही जिसे हम पालन न कर सके। इन्द्रिया के के द्वारा विषया का अवबोध होता है तो होने दो परन्तु विषयो मे राग बुद्धि न हो यही सयम धारण करने का मुख्य उपाय है।

जो मनुष्य विजयी होत हैं वे इन्द्रिया से आत्महित का काय-दशन पूजन तीथयात्रा परिश्रम आदि यथेष्ट काम लते हैं जिस तरह रईस लाग घोड पर सवारी करके घाड से मनमाना काम लेते है। जबकि इन्द्रिय लोलुपी मनुष्य इन्द्रियो की सवा मे लगे रहते है। जिस तरह सईस घोड की सवा तो किया करता है किन्तु उसके ऊपर कभी सवारी नही कर पाता।

घोड को यदि लगाम न लगी हो तो घोडा बेकाबू होकर अपने सवार को किसी गड्ढे मे गिरा देता हैं इस तरह इन्द्रिया पर आत्मा यदि अकुश न

लगाये ता इन्द्रियाँ भी आत्मा का दुर्गति मे डाल दती हैं। इस कारण अपनी इच्छाओ पर निय-त्रण लगाकर इन्द्रियो को अपने वश मे रखना आवश्यक है।

महाव्रती मुनि अपनी समस्त इन्द्रियो पर पूण निय-त्रण रखते हैं। मन को उग्र नही होने देते राग द्व ष की कीचड से बचाकर निमल रखते हैं तथा समस्त जीवो की रक्षा करते हैं। इस कारण उनमे उत्तम सयम होता है। गृहस्थो को भी अधिक से अधिक जितना हो सके उतना इन्द्रियो पर अकुश लगाकर त्रस स्थावर जीवो पर दया भाव का आचरण करते रहना चाहिये।

आहार सयम

सब रोगो का मूल कारण भोजन विषयक तीव्र गृद्धता है यदि रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त न हो सक तो समझो कि किसी (इन्द्रिय) पर भी विजय प्राप्त नही कर सकते। ससार के कारण रागादिका म भोजन की लिप्सा ही प्रधान कारण है। अत जिसने रसनेन्द्रिय को नही जीता उसे उत्तम गति होना प्राय दुलभ है। जिह्वा लम्पटी आकण्ठ तृप्ति को करते हुए नाना रोग के पात्र तो होते ही हैं साथ ही लालच वशीभूत होकर दुर्वासना के द्वारा अधोगति के भी पात्र होते हैं। रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना सबसे हित कर है। जो वस्तु जिस समय पच सके वही उस काल मे पथ्य है। औषध का सेवन आलसी और धनिको के लिये है। भाजन प्रक्रिया को सरल बनाओ। भाजन मे शाहीपना रोग का मूल है। भोजन मे लोग आडम्बर से राजी है खाने वाले भी इसी मे आनन्द मानते हैं। चाहे पीछे भले ही लालच बढ जावे दुदशा हो जावे बीमारी का सामना भी करना पडे। भोजन वही हितकर होता है जो सादा हो। जिस भोजन मे आडम्बर हैं वह भोजन नही केवल स्वाद की विडम्बना है। भोजन म लिप्सा का त्याग करना उत्तम पुरुषा का कत्तव्य है। राजस भोजन दपकर होता है प्रमाद का जनक होता है लम्प टता का कारण है अधिक व्यय साध्य और अस्वास्थ्यकर हैं। पर के घर अतिथि बनकर भोजन करना अपरिग्रही जीवो को ही अच्छा लगता है। वैसे पराया माल किसे बुरा लगता है। परन्तु इस तरह भोजन भट्ट बनकर पराये माल से देह पोषण करना पामरो का ही काम हैं। भोजन करना सरल है परन्तु भोजन करके उसके प्रति कुछ उपकार करना चाहिये। बिना प्रत्युपकार किये भोजन करना एक तरह का समाज के ऊपर भार है। जिस व्रत के लिये अन्न का सादा भोजन छोडकर बहुमूल्य पदार्थ या फल संचित किये जाय वह व्रत नही अव्रत है धम नहीं अधर्म है। जहा जहा राग परिणाम हैं वहां धर्म की गन्ध नहीं।

२२ बन्ध का कारण अज्ञान

अज्ञान के कारण मृग तृष्णा मे जल की भ्रा ति वश मृगगण पानी पीने को दौडा करते हैं । अज्ञान के कारण मनुष्य रस्सी मे सर्प क भ्रम से भागते हैं । जसे पवन के वेग से समुद्र मे लहरे उत्पन्न हाती हैं उसी प्रकार अज्ञान वश विविध विकल्पो को करते हुए स्वय शुद्ध ानमय हाते हुए भी अपने को कर्त्ता मानकर य प्राणी दु खी होते है । यहा मिथ्या भाव विशिष्ट ज्ञान को अज्ञान मानकर उस अज्ञान की प्रधानता की विवक्षा वश उपरोक्त कथन किया गया है । यदि अ प भी ज्ञान बीतरागता सम्पन्न हो ता वह कमराशि को विनिष्ट करने मे समथ हो जाता है । (मुलाचार मे कु दकुन्द महर्षि ने कहा) धीर (सब उपसग सहन समथ) तथा विषयो से पूर्ण विरक्त व्यक्ति अल्प भी (सामायिकादि स्वरूप प्रमाण) ज्ञान को धारण कर कर्मों का क्षय करता है । वराग्य भाव शून्य व्यक्ति सब शास्त्रो को पढकर भी मोक्ष नही पाता है । जो चरित्र सयुक्त व्यक्ति है वह अ पज्ञानयुक्त होते हुए भी दशपूव के पाठी बहुश्रुतज्ञ से उत्तम है । जो चारित्रहीन है उसके बहुश्रत हाने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ।

टीकाकार वसुनादि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है —

श्लोक—स्तोके शिक्षिते पच नमस्कार मात्रऽपि परिज्ञाते तस्य स्मरणे सति जयति बहुश्रत दशपूर्व धरमपि करो यध ।

अथ—अल्पज्ञानी होने का अभिप्राय है कि पच नमस्कार मात्र का ज्ञान तथा स्मरण सयुक्त व्यक्ति यदि सम्यक चारित्र से सम्पन्न हैं तो वह दशपूव धारी महान ज्ञानी से आगे जाता है । सम्यक्चारित्र का महत्व ऊपर है ।

गाथा—ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि ण अत्थि
अत्थेसु सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि ।।२३७।।

—प्रवचनसार—

अर्थ—यदि तत्त्वार्थ की श्रद्धा नही है तो आगम के ज्ञानमात्र से सिद्धि नही प्राप्त होती हैं । तत्त्वो की श्रद्धा भी हो गई कि तु यदि वह यवित सयम अर्थात् चारित्र से शून्य है तो भी उसे मोक्ष का लाभ नही होगा (अमृतचन्द सूरि टीका मे लिखते हैं) सयम शू यात् श्रद्धनात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धि

संयम शून्य श्रद्धा अथवा ज्ञान से सिद्धि नही प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञानी उच्छ-वासमात्र मे उन कर्मों का क्षय करता है जिनका क्षय करोडों भवो में नही होता है। प्रमाण रूप में यह गाथा उपस्थित की जाती है। यहा निर्विकल्प समाधि रूप त्रिगुप्ति स्वरूप चारित्र की महिमा अवगत होती है। ससार के कारण रूप मन वचन तथा काय की क्रिया के निरोधरूप गुप्ति नामक सम्यक चारित्र हैं।

अत: सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र का सगम आवश्यक हैं। ससार के कारणो का क्षय करने के लिये जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओ के निरोध रूप ज्ञानी क जो कार्य हाता है उसे जिनेन्द्रदेव ने सम्यक चारित्र कहा हैं। इस आप्तवाणी के प्रकाश मे अल्पकाल मे होने वाली महान निर्जरा मे ज्ञान के स्थान मे सम्यक चारित्र का महत्व ज्ञात होता है। (शका) समयसार मे सम्यक्त्वी जीव के आस्रव और बन्ध का निरोध कहा है। इस कारण चरित्र का महत्व मानना उचित नही प्रतीत होता। (समाधान) समयसार मे उक्त गाथा के पश्चात की गाथा द्वारा यह स्पष्ट सूचित किया गया है। राग और द्वेष चारित्र मोहनीय के भेद है। चारित्र धारण किये बिना राग और द्वेष का अभाव सोचना अनुचित है। अत चारित्र की प्रतिष्ठा को किसी प्रकार क्षति नही प्राप्त होती। समयसार की ये गाथायें ध्यान देने योग्य हैं।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदोदु बन्धगोभणिदो।
रायादि विप्प मुक्को अबन्धगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

ववहारस्य दरीसणमुवए सो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा ॥४६॥

अर्थ– जीव के द्वारा किया हुआ जो रागादियुक्त भाव है वह बन्ध का ही करने वाला कहा गया है और रागादि से विमुक्त जो ज्ञायक भाव है वह अबन्धक कहा गया है। अर्थात् जहा रागादिक से कलुषित आत्मा का परिणाम है वही बन्ध होता है ओर जहाँ अन्तरंग मे रागादिक की मलिनता से रहित ज्ञायक भाव है वहाँ बन्ध नही होता है। इस आत्मा मे निश्चय से रागद्वेष मोह के सम्पर्क से जायमान जो भाव है वे अज्ञानमय ही हैं।

४६ गाथा का आशय

अर्थ—ये अध्यवसानादिक सब भाव जीव हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने जो उपदेश कहा है वह व्यवहारनय का मत है अर्थात् श्री जिनेन्द्रदेव ने अध्यवसानादिक सम्पूर्ण भावो को व्यवहारनय से जीव के है एसा कहा है।

जीव के द्वारा किया गया रागादिक भाव बन्धक कहा गया है। रागादि से विमुक्त अर्थात् वीतराग भाव अबन्धक है। वह ज्ञायक भाव कहा गया है।

सम्यक्त्वी के बन्ध पर आगम

ज्ञानी के बन्ध का सर्वथा अभाव मानने की धारणा आगम के प्रतिकूल है इस बात का स्पष्टीकरण समयसार की गाथा द्वारा होता है। उसमें यह कहा गया है कि जब सम्यक्त्वी के ज्ञान गुण का जघन्यरूप से परिणमन होता है तब बन्ध होता है। जिस कारण ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप से परिणमन करता है इस कारण वह ज्ञान गुण बन्धक कहा गया है।

जो अविरति युक्त सम्यक्त्वी को सर्वथा अबन्धक सोचते हैं। उनके सन्देह को दूर करते हुए टीकाकार अमृतचन्द स्वामी कहते हैं। (*यथा ख्यात चारित्रावस्था या अधस्तादवश्य भावि राग सद्भावात बन्ध हेतुरवेस्यत*) यथा ख्यात चारित्ररूप अवस्था के नीचे अर्थात् सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त नियम से राग का अस्तित्व पाया जाता है अतः उस राग से बन्ध होता है।

इस कारण दर्शन ज्ञान तथा चारित्र जघन्य भाव से परिणमते हैं अतएव ज्ञानी नाना प्रकार के पौदगलिक कर्मों का बन्ध करता है। जघन्य भाव का अर्थ सकषाय भाव है।—जयसेनाचार्य कहते हैं। जघन्य भावेन एक षाय भावेन (समसार की गाथा १७२)।

इस प्रकार आगम का कथन देखकर भी कुछ लोग यह कहा करते हैं। कि सम्यक्त्वी के बन्ध नहीं होता है। जो बन्ध है वह भी कथन मात्र है। यथार्थ में वह बन्ध रहित है। यह एकान्त पक्ष का समर्थन विशुद्ध चिंतन तथा आगम की देशना के प्रतिकूल है। जब अविरत सम्यक्त्वी के बन्ध के कारण अविरिति प्रमाद कषाय तथा योग रूप चार कारण विद्यमान हैं तथा उनके द्वारा चारों प्रकार कर्मबन्ध होता है तब उसके सर्वथा अबन्धपने का कथन करना उचित नहीं है। आगम के अनुसार अपनी श्रद्धा को बनाना विचारमान व्यक्ति का कर्तव्य है।

जिस षट खण्डागम सूत्र का सम्बन्ध क्रमागत परम्परा से सर्वज्ञ भगवान महावीर प्रभू की वाणी से है उस पूज्य आगम में कहा है।

सम्मादिट्ठी बन्धा वि अत्थि अबन्धा वि अत्थि (क्षुद्रक बन्ध भाग सूत्र २६) सम्यक्त्वी के बन्ध भी होता है अबन्ध भी होता है।

टीकाकार धवला टीका में कहते हैं। (कुदो सासवाणा सवेणु सम्मद्द सणु

वलभा) आस्रव नथा अनास्रव अवस्था युक्त जीवो के सम्यग्दशन की उपलब्धि होती हैं। सुक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अयोग केवली भगवान को निरास्रव कहा हैं। (णिरुद्ध णिस्सेस आस्रवो जीवो-गय जोगो केवली) आगम जब सर्वज्ञ सयोगी जिनको आस्त्रव रहित नही कहता हैं तब अविरति सम्यक्त्वी को निरास्रव मानना उचित नही। उत्तर पुराण मे गुणभद्र आचार्य ने कहा है कि विमल नाथ भगवान भाव उत्पन्न होने पर सोचते हैं (गाथा ३५ ३६) अप्रत्याख्यानावरण का उदय होने से मेरे चारित्र की गन्ध भी नही हैं बहुत मोह तथा परिग्रह युक्त चार प्रकार का कर्म बन्ध भी हो रहा हैं। मेरे सभी प्रमाद पाये जाते है। मेरे कर्मों की निजरा भी अत्यन्त अल्प प्रमाण मे हो रही है अहो यह मोह की महिमा है। जो मैं (तीर्थंकर होते हुए भी) इस ससार मे शिथिलता वश बठा हुआ हू।

रत्नत्रय का महत्व—इस कथन का यह अर्थ नही हैं कि चारित्र ही सब कुछ है। श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान का कुछ मूल्य नही है। यथाथ मे मोक्ष का कारण रत्नत्रय धम है। (सोमदेव सूरि ने पपूस्तितक मे मार्मिक बात कही है)। जिसस रत्नत्रय धम का महत्व स्पष्ट होता है।

सम्यक्त्व के द्वारा देव तथा मनुष्य गति मिलती हैं। ज्ञान के द्वारा यश का लाभ होता है तथा चारित्र से पुजापना मिलता हैं किन्तु मोक्ष की प्राप्ति सम्यक्त्व ज्ञान तथा चारित्र के द्वारा होती है।

रयणसार मे कुन्द कुन्द स्वामी का यह कथन सच्चे तत्वज्ञ का महत्व पूण लगेगा ॥ गाथा १७२ ॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञान के प्रभावो से कर्मों का क्षय करता हैं यह कथन करने वाला अज्ञानी है। मैं वद्य हू मैं औषधि को जानता हू क्या इतने जानने मात्र स व्याधि का निवारण हो जायगा।

विवेकी तथा पुरुषार्थी धर्मात्मा देव का दास न बनकर तथा नियति वाद का आदश न बनाकर आत्मशक्ति जिनेन्द्र भक्ति तथा जिनागम की देशना को अपने जीवन का आश्रय केन्द्र बनाकर सच्चारित्र होता हुआ उज्ज वल भविष्य का निर्माण करता है। कायर तथा पौरुष शून्य देव या नीयतिवाद की गुण गाथा गाते हुए पापपथ का परित्याग करने से डरते है वे प्रमादी अपने नर जन्म रूपी चिन्ता मणि रत्न को समुद्र मे फेक देते हैं। नियतिवाद का एकान्त मिथ्यात्व हैं।—आत्मा की शक्ति अपार है कर्म की शक्ति भी अद्भुत है। वह अनत शक्ति धारी तथा द्रव्यार्थिक दृष्टि स अनत ज्ञानवान

आत्मा को निगोदिया कि पर्याय में अक्षर के अनतवें भाग ज्ञानवाला बनाता हैं। कार्तिकेयानु प्रेक्षा म कहा है– पुद्गल कर्म की भी ऐसी अद्भुत सामथ्य है जिनके कारण जीव का केवल ज्ञान स्वभाव विनाश को प्राप्त हो गया हैं।

इसके लिए धनादि तथा इष्ट जनो का संपर्क त्यागकर वीतराग महा मुनि की दीक्षा लेक आगम की आज्ञानुसार रत्नत्रय धम को स्वीकार करना होगा। रत्नत्रय की तलवार के प्रचण्ड प्रहार द्वारा कम सन्य का सम्राट मोह नीय कम क्षय को प्राप्त होता है। जिन्होने रत्नत्रय रूपी खडग के प्रहार से मोह रूपी सेना के शिर समूह का नाश कर दिया है तथा भव्य जीव लोक का परिपालन किया है वे आचार्य महाराज प्रसन्न होवे।

२३ तत्वज्ञान की महिमा

कोटि जन्म तप तप, ज्ञानबिन कम झर जें।
ज्ञानी के छिन माहि त्रिगुप्ति त सहज टर ते ॥
मुनिव्रत-व्रत धार-अनन्त-बार ग्रीवक उप जायो।
प निज आतम ज्ञान बिना-सुख लेशन पायो ॥

अर्थ —उत्तर—जो जीव तत्त्वज्ञान से पराङ मुख हैं तथा तप से ही मोक्ष मानते हैं। उन्हे ऐसा उपदेश दिया जाता हैं कि तत्त्व ज्ञान के बिना मात्र तप से ही मोक्ष नही होता। तत्त्व ज्ञान होने पर आत्मा की दृष्टि हुई आस्रव की भावना छूट गई संयोग मे अनुकूलता प्रतिकूलता की दृष्टि छूट गई उसे आत्मा मे लीन होने पर इच्छा का निरोध होता है वह तप है।

श्री मद् राजचन्द्र जी ने कहा है कि यम नियम सयम कियो पुनि त्याग विराग अथाग लह्या वनवास लयो मुख मौन रह्यो दृढ आसन पद्म लगाय दिया।१। मन मौन निराध स्वबोध कियो हठ जोग प्रयोग सतार भयो जय भेद जपे तप योहि तप उरसेहि उदासि लही सय य।२। सब शास्त्रवन के नय धारिये हिये मत मडन खडन भेद लिये वह साधन बार अनत किये तदपी कछु हाथ हूजू न पर्यो।३। अब क्यो न विचारत है मनसे कछु और रहा उन साधन से। बिन सद्गुरू कोय न भेद लहे मुख आगल हैं कह बात कहे।४। करना हम पावत हैं तुम की वह बात रही सुगुरू गम की पल मे प्रकटे मुख आगल से जब सद्गुरू चर्न सुप्रम बसे।५। तन से मन से धन से सब से गुरू देव की आन स्व आतम बसे तब कारज सिद्ध बने अपनो रस अमृत पावहि प्रम धनो।६।

पच महाव्रत धारण किये बारह बारह महीने के उपवास किये जगल मे रहा मौन धारण किया तप करके सूख गया शास्त्र पढ ग्यारह अग का ज्ञान किया मत का मडल-खडन किया किन्तु परलक्ष छोडकर आत्मा का लक्ष नही किया। बाह्य साधन अनत बार किये किन्तु आत्म कल्याण नही हुआ सद्गुरू का समागम करके वस्तु का मर्म नही जाना।

यहां ऐसा कहा है कि जो तत्त्व ज्ञान से पराङ मुख है वह मिथ्या दृष्टि है। सातो तत्त्व पृथक-पृथक हैं—ऐसा जिसने यथार्थ नही जाना वह आत्मा से पराङ मुख है। और मात्र बाह्य तप से मोक्ष मानता है वह मिथ्या दृष्टि है। *

२४ मोक्ष मार्ग

णियमेण य अकज्ज तण्णियम णाण दसण चरित्तं ।
विवरीय परिहरत्थ भणिदं खलु सारमिदि वयण ॥ ३ ॥

अथ —आत्मा मे काय मोक्ष का कारण मोक्षमार्ग है । वह मोक्षमार्ग कार्य नियम है और उसका कारण ध्रव स्वभाव हैं वह कारण नियम हैं । उसमे काय नियम मे सम्यग्दशन ज्ञान चारित्र अर्थात् रत्नत्रय इन तीनो के स्वरूप का वणन करते ह ।

अब यहा सबसे पहिले सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हैं । पर द्रव्य का अवलम्बन लिये बिना नि शेषपने अन्तमु ख योग शक्ति मे से उपादेय (उपयोग को सम्पूर्णतया अन्तमु ख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परम तत्त्व का परिज्ञान वह सम्यग्ज्ञान हैं ।

शरीर मन वाणी अथवा देव गुरु शास्त्र इत्यादि किसी भी पर द्रव्य का अवलम्बन लिये बिना अन्तमु ख जो निजपरम तत्व का ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान है । पर सन्मुख भाव टाल कर नि शेषरूप से चतन्य भगवान आत्मा मे ही अन्तमु ख होकर उपादेय रूप जो अपना परम आत्म तत्व उसका जानना वह सम्यग्ज्ञान है । रागादि के अवलम्बन से सम्यग्ज्ञान नही होता । परलक्षी ज्ञान मोक्ष का कारण नही है । मोक्ष का कारण तो अन्तमु ख उपयोग से सीधा आत्मा का ज्ञान करना है । किसी भी पर का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान हो वह तो पर का जान पना है । पर के अवलम्बन से निरपेक्ष आत्म तत्व का ज्ञान नही होता ।

शास्त्र के अवलम्बन से होने वाला ज्ञान मोक्ष मार्ग नही है किन्तु जिसमे किसी भी पर द्रव्य का अवलम्बन नही ऐस अन्तमु ख निजात्म तत्व का ज्ञान ही मोक्ष मार्ग ह । सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र मोक्ष मार्ग है ऐसा तो सभी कहते ह । परन्तु उनका स्वरूप वर्णीय है वह यहाँ बताया जा रहा । (इसी प्रकार छ ढाला मे बताया है) ।

पर-द्रव्यनिते भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त भला हैं ।
आप-रूप को जानपनो सो सम्यक ज्ञान कला है ॥

आप-रूप मे लीन रहें थिर सम्यक चारित्र सोई।
अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये हेतु नियत को होई ॥

चतन्य के आश्रय से ही मेरा ज्ञान होता है। किन्तु पर के अवलम्बन से मेरा ज्ञान नहीं होता ऐसा जानकर उपादेय रूप निज परमात्म स्वभाव मे उपयोग लगाकर जो जानना हो उसका नाम सम्यग्ज्ञान रूपी नियम है। जहा ध्र व स्वभाव मे उपयोग लगाया वहा निजपरमात्म तत्त्व ही उपादेय हुआ ऐसे उपादेय रूप निजपरमात्म तत्त्व का परिज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। बाह्य मे दूसरे परमात्मा का ज्ञान करना तो शुभराग मे जाता है। अन्तर मे स्वस मुख उपयोग करके निज ध्रुव परमात्म तत्त्व का ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है और वह नियम से मोक्षमाग है। अकेला ध्रुव चतन्य स्वभाव है उसमे उपयोग को लगाकर जो आत्मा का ज्ञान हुआ वही सम्यग्ज्ञान है सम्यग्ज्ञान मे उपादेयता तो निजपरम शुद्ध आत्मा की ही है। ज्ञान अन्दर मे झुका तब उसमे अकेला परमात्म द्रव्य हो उपादेय रहा निमित्त विकल्प या व्यवहार उपादेय नही रहा। शास्त्र ऐसे ही आत्म स्वभाव को उपादेय बताते ह। ऐसा आत्मा को अ तमु ख होकर जाने तभी शास्त्र-पठन सच्चा कहा जाय किन्तु यदि निज परमात्म तत्त्व के अतिरिक्त किसी राग को निमित्त को अथवा व्यवहार को उपादेय मानकर अटक जाये तो उसका शास्त्र पठन भी सच्चा नहा है। अन्त मु ख उपयोग करके निरपेक्ष निरावलम्बी परम चैतन्य तत्त्व को जाने तभी सम्यग्ज्ञान हा और उसके शास्त्र ज्ञान को व्यवहार ज्ञान कहा जाय। ऐसे निज परमातत्त्व का अन्तमु ख सम्यग्ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। यहाँ नियमरूप मोक्ष माग बताना है इसलिए व्यवहार की बात नही ली गई है क्योंकि व्यवहार वास्तव मे मोक्ष मार्ग है नही।

२ अब सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं—भगवान परमात्मा के मुख के अभिलाषी जीव को शुद्ध अन्त तत्त्व के विलास का जन्म-भूमि स्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न जो परम श्रद्धान वह ही दर्शन है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा भी व्यवहार श्रद्धा है तो फिर कुदेव कुगुरु को माने उसकी तो बात ही कहां रही जैसे सम्यग्ज्ञान के साथ निज परमात्मा का अवलम्बन है वैसे ही सम्यग्दर्शन मे भी अकेले आत्मा का ही अवलम्बन हैं।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र यह तीनो परम निरपेक्ष हैं यहबात पहले बहुत स्पष्ट हो चुकी हैं। सम्यग्दर्शन शुद्ध जीवास्तिकाय के ही आश्रय से

उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन किसको होता जो जीव भगवान परमात्मा के सुख के अभिलाषी हैं अर्थात् जिन्हें चतुर्गति की अभिलाषा नही हैं स्वर्ग मे इन्द्रपद के सुख की अभिलाषा नही है। अर्थात् स्वग मे अपना सुख हैं ही नही सुख तो अपने परमात्म स्वभाव मे ही है मेरे चतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी पदाथ मे मेरा सुख नही है इस प्रकार जिसका अपने भगवान परमात्मा के सुख की अभिलाषा है ऐसे जीव का शुद्ध अन्तस्तत्व के विलास का जन्म स्थान निज शुद्ध जीवास्तिकाय हैं उसी की श्रद्धा स सम्यग्दर्शन हाता है।

अन्तर मे मेरा आत्मा सहजनन्द मूर्ति हैं वही मेरे सुखोत्पत्ति की जन्म भूमि हैं। चतन्य के सुख और आनन्द की अनुभव भूमि कौन अपना शुद्ध जीवतत्व ही आनन्दोत्पत्ति का स्थान है। मेरा आनन्द कही विषयो मे निमित्तो मे अथवा राग मे नही है देवपद मे भी नही—वह तो शुद्ध चतन्यतत्व मे ही है और वही मेरा आनन्द का जन्मस्थान हैं। ऐसे जीवास्तिकाय का परम श्रद्धान ही सम्यग्दशन है और वही नियम हैं माक्षाभिलाषी जीवो को ऐसे शुद्ध जीव का परम श्रद्धान नियम से कर्त्तव्य है अत वह सम्यग्दर्शननियम है।

ऐसे सम्यग्दर्शन अकेले चतन्यकन्द सहजानन्द की मूर्ति निरपेक्ष आत्मा के ही आश्रय से उत्पन्न होता है। किसी व्यवहार के निमित्त के अथवा राग के अवलम्बन से वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता। यहा तो अपने आत्मा को ही भगवान परमात्मा कहा हैं ऐसे भगवान परमात्मा के आश्रय से होने वाली परम प्रतीति ही सम्यग्दशन हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन होने के बाद ही चारित्र और मुनिदशा होती है इसके बिना मोक्षमार्ग होता नही।

सम्यग्ज्ञान भी अकेले अन्तस्त्त्व के आश्रय से हैं और सम्यग्दशन भी अकेले शुद्ध जीव तत्व के आश्रय स ही उत्पन्न होता है। सम्यग्दशन ज्ञान चारित्र को कही कुछ भी पर का अवलम्बन है ही नही रत्नत्रय तो पर से परम निरपेक्षा हैं उसे तो अकेले चतन्य का ही अवलम्बन है। ऐसा रत्नत्रय ही नियम हैं।

शुद्ध अन्तस्तत्व का विलास कहा से प्रकट होता है निज शुद्धजीव तत्व ही शुद्ध अन्तस्तत्त्व के आनन्द की जन्मभूमि है। सम्यग्दर्शनरूपी प्रज्ञा की उत्पत्ति अन्तर मे शुद्ध चतन्यतत्व से होती हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कही बाहर से उत्पन्न नही होता वह तो अन्तर स्थित भगवान परमात्मा शुद्धजीव तत्व के आश्रय से ही प्रगट होता हैं ऐसे निज परमतत्व का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन हैं।

अब सम्यक चारित्र का स्वरूप कहते हैं—निश्चयज्ञान दर्शनात्मक

कारण परमात्मा मे अविचल स्थिति (निश्चलरूप से लीन रहना) ही चारित्र हैं।

त्रिकाल चतन्य ज्ञायक ज्योति वह कारण परमात्मा हैं। जैसा ध्रुव आत्मा त्रिकाल हैं वसा ही उसका दर्शन ज्ञान भी ध्रुव त्रिकाल है। ऐसे निज कारण परमात्मा मे श्रद्धा ज्ञान पूर्वक अविचल स्थिति ही चारित्र है। शरीर की क्रिया अथवा पंच महाव्रत के विकल्प मे चारित्र नही है उसमें जो धर्म माने उसको तो सम्यग्दर्शन भी नही है।

सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक निजकारण परमात्मा मे निरन्तर लीनता होने का नाम चारित्र है। वहाँ बाह्य मे नग्न दिगम्बर दशा होती है किन्तु यहाँ तो अन्तरग के निश्चय चारित्र की बात है चारित्र तो अन्तर की लीनता मे है। ऐसी अन्तर्लीनता बिना पच महाव्रत का पालन करे और उस चारित्र माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। मोक्षमार्ग का चारित्र तो ध्रुव कारण परमात्मा मे लीनता करना ही है। निश्चय सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यकचारित्र को नियम सार कहकर व्यवहार ज्ञान-दर्शन चारित्र का अभाव बताया है। वह हो भले ही किन्तु मोक्षमाग ता ऐसा निश्चयज्ञान-दर्शन चारित्र ही हैं। व्यवहार रत्न त्रय मोक्षमार्ग नही हैं। सम्यग्दशन सहित भी जो पच महाव्रतादि व्यवहार चारित्र है वह सच्चा मोक्षमार्ग नही है अन्तर मे लीनतारूप निश्चय चारित्र ही सम्यक चारित्र हैं और वही नियम हैं।

इस प्रकार अन्तर मे निज परमात्मा द्रव्य के आश्रय से जो ज्ञान-दर्शन चारित्र स्वरूप नियम है वही निर्वाण का कारण है निर्वाण अर्थात् सादि अनन्तकाल तक स्वरूप मे स्थित बना रहना। वह भी चतन्य स्वरूप क ही आश्रय से है। व्यवहार तो स्वय अस्थिरता हैं उससे स्वरूप मे स्थितिरूप निर्वाण प्राप्त नही हो सकता।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनो नियम रूप कार्य हैं और वे अन्तर मे कारण परमात्मा के ही आश्रय से होते हैं। उस रत्नत्रय का यह वर्णन किया।

२५ मोक्ष मार्ग में स्तुति

जिस प्रकार नदी के प्रवाह मे तरंगे उठती हैं उसी प्रकार ज्ञानी के हृदय मे सम्यग्ज्ञान का प्रवाह चलता है उसी मे यह भक्तिरूपी तरंगे उठती हैं। ज्ञानी की स्तुति भी भिन्न प्रकार की होती है। भगवान को पहिचान कर उनके कथन की परीक्षा करके वे भगवान की स्तुति करते ह अकेला पुण्य का ठाठ हो उसकी महत्ता नही है। अरे! ज्ञानी-धर्मात्मा तो ऐसा विचार करते ह कि इन्द्रपद या चक्रवर्ती पद की प्राप्ति हो वह भी पुण्य का फल है।

राग का फल है उस वभव के उपयोग में तो पापवृत्ति है उसम कही चतन्य का सुख नही है। इन्द्र का या चक्रवर्ती का वैभव पूव पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ वहाँ धर्मी को उसका आदर नही है। उसकी रुचि नही है। चतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का ही आदर ह उसी की मीठास है। भगवान ने आत्मा के ऐसे आनन्द स्वभाव की ओर उन्मुख होने का उपदेश किया है। इस समय तो भगवान वाणी रहित हो गये है और सिद्ध पद मे विराजमान ह वहा प्रतिक्षण आनन्द की नवीन पर्याय का अनुभव करते है।

चतन्य के अतीन्द्रय आनन्द का अनुभव करने वाले ज्ञानी सता को इन्द्रिय विषया की ओर झुके हुए जीवो के प्रति दयाभाव उत्पन्न होता है। चैतन्य स्वभाव के अनुभव बिना अन्य कोई मोक्ष का साधन नही होता। बीच में पूजा भक्ति की शुभवृत्ति भले आये किन्तु वह कही मोक्ष का साधन नही होता। शुभाशुभ वृत्तिया उस स्वभाव के दोष मे से नही आती स्वभाव म तो ज्ञान आनन्द का भंडार है। ऐसे आनन्द स्वभाव का जिसे भान हुआ है उसे चक्रवर्ती और इन्द्रा पर भी दया आती है। चक्रवर्ती पद इन्द्रपद आदि महान पदविया का बन्ध तो सम्यग्दर्शन की भूमिका मे ही होता है किन्तु धर्मी का उन पदो की प्रीति नही है चतन्य की प्रीति के समक्ष जगत के किसी वभव की प्रीति वह नही रखता। ऐसा सम्यग्ज्ञान के बिना जीव ने राग की रुचि स अनन्तवार मुनिव्रत का पालन किया किन्तु उसका किंचित हित नही हुआ।

मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो।
पनिज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

जब भगवान यहा से मोक्ष पधारे तब स्वर्ग से इन्द्रो ने आकर मोक्ष

कल्याणक मनाया था। इस समय भी वे ही इन्द्र स्वर्ग मे विराज रहे ह और वही यह भूमि है। भगवान यहाँ से मोक्ष पधारे, गौतम स्वामी ने यहाँ केवल ज्ञान प्राप्त किया और गुणावा से मोक्ष मे गये। जिसे ऐसे केवल ज्ञान और मोक्षपद की प्रीति है वह बारम्बार उनका स्मरण करता है और इस प्रकार अपने अन्तर की चैतन्य ऋद्धि का स्मरण करके उसकी भावना भाता है। सम्यग्दृष्टि कैसा होता है।

रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसे घट मे प्रकट सदा।
अतर की लक्ष्मी सों अजाची लक्षपति हैं॥
दास भगवन्त के उदास रहें जगत् सों।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं॥

सम्यक्त्वी धर्मात्मा जगत से उदास हैं अन्तर की चैतन्य ऋद्धि का उन्हे भान है और प्रतिक्षण पर्याय मे ज्ञान आनन्द की ऋद्धि वृद्धि होती जाती है। जगत से उन्हे सुख की आशा नहीं है इस लिए जगत से उदास हैं और भगवान के दास हैं। उन्हे भान है कि हमारा सुख हमारे स्वभाव मे हैं-इस प्रकार अतर की लक्ष्मी से सम्यक्त्वी जीव सदैव सुखी है।

देखो—सीता जी की अग्नि परीक्षा के पश्चात् जब राम चन्द्र जी उनसे अयोध्या चलकर राज भवन मे रहने का आग्रह करते हैं तब सीता जी वैराग्य पूर्वक कहती हैं कि—अरे! इस ससार का स्वरूप हमने देख लिया है। वह पटरानी पद हमे नही चाहिये। हम तो अब अर्जिका बनकर चैतन्यानन्द की साधना करेगे। देखो सम्यक्त्वी को पहले से ही आत्मा के आनन्द का भान है और राज पद को तुछ समझा है। सीता जी कहती हैं कि—अब तो हम अपने चैतन्य की निर्मल परिणति रूपी पटरानी पद पर स्थापित होगे यह बाहरी पटरानी पद अब हमे नही चाहिये। उसमें कही स्वपन मे भी सुख नही हैं। ज्ञानियो को जगत के किसी पदार्थ मे सुख भासित नही होता इन्द्र पद चक्रवर्ती पद या पद्मिनी स्त्री मे कही भी सुख नही है एक चैतन्य मे ही सुख है। अहा! चैतन्य के अनन्त सुख ऐसा मोक्ष धाम भगवान ने यहाँ से प्राप्त किया उसकी सब को भावना करने योग्य है।

देखो श्री देश भूषण और कुल भूषण मुनिवरों ने कथल गिरी से मोक्ष प्राप्त किया हैं वे किस प्रकार मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। मोक्ष प्राप्त करने से पूर्व उन्होंने क्या किया। यह बात पूज्य गुरुदेव आचार्य ने इस प्रवचन मे समझाई है। यह श्री समयसार शास्त्र है। भगवान श्री कुन्द कुन्दाचार्य विदेह क्षेत्र मे

सीमधर भगवान के पास गये थे और उन्होने सीमधर परमात्मा की दिव्य ध्वनि का साक्षत् श्रवण करके इस शास्त्र की रचना की है। इस समयसार के कर्ता कम अधिकार मे भेदज्ञान की अद्‌भुत बात है मोक्ष का मूल वही भेद ज्ञान हैं।

यह जीव अनादि अनत है। वह है और है। उसका स्वभाव ज्ञान और सुख हैं। किन्तु अनादिकाल से अपने स्वभाव को भूलकर वह चोरासी में परिभ्रमण करके दु खी हा रहा है। आचाय भगवान उस परिभ्रमण को दूर करने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि भाई! तू तो आत्मा है। जसा सिद्ध परमात्मा हैं वसा ही परमार्थत तू भी है-जो विकल्प और राग हैं वे तो पानी मे सेवाई (काई) के समान हैं वे विकल्प और राग तेरे आत्मा के शात स्व भाव भूत नही हैं किन्तु मलिन उपाधि भाव हैं। जिसे तृषा लगी हो और उसे शात करना चाहना हो वह काई को हटाकर शुद्ध जल पीता है उसी प्रकार जो आत्मार्थी हो जिसे आत्मा के शात जल की तृषा लगी हो और आत्मा का अनुभव करके वह तृषा शात करना चाहता हो वह आत्मार्थी जीव आत्मा मे से विकारी मलिन भावो हो हटाकर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव रूप से आत्मा का अनुभव करता है और इस प्रकार शुद्ध आत्मा के अनुभव द्वारा वह अपनी तृषा को शाति करके आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करता है। और इस प्रकार क्या वस्तु हैं। यह बात जीव ने यथाथ रूचि पूवक कभी नहीं सुनी। आचार्य भगवान कहते है कि यदि यह जीव शरीर मे यह शरीर ही आत्मा है। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ वा जानता हुआ यदि अधिक भी पढ़े है शास्त्र जिसने ऐसा है तथापि कर्मों से नही छूटता। अर्थात् मुक्त नही हा सकता हे तथा शास्त्र शून्य है और यदि आत्मा मे ही आत्मा को जानता वा मानता है ता कम से छूटकर मुक्त हो जाता है।

शास्त्र ज्ञान भी आत्म ज्ञान के लिये है। जो आत्मा ज्ञान नही हुआ ता शास्त्र पढ़ने से क्या फल अर्थात् व्यथ है।

२६ जन ससर्ग-एक प्रपच

आत्मा-पुरुषार्थ परमावश्यक है। परिणामो की निमलता का कारण पर पदार्थों से सम्बन्ध त्याग हैं। आत्म श्लाघा त्यागने की महती आवश्यकता है। मनुष्यो से सम्पर्क रहना ही ससार ब धन का मूल कारण है। मनुष्य सम्पर्क छोडो। केवल लोकेषणा के जाल मे मत पडो। लाक प्रतिष्ठा के लिये यह पद नही यह तो कल्याण के लिये है। पर की निन्दा प्रशसा की परवाह न करो। शूरता की पराकाष्ठा होना ही मनुष्य के लिये लौकिक और पारमार्थिक सुख की जननी है। भगवान (आत्मन्) तुम अचिन्त्य शक्ति के स्वत्व म भी क्यो दर-दर के भिक्षुक बन रहे हो। यदि तुम अपने को सम्भालो तो फिर जगत को (उपदेशो आदि द्वारा) प्रसन्न करने की आवश्यकता नही। शान्ति का लेश नही आया और न आने की सम्भावना हैं क्योकि मार्ग (ससर्ग त्याग) जो है उससे हम विरुद्ध चल रहे है। बाह्य प्रशसा का लोभी महान पापी है। हम बहुत दुबल प्रवृति के मनुष्य हैं। कोई द्रव्य किसी का बिगाड सुधार करने वाला नही इत्यादि मुख से ही कहते है पर न्तु उस पर अमल नही।

यदि वास्तव मे धार्मिक बुद्धि है तो त्यागी को गृहस्थ के मध्य नही ठहरना चाहिये। गृहस्थो के सम्पर्क से बुद्धि मे विकार हो जाता है। जिन्हे आत्महित करना है वे इन उपद्रवो से सुरक्षित रहे। मनुष्यो के साथ विशेष सम्पर्क करना राग का कारण है। लोगो मे भक्ति बहुत है परन्तु जिसकी भक्ति की जाती है वह पात्र नही वष मात्र है। मन मे विचार आया कि अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ कि विशेषतया पर का सम्पर्क न्यून रहे। मोह की महिमा देखो कि लोग जिस समागम से बचने के लिए गृह का त्याग करते हैं त्यागी होने पर भी उन्हे वही समागम अच्छा लगता है। परमाथत माह गया नही है। उसने रूप भर बदल लिया है। बाहर मे एक चादर दा लगोटी रखना कठिन नहा किन्तु आभ्यन्तर निर्मलता होना अत्यन्त कठिन है। क्षयाप शम पाया है तो उसे पराधीन जान उसका अभिमान छाडो। यद्वा तद्वा मनुष्या स वार्तालाप करना उचित नही। मुझे अन्तरङ्ग से लगा कि यदि कल्याण की अभिलाषा है तो इन संसर्गों को त्यागो। जितना ससर्ग बाह्य मे अधिक होगा उतना ही कल्याण मार्ग का विरोध होगा। कल्याण कवल आत्म पर्याय मे हैं। जो पर के निमित्त से भाव होते हैं वे सब स्व-तत्त्व परिणति की निमलता मे बाधक हैं। जो आत्म हितैषी हैं उन्हे पर-पदार्थों का सम्पर्क त्यागना चाहिए। व्यर्थ गल्पवाद में क्या रखा हैं।

प्रथम तो पर के समागम से अपना समय नष्ट होता है। द्वितीय जिसका समागम होता हैं उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनी पडती हैं। अनुकूल प्रवृत्ति न करने पर अन्य को कष्ट देने की सम्भावना हो जाती है। अत पर का समागम सवथा हेय है। यदि यह चाहते हो कि हमारे श्रयो मार्ग का विकास हो तो शीघ्र से शीघ्र इन महापुरुषो का समागम त्यागो। आज कल जितने महापुरुष मिलते हैं उनका अभिप्राय तुम्हारे अभिप्राय से नही मिलता हैं और इससे यह दृढ निश्चय करो कि प्र्येक पदार्थ का परिणमन भिन्न भिन्न हैं। तब यह खेद करना कि यह समागम अच्छा नही व्यर्थ की कपना है। जहा अपना शरीर ही सुखकर नही वहा अन्य पदार्थों या अन्य व्यक्तियो का ससग सुख कर मानना मूखता के सिवा और क्या है। समागम मे महान दु ख है। यदि सुख चाहते हो तो इसे छोडा। कयाण मार्ग तो आत्मा मे हैं। आत्मा एकाकी हैं। इसका कोई दूसरा साथी नही है। किसी से विशेष परिचय मत करो यही शास्त्र की आज्ञा हैं। परतु आत्मन्! तुम इसका अनादर करते हो अत अनत ससार के पात्र हागे। सम्पर्क से ही रागादि दोषो की उत्पत्ति होती है और रागादि दोष ही ससार के कारण होते हैं। सम्पर्क से सकल्पो की उत्पत्ति होती है और फिर मन मे अनेक प्रकार के विभ्रम होते हैं। विभ्रमो से अनेक प्रकार की आकुलता होती ह। आकुलता से निरन्तर दु खी रहता है क्याकि जहा पर आकुलता ह वही पर दु ख है। पर ससर्ग से जितना राग होता ह वह एकाकी रहने से नही हाता। पान के चवण करने पर ही मुह लाल होता है। पृथक रहने पर वह लालिमा नही लाता। बहुत मनुष्यो मे गल्यवाद ही की प्रचुरता रहती ह। एकान्त मे चित्त विक्षपता के कारणो की प्रचुरता नही रहती। गृहवास उतना बाधक नही जितना अज्ञानियो का समागम ह। ससार मे समागम करना ही उलझन का कारण है। किस किस के अनुकूल प्रवृत्ति कर।

स्वाधीन रहना ही धम साधन मे मुख्य हेतु ह। मनुष्य मात्र का सम्पर्क अच्छा नही। यदि सम्पक के बिना निर्वाह नही ना सके तो कम से कम सम्पर्क रखे क्योकि अन्तरग की वीतरागता नही है। उसके अभाव मे ही इन पर-पदार्थों का आश्रय लेना पडता ह। किसी के सहवास मे मत रहो। यदि रहो तब उनकी प्रवृत्ति का ज्ञान ही मत करो। किसी की प्रवृत्ति देखकर दु खी मत होवो। तुमको क्या अधिकार है पराई प्रकृति को सक्रमण करा सको। चित्त वृत्ति शान्ति रखने के लिए पर पदार्थ के सम्पर्क को त्यागो। इसका तात्पय पर मे इष्टानिष्ट कल्पना का त्याग करना है।

२७ ममता छोडो

यदि अत्याशक्ति या अत्याचार से बचना चाहते हो तो तुम्हारी जिन पदार्थों मे रूचि है ग्रहण करते हो उन्हें छोड दो क्योकि मूर्च्छा ही का नाम परिग्रह है। तुम्हारी भोजन मे रुचि हैं तभी खाते हो। मां को बच्चे से मूर्च्छा हैं इसीलिए तो लालन पालन होता है। इस लगोटी से मूर्च्छा है तभी तो फसे हो। यदि मूर्च्छा नही है तो फिर हो जाओ मुनि। एक मुनि है उन्हे मूर्च्छा नही है इसलिए लगोटी की आवश्यकता नही हैं। सभालने वाली चीज थी वह तो मिट गई। एक लगाटी ऐसी हैं जो मोक्ष नही होने देता सोलह स्वर्ग से आगे नही जाने देती। अत वह चीज जब तक बनी है तभी तक ससार हैं। जहा तक बने पर पदार्थों से मूर्च्छा हटाओ। जितनी मूर्च्छा हटेगी उतनी ही स्वात्मा की ओर प्रवृत्ति हागी। लोग कहते हैं कि जितने धनाढय पुरुष हैं उन्हे बडा सुख होगा। मैं तो कहूगा कि उन्हे हम से भी ज्यादा दु ख हैं। उन पर जिस परिग्रह का भूत सवार है उससे वे तीन काल मे भी सुखी नही हो सकत। मनुष्य के जितना जितना परिग्रह बढता है उनका उतना उतना दु ख भी दिन दूना रात चौगुना बढता जायेगा और जितना कम होगा उतना ही सुख झलकेगा। अत यदि मोक्ष की ओर रूचि है सुख की कामना है तो परिग्रह कम करने का प्रयत्न करो।

परिग्रह तब तक नही घट सकता जब तक इच्छाओ का दमन न हो। एक मनुष्य ने भूखे को रोटी दान किया नगे को कपडा दिया निराश्रयो को को आश्रय दिया और उस सुख हुआ। वह सुख उसे कहा से हुआ ? सुख तो उसे अवश्य हुआ उस सुख का वह अनुभव भी कर रहा है तो वह सुख उसका अन्तरङ्ग मे उमडा। उसने बिना किसी स्वार्थ के परोपकार बुद्धि से ऐसा किया। जिससे उसे इच्छाओ या कषायो की मन्दता करनी पडी इसलिए उसे सुख हुआ। तो पता चला कि जब इच्छाओ या कषायो का पूर्ण अभाव हो जाय और तब यदि उसे विशेष सुख मिले तो इस मे आश्चर्य की कौनसी बडी बात है।—जितनी मनुष्य के पास इच्छाय हैं उसके लिए उतने ही रोग हैं। एक इच्छा की पूर्ति हो गई तो वह रोग कुछ देर के लिये शात हो गया और उसने अपने को सुखी मान लिया। परमार्थ दृष्टि से विचारो क्या वह सुखी हो गया ? आज सुबह रोटी खाई शाम को फिर खाने की जरूरत पड गई, इससे मालूम होता है कि इच्छाओ मे सुख नही है। अपितु इच्छाओ मे

ही दु ख हैं। जितनी जिसके पास इच्छाये है उतना ही उसे दु ख हैं। जिसकी एक इच्छा कम हो गई वह सुखी हैं परन्तु जिसके एक मात्र लगोटी की इच्छा रह गई वह उससे भी ज्यादा सुखी हैं और जिसके पास कुछ भी इच्छा न हो दिगम्बर हो जाय वह उससे ज्यादा सुखी हैं। बस परिग्रह त्याग का मतलब ही होता है कि इच्छाओ का कम करना। ससार ही देख लो राजा की अपेक्षा एक सन्त ज्यादा सुखी हैं। अत हमारी समझ में तो यही आता है कि जिसने अपनी इच्छाओ का वश कर लिया तो वही सुखी हैं।

मूर्च्छा का त्याग या इच्छाओ के दमन के लिये केवल परिणाम पलटने की आवश्यकता है क्योकि उन्ही की विचित्रता है। किन्तु मनुष्य के परिणामो के पलटने का कोई समय नियत नही। न मालम किसके कब भाव पलट जाय कोई नही कह सकता।

चक्रवर्ती छ खण्ड का अधिपति था पर विरक्त हुआ तो सारी विभूतियो को लात मार दी फिर मु ह फेर कर नही देखा। परिणामो मे जब विरक्तता समा जाती है तो दुनिया की ऐसी काई शक्ति नही जो मनुष्य के हृदय का पलट दे उसे विरक्त होने से रोक ले। इसी लिये कहा है कि सम्यक परिणामो की सबलता मुक्ति रमा से मिलाने वाली दूती है।

कषाय

मनुष्य के लिय एक शुद्धात्मा का ही अवलम्बन है। उसी के लिये देखो यह सारा प्रयास है और परिणामो मे जितना चचलता होती है वह सब माहादय की कल्लोलमाला हैं। उसम कोई काम—क्राधादि विकारी भाव नही है। यदि क्रोध आत्मा का होता ता फिर क्या कहते कि हमसे गलती हो गई क्षमा करो इससे मालूम होता है कि वह तुम्हारी आत्मा का विभाव भाव है।

चाण्डाल का परिवार

एक मेहतरानी किसी स्थान पर झाड लगा रही थी। निकट ही एक साधू बठा था झाड लगाते समय कुछ धूल के कण उस साधु पर भी पड। वह तुरन्त ही क्राधित हो गया और बोला-ऐ मेहतरानी क्या करती है? वह बाली झाड लगाती हू।

साधु ने उत्तेजित स्वर से कहा—तुझे दिखता नही है। मेहतरानी ने एठते हुए कहा—मुझे तो दिखता है। साधू आपे से बाहर हो उठा—अरी बडी चाण्डालिनी है। मेहतरानी ने व्यग म कहा हाँ मेरा ही परिवार तरे घर मैं बठा है। साधु ने कहा क्या बकती है। मेरे घर मे तेरा परिवार है। मेहतरानी

ने गर्व से कहा—मैं जो कहती हू ठीक कहती हू। साधू हठ पूर्वक पूछने लगा–कमे कहाँ है तेरा परिवार। इतने मे दस पाँच और आदमी इकटठे हो गये। दोनो मे खूब वाद विवाद हुआ। अन्त में उससे मेहतरानी ने कहा—चाण्डाल क्रोध राग द्वेष मोह माया जो तुम्हारे घर मे बठे है वह मेरा परिवार है। अन्तरात्मा को टटोलो। कषाय जीत नही सकते राग छोड नही सकते माया से मुह मोड नही सकते तो इस ढोंगी वेष को छोडो। वस्तुत आज जिन्हें चाण्डाल कहा जाता है वे चाण्डाल नही हैं चाण्डाल का परिवार तो ये क्रोधादि कषाय और रागादि विभाव हैं।

क्षमा कही शास्त्रो मे नही रखी है। वह आत्मा की वस्तु है और आत्मा की वस्तु आत्मा मे ही मिल सकती है। केवल क्रोध छोडने की आवश्यकता है। क्रोध छूटा कि शेष विभाव स्वय छूट जावेंगे। चाण्डालिनी का परिवार अपने आप घर छोडना प्रारम्भ कर देगा। जरा से प्रयत्न की आवश्यकता रह जायेगी। आत्मा को शुद्ध स्वभाव मे लाने की आवश्यकता नही है बल्कि क्रोधादि कषाय और राग द्वेषादि विभाव भावो को मिटा आत्मा अपने आप स्व स्वभाव मे आ जायेगी। इस प्रकार स्वात्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना करता हुआ सम्यग्ज्ञानी आगामी कर्म बन्ध मे नही पडता है। नये पूर्व-बद्ध कर्म अपना रस देकर खिरगे ही अत उनको यो ही चुटकियो मे भोग लेता है। इस तरह यह ससारी पथिक मुक्ति के पथ पर निरन्तर अग्रसर होता हुआ अपनी मजिल का मार्ग तय कर लेता है और सदा के लिये शाश्वत सुख मे मग्न हो जाता है।

२८. श्रेयस सुख

निर्मोही जीव सुख के भाजन होते है। मोही जीव सदा दु खी रहते है। उन्हे सुख का माग समवशरण मे भी नही मिल सकता। पाराधीनता का त्याग ही स्वधीनता का मूल मन्त्र हैं। सुख की व्यवस्था तो अपने मे बनानी चाहिये बाह्य पदार्थों मे नही। सन्ताष ही परम सुख और वही सच्चा धन ह। सन्ताषामृत से जो तृप्ति आती है वह बाह्य साधन से नही आती। आवश्यकता कम करे। आवश्यकता जितनी कम उतना ही अधिक सुख। ससारिक पदार्थो से सुख की आशा छोड़ दो अपने आप सुखी हो जावोगे। व्यक्ति जितना अल्प परिग्रही होगा उतना ही अधिक सुखी होगा। सयम से रहना ही सुख और शाति का सत्य उपाय है। सुख का मूल कारण अन्त चित वृत्ति की स्वच्छता है।

जहा पर स्वभाव रूप परिणमन है वहा पर कपट रूप व्यापार नही और जहा कपट रूप व्यवहार है वहा स्वभाव परिणमन नही है। प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा रहती है कि मैं लागा के द्वारा प्रशसा पाऊ लोग मुझे अच्छा समझे। यह जीव के दु ख का कारण है। य भाव जिनके नही हाते वे सुजन ह। उनकी जो परिणति हैं वही सृजनता है। यहा तक उनकी निमल परिणति हो जाती है कि वे परोपकार आदि करक भी अपनी प्रशसा नही चाहते किसी कार्य के कर्ता नही बनते। मेरा तो विश्वास है कि अन्तरङ्ग परिग्रह रागादि तथा बाह्य परिग्रह धन धा यादि इन दानो प्रकार के परिग्रह के पिशाच मे पीडित आत्मा ये कितनी ही ज्ञानी क्या न हा उनके द्वारा जो भी कार्य किया जावेगा उससे मनुष्य को कदापि लाभ नही पहुँच सकता क्याकि वे स्वय परिग्रह से पोडित हैं।

सुजन का अथ है भले मनुष्य। भले मनुष्य का अर्थ जिनका आचार निर्मल है। निमल आचार के द्वारा वे आत्म कल्याण भी कर सकते है। और उनके आचार को देखकर ससारी मनुष्य स्वय कल्याण कर सकता है इसलिए निमल आचार धारक सुजन बनो और निश्छलता प्रकट करो।

जिस प्रकार अध स्वर्ण पत्थर को तपाने स ही सोना दिखता है जैसे दूध को गम करके अच्छी तरह से उसको मथन करने से घी निकलता हैं काष्ठ को काष्ठ से रगडने से अग्नि प्रतीत होती है इसी तरह शरीर से यह

आत्मा भिन्न है। इस तरह भेद विज्ञान के अभ्यास से मुझको मेरे अन्दर देखने मे क्या असाध्य है। इस प्रकार भगवान वीत राग देव के इस मार्ग पर श्रद्धान रख कर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव रूचि पूर्वक अपने आत्मा को स्वपर ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर रत होकर देखते हैं उन्हे आत्मा का अनुभव होने मे क्या देर लगती हैं। दूध पानी के समान जीव और कर्म का सयोग हैं।

२६ शान्ति कहाँ ?

केवल बचनो को चतुरता से शाति लाभ चाहना मिश्री की कथा मे मीठा स्वाद लेन जसा प्रयास है । ससार मे शाति के अर्थ अनेक उपाय करो पर न्तु जब तक अज्ञान है शाति नही मिल सकती ।

जिस दिन तात्त्विक ज्ञान का उदय होगा शाति का राज्य मिल जावेगा केवल पर परपदार्थों को छोडने से शान्ति का मिलना अति कठिन है । जहाँ शान्ति हैं वहाँ मूर्च्छा नही और जहाँ मूर्च्छा है वहा शान्ति नही । आभ्यन्तर शान्ति के लिए कषाय कृश करने की आवश्यकता है । उसी ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिये ।

अन्तरग रागद्व ष का त्याग करना ही आ म शाति का साधक है । ससार मे वही मनुष्य सुख और शातिमय जीवन व्यतीत कर सकता है जिसने अपनी मनोवृत्ति को विवेक के आधीन बना रखा है ।

सब सगति को छोडकर एक स्वात्मोन्नति करो वही शाति की जड है । समाज का काय करने मे शान्ति का लाभ होना कठिन है । [शान्ति तो एकान्त वास मे है । आवश्यकता इस बात की है कि उपयाग अन्यत्र न जावे ।

ससार मे यदि शान्ति की अभिलाषा है तो उससे तटस्थ रहना चाहिय। यह शाति का मूल कारण है । ममता के त्याग बिना समता नही और समता के बिना तामस भाव का अभाव नही । जब तक आत्मा मे कलुषता का कारण यह भाव है तब तक शान्ति मिलना असम्भव है । शान्ति के कारण सर्वत्र है परन्तु मोही जाव वही भी रहे उनके लाभ स वञ्चित रहता है । शान्ति का लाभ अशान्ति के अभ्य तर बीज को नाश करने से होता हैं । जिन कार्यो के करने से सक्लेश होता हैं उन्हे छोडने का प्रयास करो यही कल्याण मार्ग है ।

कल्याण पथ मे बाह्य कारणो की आवश्यकता नही । मुख्यनया एकत्व परिणत आत्मा ही ससार और मोक्ष का प्रधान कारण है ।

कल्याण का मार्ग बाह्य त्याग से परे हैं और वह आत्मानुभव गम्य हैं । निमित्त कारणो के ऊपर अपने कल्याण मार्ग का निर्माण करना अपनी दृष्टि

को हीन करना है । बाहर की ओर देखने से कुछ न होगा आत्म परिणति को देखो उसे विकृति से सुरक्षित रखो तभी कल्याण के अधिकारी हो सकोगे। कल्याण का मार्ग आत्म निर्मलता मे है बाह्य आडम्बर मे नही । मूर्ति बनाने के योग्य शिला का अस्तित्व संगमर्मर की खानि मे होता है मारवाड बालुका पुञ्ज मे नही । जगत की ओर जो दृष्टि है वही आत्मा की ओर कर दो यही श्रेयोमार्ग है । श्रद्धा पूर्वक पर्याय के अनुकूल यथा शक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलना कल्याण का मार्ग है । यदि आप सत्पथ के पथिक है तो मार्ग से चले जाओ कल्याण अवश्य होगा । स्वरूप की स्थिरता ही कल्याण की खानि है । कल्याण की प्राप्ति आकुलता से नही निराकुलता से होती है । तत्त्व ज्ञान पूर्वक रागद्वेष की निवृति आत्म कल्याण का सहज साधन है ।

मोक्षमार्ग

आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है ।

अनादि कालीन अपनी भूल से ही आत्मा ससारी बन रहा है । भूल मिटी कि मोक्ष का पात्र होने मे विलम्ब नही । विषय से निवृत्त होने पर तत्व ज्ञान की निरन्तर भावना ही कुछ काल मे ससार लतिका का मूलोच्छेदन कर देती है । केवल देह शोषण मोक्ष मार्ग नही । जहाँ तक बने ससार व मोक्ष को अपने मे ही देखो यही तत्त्व ज्ञान तुम्हे सिद्धि तक पहुँचा देगा । हम लोग सदा पर पदार्थों मे उत्कर्ष और अपकर्ष की समालोचना करते रहते है परन्तु हम कौन है इसकी ओर कभी भी दृष्टिपात नही करते । फल यह होता है कि आजन्म ज्यो के त्यो भी नही किन्तु छब्बे के स्थान मे दूबे रह जाते है । अत निरन्तर स्वकीय भावो को उज्वल रखने मे प्रयत्न शील रहना ही मोक्षाभिलाषियो का मुख्य कर्तव्य है ।

जिन महानुभावो ने रागद्वेष की शृङ्खला तोडने का अधिकार प्राप्त कर लिया है वही मोक्ष के पात्र है । जीव अपने ही परिणामो की कलुषता से ससारी है कलुषता गई कि ससार चला गया । आत्मोत्कर्ष के मार्ग मे कर्म निमित्तक इष्टा निष्ट कल्पना ने जो अपना प्रभुत्व जमा रखा है उसे ध्वस करो यही मोक्ष मार्ग है ।

रागादिक न हो इसकी चिन्ता न कर चिन्ता इस बात की कर कि इस प्रकार के जितने भी भाव है वे सब विभाव है क्षणिक है व्यभिचारी है । अत इनको परकृत जान इनमे हर्ष विषाद करना उचित नही । यही चिन्ता मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है शेष मोक्ष नही । मोक्ष तो आत्मा का स्व

तत्र परिणमन है । पर पदाथ का ससग छोडो यही मोक्ष का साधक ह । वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है जो श्रद्धा के अनुकूल ज्ञान और चारित्र का धारी है । शुद्धात्म तत्व की उपासना का मूल कारण सम्यग्दशन ही ह क्योकि यथार्थ वस्तु का परिनाम सम्यग्नानी को ही होता है । जिन जीवो को सम्यग दशन हो गया ह उन्हे साता असाता का उदय चञ्चल नही करता । श्रद्धा की निमलता ही मोक्ष का कारण है । मुख्यतया स्वाध्याय मे भी हमारी दृढ श्रद्धा ही शिक्षक का काय करती है । केवल श्रद्धा गुण के विकास से कल्याण उदय मे आता है । इसके होने पर अन्य गुणा का विकास अनायास हो जाता है । कुछ भी करो श्रद्धा न छोडो । श्रद्धा ही ससारातीत अवस्था की प्राप्ति मे सहायक है । श्रद्धा के बिना आत्म तत्व की उपलब्धि नही होती । श्रद्धा स जो शान्ति मिलती है उसका अस्वाद लेकर सन्तोष करो ।

जिन्हे दीर्घ ससार से भय है उन्हे श्रद्धा गुण को कलङ्कित नही करना चाहिये । यह स्पष्ट है कि जिसमे दृढ श्रद्धा की न्यूनता है वे देवादि का समागम पाकर भी आत्म-सुख से वञ्चित रहत है । अत सव प्रथम हमारा मुख्य लक्ष्य श्रद्धा की ओर हाना चाहिये ।

३० आत्म शक्ति का दुरुपयोग

आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है। उसे विकास मे लाने वाला यह आत्मा है। जो कुछ है सो आत्मा में है। यदि वहा नही तो कही नही। आज ससार मे विज्ञान की जो अद्भुत शक्ति प्रत्यक्ष हो रही है इसमे भी आत्मा का ज्ञान ही कारण है। अत सर्व विकल्पो और माया पिण्ड का छोडकर अपनी परिणति को निर्मल बनाओ। उसका बाधक यदि किसी को समझते हो तो उसको हटाओ।

इस शक्ति का विकास जिसम हो गया है वही वास्तव मे प्रशसा का पात्र और निजत्व का भोक्ता है। निजकी शक्ति क विकास बिना दर-दर भटकते फिरते है। यदि हम अपना पौरुष सम्हाले तो अनन्त ससार के बन्धन काट सकते है।

आत्मा स्वतत्र वस्तु है ज्ञान उसका स्वभाव हैं यद्यपि उसका विकास स्वय होता है परन्तु अनादि काल से मिथ्या दशन के होने से आत्मीय गुणो का विकास रुका हुआ है। इसी म पर मे आत्मीय बुद्धि मानने की प्रवृत्ति हो गई। जो पचेन्द्रिया के विषय है व ही अपने सुख के साधन मान रखे है। यद्यपि ज्ञान के अन्दर उनका प्रवेश नही ऐसा प्रत्यक्ष देखने मे आता है परन्तु अज्ञानता वश ऐसी कल्पना हो रही है कि य हमारे ह। जब तक आभ्यन्तर हीनता नही गई तभी तक बाह्य निमित्तो को मुख्यता प्रतीत होती है। आभ्यन्तर हीनता की न्यूनता मे आत्मा ही समथ कारण है। आत्मा ही अपना गुरू है और आत्मा ही उसका शत्रु है। शरीर की परिचर्या म ही आत्म शक्ति का दुरुपयोग नही करना चाहिये। इसकी परिचर्या से आज तक जो दुदशा हुई है वह इसी का महाप्रसाद हैं।

अन्तरङ्ग की बलवत्ता ही श्रेयोमार्ग की जननी है। पर को पर जानने की बजाय आत्मा को यथाथ जानना विशेष महत्व का है। एक आत्मा ही शाश्वत है। ज्ञान और दर्शन उसका लक्षण है। शेष मेरे सब भाव बाह्य हैं जो कर्म सयोग से प्राप्त हुए हैं। जीव ने जो दु ख परम्परा प्राप्त की है उसका मूल यह सयोग ही है अत समस्त सयोग सम्बन्ध को मन वचन काय से त्यागता हू। इस आगम वचन को सुनने से मन मे जो आत्मोन्मुख विचार धारा चलती है वस्तुत यही सम्यक श्रुत है। उसी मे साधु तत्पर रहते है।

उदासीनता—ससार मे वही मनुष्य परमात्म पद का अधिकारी हो सकता है जो ससार से उदासीन हो। जो कुछ होता है प्रकृति के नियमानुसार होता है। उसमे कतृ त्व बुद्धि का त्यागकरना ही उदासीनता है।

विषय कषायो मे स्वरुप से शिथिलता आ जाने का नाम उदासीनता है। जिस ससार के दु ख से भगवान डर गय तुम नही डरते बड बलवान गे। जो सप घर मे बठा है उसे निकाला यही सवग है। जिन्हे ससार म भय नही वे क्या डरगे। उदासीनता ही वराग्य की जननी और ससार की जड काटने वाली है। उदासीन का अथ है पर स आ मीयता छाडो। कल्याण का उदय केवल लिखने पढने या घर छाडने से नही अपितु स्वाध्याय करने और विषय से विरक्त रहने से होगा। उपेक्षा भाव उदासीनता का पर्याय वाची है और चित्त मे रागद्व ष रूप विक प का न होना ही उपेक्षा भाव है। निरपेक्षता ही आत्म विकास का मुख्य का ण है। मानव जीवन मे जिसने यह गुण सम्पादन न किया उसने कुछ नही किया। जसे कमल जल मे रहकर भी उससे जुदा है वसे ही अनात्मीय भावो से अपने को जुदा अनुभव करना ही उदासीनता है। उदासीन वे है जो सब कुछ करते हुए भी उसमे लिप्त नही होते। चाहे पूजा करो चाहे जप तप सयम करो पर एक बात ध्यान मे रखा कि ससार की कोई भी वस्तु तुम्हे लभान सके।

आचार्य शास्त्रो को रचने वाले तो बड बडे योगी पुरुष हुए है उनके वचनो को शिरोधाय करके हम सब साम्यभावी हो सकत है। काई कठिन बात नही है। योगी के ससर्ग से क्या नही हो सकता। योगी से इन्द्र भी सन्तुष्ट हो जाते है। शेर और गाय अपने वर को भूल जात हैं। मनुष्य की बात तो जाने दीजिये पशु भी प्रभावित हो जाते हैं। जहा योगी पहुच जाते हैं वहा वर भय क्रोध सब ही नष्ट हो जाते है। चन्द्रमा की शीतल कि णे आतप को दूर कर देती हैं। सूय अन्धकार का नष्ट कर देता है। जिस मुनि का मोह क्षीण हो गया है उसके प्रसाद से हिरणी सिहनी के बच्चे को दूध पिलाने लगती है बिल्ली हस के बच्चो के साथ क्रीडा करने लगती है मयूर सप के बच्चो को खिलाने लगता है। जन्म मे जो बरी होत हैं व भी अपना वर भूल जाते ह।

सम्यग्ज्ञानी योगी ने एक क्षण मे जितने कर्मो को काट लिया है उतने कर्मों को मिथ्या दृष्टि जीव कोटि वर्षों मे नही काट सकता है।

३१ वीतरागता ही अपरिग्रह है

ससार वासना राग रूप है और उसी राग के कारण यह आ मा अनादि काल से रागी हुआ है । जब तक वह इस राग अवस्था मे रहेगा तब तक वह इस राग से मुक्त नही हो सकता परन्तु अज्ञानी जीव राग को धाने के लिये राग को ही ढ ढता है । पर इससे उसे कभी वीतराग अवस्था प्राप्त नही हो सकती । जिस प्रकार कोयले का दाग कोयले से साफ करने पर वह कभी साफ न ी हा सकता उसी प्रकार राग से राग कभी भी दूर नही किया जा सकता क्योकि कोयले के ऊपर कोयला रगडने से वह साफ होने के बजाय उल्टा काला ही होता जाता है । परन्तु उससे सफेदी कदापि नही निकल सकती । इस प्रकार अज्ञानी जाव अनादि काल से राग के द्वारा राग को छुडाने का प्रयत्न करता है किन्तु वह कदापि नही छूट सकता । प्राय ससार मे देखा जाता है कि जिसके कपड मले हो जाते हैं वह धोबी को देता है क्योकि धाबी के बिना वह कभी साफ नही हो सकता । इस प्रकार ससार रूपी अनादि कालीन कम मल को धोने वाले सच्चे धोबी अपने सकल घातिया और अघातिया कममल को पूणरूप से नाश करने वाले सिद्ध परमात्म स्वरूप प्राप्त करने के लिये भव्य जीवो ने ऐसे सिद्ध भगवान को ही नमस्कार किया है ।

अब ससार समुद्र मे त ने का उपाय जो वीतराग निर्विकल्प समाधि रूपी जहाज है उस पर चढके जो आगामी काल मे कल्याणमय अनुपम ज्ञान मयी हागे उनको मै नमस्कार करता हू । जब तक आ मा के अ दर विषय वासनाय आ मा से पृथक नही हाती तब तक सच्चे आत्म सुख की प्राप्ति कदापि न ी हो सकती । प्राय ससार मे देखा जाता है कि गेगी मनु य को अनेक प्रकार के स्वादिष्ट तथा रुचि कारक सुमधुर पकवान यदि खिला दिया जाय तो वह उसे हजम नही हो सकता बल्कि उसका परिणाम उ टे दुखदायी होता है । जब तक रोग को नष्ट करने वाला कोई अच्छा वद्य न मिले तब तक उसका रोग दूर नही हो सकता । जब कोई सुयोग्य वद्य आकर उसके रोग को समूल नष्ट कर देता है तब उसे खाद्य पदाथ स्वादि ट प्रतीत होते है । इसी प्रकार जब तक ससारी जीवों के साथ अनादि काल से लगे हुए वासना रूपी रोग को दूर करने के लिये सम्पूर्ण दोषों से रहित वीतराग सच्चे सद्गुरु वैद्य का समागम न हो तब तक इस संसारी जीवो को सुख शाति

कदापि नहीं मिल सकती। जिस जीव को ऐसे सच्चे सद्गुरुओ का निमित्त मिला है वही उनके निमित्त से अपने कम भार को स्वमेव हल्का कर सकते है। सदगुरु के समागम से बुधजन विविध भाति की सामग्री एकत्रित करके अपन कम मल को नष्ट करने के लिये प्रयत्न करत रहे है। वे सद्गुरु अपने और पर का कमरूपी बाझ का हल्का करन के लिये हमेशा कटिबद्ध रहते है।

ससारी भव्य प्राणियो तुम सब अपने मन मे पूणरूप से निश्चय कर लो कि आत्मा ही कर्मो का कर्त्ताभोक्ता और विनाशक है अन्य कोई नही। अत पाप कम की ओर दौडने वाले आत्मा की गति को रोको पाप बुद्धि को उत्पन्न न होने दो अपने मन का निरीक्षण निरतर करते रहो। प्रमाद मे अनजान म भी अन्त करण की चौकसी मत भूलो। पाप करने की भावना अन्त करण म यदि न उदित होगी तो निश्चय ही तुम पापो से बच जाओगे। याद रक्खो जिन लोगो को प्रसन्न करने के लिये तुम पाप म प्रवृत होते हो वे पाप कर्मों का भयकर फल भोगत समय तुम्हारा साथ न दगे तुम्हे अकेले ही उन कुकर्मो का फल भोगना पडेगा।

हे भव्य मानव प्राणियो तुम जो प्रतिज्ञा लो वह खूब सोच समझ कर लो। पहिले प्रतिज्ञा की गुरुता का विचार करो पुन अपनी शक्ति का तौल लो। जब तुममे उसके निर्वाह का पूणरूप से विश्वास हो जाय तब प्रसन्नता उत्साह और दृढता क साथ उसे स्वीकार करो किन्तु अपनी शक्ति का तोले बिना प्रतिज्ञा मत करो। अपनी शक्ति का यथाथ पहिचानो। सावधानी के साथ प्राण का हर्ष प्रतिज्ञा का प्राणो की बाजी लगाकर उस पालन करो। प्रतिज्ञा निर्वाह म चाहे सव व निछावर करना पड या जीवन को सकट मे चाहे डालना पडता उसके लिये भी तयार रहो परन्तु प्रतिज्ञा स कभी भी भ्रष्ट न हो। जिस पदाथ का त्याग कर चुके हो उसे वमन के समान घृणित समझो। कोई भी विवेकी वमन को नही भोगता। उस प्रकार त्याग किये हुए वस्तुओ को मत भोगो। प्रतिज्ञा निर्वाह म जो २ कष्ट सहन करने पड उनका प्रसन्नतापूवक स्वागत करो। जैसे राजा हरिश्चन्द्र जी अपनी की हुई प्रतिज्ञा मे आने वाले अनेक विघ्नो मे भी सदा अटल रहते थे जिस प्रकार साता अजना द्रौपदी आदि ने जो प्रतिज्ञा ग्रहण की उन पर विघ्नो की घटाये चारो ओर से घिर आने पर भी विचलित न हुई प्रत्युत उसे सदा पालती रही। भगवान ऋषभदेव जब अपने राज्य का त्यागकर तपस्या करने के लिये तयार हुए तब उन्हे लगातार एक वष तक भोजन की विधि न मिल सकी किन्तु वे इससे विचलित न हुए। वे भगवान आने वाले सभी विघ्नो का स्वागत करते हुए अपने कर्त्तव्य पर डटे रहे। हे भव्य जीवात्मा तुम ज्यो-ज्यो कष्टो को

सहन करते जाओगे त्यों त्यों तुम्हारी आत्मा बलशाली होती जायेगी। अतएव दु खो को मत दुर दुराओ कष्ट से मत किनारा काटो मुसीबतो मे मन को मत मला करो क्योकि इससे तुम्हारी आ मा का विकास होगा। तुम्हारी शक्ति खिल उठेगी और तुम महान कार्यों मे सफलता पाने के अधिकारी बनोगे। याद रक्खो सोने को जितना ही अग्नि मे तपाया जाता है उतना ही उसकी चमक बढ़ती जाती है। यही शुद्धात्म सुख शान्ति पाने का उपाय है।

जो व्यक्ति गृहस्थ धम या मुनि माग धम को ग्रहण करने के पश्चात उसका त्याग कर देता है या अन्य कोई यक्ति किसी प्रकार की धार्मिक प्रतिज्ञा लेकर किसी प्रलोभन मे आकर उसका त्याग कर देता है वह महान पापो का भागी होता है। इसलिये जो ऐहिक या पर लौकिक आत्मिक सुख को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हे ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा पर पूणरूप से स्थिर रहना चाहिये। प्रतिज्ञा का पालन करना प्रत्येक मानव प्राणी का परम कतव्य है।

इस तरह हे भव्य जीवो जीवन मे भगवान अहन्त देव के द्वारा कहे हुए माग या उनकी वाणी मे अटल श्रद्धान रखना एक महत्वपूण स्थान है। श्रद्धान के बिना मनुष्य का मन चचल सन्दिग्ध और नास्तिक बन जाता है। श्रद्धाहीन अपने जीवन का पूण विकास नही कर सकता। पर श्रद्धा मे विवेक का मिश्रण करो जिसस तुम्हारी श्रद्धा अन्ध श्रद्धा न बन जाय। विवेक की प्राप्ति के लिये तत्व चर्चा करना परमावश्यक है। प्रत्येक बात को बुद्धि की कसौटी पर कसो। शान्ति और सहिष्णुता के साथ तत्व निणय करो। जहा जय पराजय का भाव नही होता वही पर लाभप्रद तत्व चर्चा होती है। उदारता पूण विचार चिन्मय ज्ञान प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। अतएव शुद्ध जिज्ञासा की भावना से तत्व चर्चा करके ज्ञानियो के ज्ञान का लाभ उठाओ। उनके अनुभव पूण उदगार सुनो उनकी साधना के फल को समझो तो आपको अध्ययन चिंतवन तथा मनन मे पूण सहायता मिलगी। इस प्रकार सच्चे सदगुरुओ ने आत्मिक उन्नति को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया है। इस मार्ग बिना किसी जीव को सच्ची सुख शान्ति देने वाली शुद्धात्मा की प्राप्ति कदापि नही हो सकती।

३२ धर्म तत्व

हे मनुष्य भव्य जीवो—अब हम तुमसे सक्षेप मे धम का तत्व कहते है। सुनो विशेष विस्तार से क्या लाभ अगर तुम अपने असली शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हो तो इस शरीर के द्वारा किये हुए परोपकार से पुण्य और अपने इन्द्रिय वासना की पूर्ती के लिये दूसरे जीवो को सताने से पाप होता है। वासना ही पाप का मूल कारण है।

स व लिकाल मे ससार की वासनाओ म फसे हुए लोगो के मुह स वैराग्य वृत्ति की बात सुनते है तो फाल्गुन का महीना याद आ जाता है। फाल्गुन मे होली के समय बालक पागल से हो जाते है और कभी घोड पर और कभी गधे पर सवार होते है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो उपदेशक जनता से त्याग कराना चाहता है किन्तु स्वय त्याग नही करता उसका उपदेश जनता के हृदय पर असर नही डाल सकता। उनके उपदेश को सुनकर जनता उस समय उनकी विद्वता की तो कायल हो जाती है मगर स्थायीरूप मे उसके मन पर उसका प्रभाव नही पड पाता तो विद्वता और चीज है ज्ञान और चीज है। कोई विद्वान है और बाल की खाल निकाल रहा है तो वह अपने तर्कों से दुनिया का मुह बद कर सकता है परन्तु जनता के हृदय को नही बदल सकता। जनता के हृदय को बदलने की कला तो ज्ञानी म ही होती है। जो जिस चीज को स्वय नही छोड सकता वह दूसरो से उसे कैसे छुडा सकता है। आचाय ने पहले स्वय ने सामने अपना उदाहरण रक्खा। जो महलो म रहते थे और प्रात काल होते ही जिनसे हजारो आदमी दान पाकर मुक्त कठ से जिनकी प्रशशा करते थे उन्होने दीक्षा लेने का विचार किया। जब विचार किया तो दीक्षा लेने से पहले अपना सारा वैभव भी छोड दिया और इस प्रकार हलके होकर जनता के सामने मैदान मे आये। राजकुमार से भिक्षक बनकर जनता के बीच आये तो एक ही आवाज मे हजारो आदमी उनके पीछे चल पडे।

मतलब यह है कि परिग्रह वृत्ति का त्याग करके निर्लोभ वृत्ति को धारण किये बिना ही यदि कोई ससार की समस्याओ को हल करना चाहता है तो केवल निराशा ही उसके पल्ले पड सकती है। आचाय ने साधू और गृहस्थ दोनो के विषय मे कहा है। साधू यदि अपनी भूमिका मे रहना चाहते है तो उन्हे पूणरूप से अपरिग्रह के व्रत धारण करना ही होगा फिर बाहर से

ही अपरिग्रह होने से काम नही चलेगा अन्दर मे भी उसे अपरिग्रह बनना पडगा। परिग्रह की वासना न रहने का लक्षण यह है कि उसकी निगाह मे राजा और रक तथा धनवान और निर्धन एक रूप मे दिखाई देने चाहिये। जो किसी भी सन्त क सामने नत मस्तक हो जाता है धनवान की खुशामद करता है समझना चाहिये कि उसके भीतर पूरी अपरिग्रह वृत्ति का उदय नही हुआ है। धन की महत्ता को वह भूला नही है। वह समतृण मणि का विरोध नही प्राप्त कर सका है। जिसका जीवन पूणरूप से निस्पृह बन जाता है वह धन वभव से कभी प्रभावित नही होता और जो धन वैभव से प्रभावित नही हाता वही जगत का अपने च्च आचार और पवित्र विचार से प्रभावित करता है। साधु क अतिरिक्त दूसरे साधक गृहस्थ समाज मे से होते है। गृहस्थ पू ा तरह अपरिग्रह का त्याग नही कर सकता तो उन्हे सीमा बनानी चाहिय अपनी इच्छाओ के प्रभाव को कम करना चाहिये यानी एक देशवृत पालन क ना चाहिये

दोहा—दानेन लभ्यते भोग पर इन्द्रत्वमपि तपसा ।
जन्ममरण विवर्जित पद लभ्यते ज्ञानेन ।।७२।।

अर्थ—दान से पाच इन्द्रियो के भोग प्रा त होते हैं और तप से इन्द्र पद मिलता है तथा वीतराग स्वसवेदन ज्ञान से ज म जरा मरण से रहित जो मोक्ष पद वह मिलता है।

आहार अभय औषध और शास्त्र इन चार तरह के दानो को यदि सम्यक्त्व रहित करे तो भोग भूमि के सुख पाता है तथा सम्यक्त्व सहित दान करे तो परम्पराय मोक्ष पाता है। यद्यपि प्रथम अवस्था मे देवेन्द्र चक्रवती आदि की विभूति भी पाता है तो भी निर्विकल्प स्वसवेदन का फल मोक्ष ही है। यहा शिष्य प्रश्न करता है—हे भगवन् जो ज्ञानमात्र से ही मोक्ष होता है तो साख्यादिक भी ऐसा ही कहते है कि ज्ञान से ही मोक्ष है उनको क्या दूषण देते है। तब श्री गुरु ने कहा इस जिन शासन मे वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है सो वीतराग कहने से वीतराग चारित्र भी आ जाता है और सम्यक पद के कहने से सम्यक्त्व भी आ जाता है। जैसे एक चूर्ण मे अथवा पाक मे अनेक औषधिया आ जाती हैं ऐसे ही स्वसवेदज्ञान के कहने से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीनो आ जाते है। साख्यादिक के मत मे वीतराग विशेषण नही है और सम्यक विशेषण नही है केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं सो वह मिथ्याज्ञान है इसलिये दोषपूर्ण है यह जानना।

देव निरजन एव भणति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्ति ।
ज्ञानविहीना जीवा चिर ससारे भ्रमन्ति ।।७३।।

अर्थ—अनन्त ज्ञानादि गुण सहित और अठारह दोष रहित जो सर्वज्ञ वीतराग देव हैं वे ऐसा कहते हैं कि वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदनरूप सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष है इसमे सन्देह नही है। स्वसवेदन ज्ञान कर रहित जो जीव हैं वे बहुत काल तक ससार मे भटकते है। यहा वीतराग स्वसवेदन ज्ञान मे यद्यपि सम्यक्त्वादि तीनो हैं तो भी मुख्यता सम्यग्ज्ञान की ही है क्योकि श्री जिनवर बचन मे ऐसा कथन किया है कि जिसका कथन किया जावे वह मुख्य होता है अन्य गोण होता है ऐसा जानना।

ज्ञान विहीनस्य मोक्षपद जीव मा कस्यपि अद्राक्षो ।
बहुना सलिल विलोडितेन कर चिक्कणो न भवति ।७४।

अर्थ जो सम्यग्ज्ञान कर रहित मलिन चित्त है अर्थात् अपनी बडाई प्रतिष्ठा लाभादि दु ट भावो से जिसका चित्त परिणत हुआ है और मन मे ऐसा जानता है कि हमारी दुष्टता को क ई नही जान सकता ऐसा समझ कर बीत राग परमानन्द सु रस क अनुभवरूप चित्त की शुद्धि को नही करता तथा बाहर से बगुलाकासा भेष मायाचार रूप लोक रजन के लिये धारण किया है । यही सत्य है इसी भेष स हमारा कल्याण होगा इत्यादि अनेक विकल्पो से अपवित्र है । ऐसे किसी अज्ञानी क मोक्ष पदवी हे जीव मत देख अर्थात् बिना सम्यग्ज्ञान के मोक्ष नही होता । बहुत पानी के मथने स भी हाथ चिकना नही होता क्योकि जल म चिकनापन है ही नही । जस जल मे चिकनाई नही है वसे बाहरी भेष म सम्यग्ज्ञान नही है । सम्यग्ज्ञान के बिना महान तप करो तो भी मोक्ष नही होता क्योकि सम्य ज्ञान का लक्षण वीतराग शुद्धात्मा की अनुभूति है वही मोक्ष का मूल है । वह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दशनादि से भिन्न नही है तीनो एक है ।

यत् निजबोधाद् बाह्य ज्ञानमपि कार्यं न तेन ।
दु खस्य कारण येन तप जीवस्य भवति क्षणन ।७५।

अथ—निश्चय कर आत्मज्ञान से बहिमु ख बाह्य पदार्थों का ज्ञान है उससे प्रयोजन नही सधता ऐसा अभिप्राय मन मे रखकर कहते है । जो आत्म ज्ञान से बाहर शास्त्र वगरा का ज्ञान भी है उस ज्ञान से कुछ काम नही क्योकि वीतराग स्वसवेद ज्ञानरहित तप शीघ्र ही जीव को दु ख का कारण होता है । निदानबन्ध आदि तीन शल्यो को आदि ले समस्त विषयाभिलाषरूप मनोरथो के विकल्प जालरूपी अग्नि की ज्वालाओ से रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है उससे रहित बाह्य पदार्थों का शास्त्र द्वारा ज्ञान है उससे कुछ काम नही । कार्य तो एक निज आत्मा के जानने से है । यहा शिष्य ने प्रश्न किया कि निदान बन्ध रहित आत्म ज्ञान तुमने बतलाया उसमे निदान बन्ध किसे कहते हैं । उसका समाधान जो देखे सुने और भोगे हुए इन्द्रियो के भोगो से जिसका चित्त रग रहा है ऐसा अज्ञानी जीव रूप लावण्य सौभाग्य का अभिलाषी वासु देव चक्रवर्ती पद के भोगो की वाछा करे दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगो की अभिलाषा करे वह निदान बन्ध है सो यह बडी शल्य है । इस शल्य से रहित जो आत्म ज्ञान उनके बिना शास्त्रादि का ज्ञान मोक्ष का कारण नही

है । क्योकि वीतराग स्वसम्वेदनज्ञान रहित तप भी दुख का कारण है । ज्ञान रहित तप स जो ससार की सम्पदाये मिलता है व क्षणभगुर है । इसलिय यह निश्चय हुआ कि आत्मज्ञान से रहित जो शास्त्र का ज्ञान और तपश्चरणादि है उनसे मुख्यताकर पुण्य का ब ध होता है । उस पुण्य क प्रभाव स जगत की विभूति पाता है वह क्षण भगुर है । इसलिय अज्ञानिया का तप और श्रत यद्यपि पुण्य का कारण है तो भी मोक्ष का कारण नही है । आगे जिसस मिथ्यात्व रागादि की बुद्धि हो वह आत्म ज्ञान नहा है ऐसा निरुपण करते है ।

हे जीव वह वीतराग नित्यान द अ ण्ड स्वभाव परमा म त व का परिज्ञान ही नही है जिसमे पर द्रव्य मे प्रीति बढ़े । सूय की किरणा के आगे अ धकार का फलाव क्म शाभायमान हो सकता है नही हा सकता । शुद्धा मा की भावना से उ पन्न जो वीतराग परम आन उसके शत्रु पच द्रिया के विषयो की अभिलाषा जिसमे हो वह निज आ मज्ञान नही अज्ञान ही है । जिस जगह वीत ागभाव है वही सम्यग्ज्ञान है । इस बात का दृष्टात देकर दृढ करते है सा सुना । हे जीव जसे सूय क प्रकाश म अ धेरा नही ठहरता वमे ही आ मज्ञान म विषया की अभिलाषा नही हती यह निश्चय से जान । शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जा निराकुलता न हा आर आकुलता के उपजाने वा न आत्मीक सुख के वरी रागादिक जा बुद्धि को प्राप्त हा ता वह ज्ञान किस काम का । ज्ञान तो वह है जिसस आकुलता मिट जाव । इसम यह निश्चय हुआ वि बाह्य पदार्थो का ज्ञान माक्ष फल के अभाव से कायकारी नही है ।

आ मा को छोडकर ज्ञानियो को अ य वस्तु अ छी नही लगती इसलिये ये परमात्म पदाथ को जानने वालो का मन विषया मे नही लगता मिथ्या व रागादिक के छोडने से निज शुद्धा म द्र य के यथार्थ ज्ञानकर जिनका चित्त परिणत हो गया है ऐसे ज्ञानियो को शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमा मा का छोडके दूसरी कोई भी वस्तु सु दर नहा भासती । इसलिये उनका मन कभी विषय वासना मे नही रमता । ये विषय कसे है जा कि शुद्धा मा की प्राप्ति के शत्रु हैं । ऐसे ये भव भ्रमण के कारण है । काम भोग रूप पाच इ या के विषय उनमे मूढ जीवो का ही मन रमता है सम्यग्दृ ट का मन नही रमता । कसे हैं सम्यग्दृष्टी जिन्होने वीतराग सहजान द अखण्ड सुख मे त मय पर मा म तत्त्व को जान लिया है । इसलिये यह निश्चय आ कि जो विषय वासना के अनुरागी है वे अज्ञानी है औ जा ज्ञानाजन है व विषय विकार से सदा विरक्त हैं ।

केवल ज्ञानादि अन त गुणमयी आत्मा को छोडकर दूसरी वस्तु ज्ञानियो के मन म नही रुचती उसका दृष्टात जिसने मरकतमणि (रत्न) जान लिया उसका काच से क्या प्रयोजन है ।

जिसने रत्न पा लिया उसको काच के टुकडा का क्या जरूरत है । उसी तरह जिसका चित्त आत्मा म लग गया उसका पदार्थों की वाछा नही रहती है ।

३४ महानता-भोग का त्याग

वास्तव मे जन धम वीतराग विज्ञानमय है।

इसका हर एक क्रिया म आत्मा के गुणा का ध्यान रहता है। आ मा सुख शान्तिमय है। इससे धम सवन करत हुए सुख शाति तो तुरत प्राप्त होती है तथा अतराय कम का क्षयापशम हान म आत्मबल बढता है तथा पाप कर्मो का रस कम होने से व पुण्य कर्मों का स बन्ध स ससारिक क्लश घटते हैं और सासारिक सुख बढते है तथा तीव्र आपत्ति पडने पर धय की प्राप्ति होती है। इतने लाभ इस शरीर म रहत हुए हा प्रा त होत है इस लिये जो धम का सवन करत ह वे परलाक क लिये उत्तम आयु बाध कर शुभ गति म जाते है। ऐसा समझ कर हम सबका इस पवित्र जन धम की शरण म सदा रहकर व इस निरन्तर आराधना कर इस लोक तथा परलाक को प्रशसनीय बनाना चाहिये।

यह जीव एक धम के बिना ससार म अनक दु ख भोगता आया है परन्तु सुख का लेशमात्र भी प्राप्त नही हुआ। किसा पुण्य के निमित्त से आज उत्तम मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हुई। इसके बारे मे जिनभद्र ने कहा है कि— मनुष्य पर्याय दुलभ है सुख रहित है मरण समय पहल ा ज्ञात नही होता उत्कृ ट आयु भी जिसकी अ प किन्तु तप कवल इस मनुष्य पयाय मे ही होता है और मुक्ति तप से ही होती है अत मनु य भव पाकर तुझ तप करना याग्य है।

आत्मा का हित मोक्ष है। उसकी प्रा ति तप किय बिना नही हाती। सम्यग्दशनज्ञान चारित्र और तप आराधना को आराधित करक साक्षात मोक्ष सिद्धि हाती है। तप केवल मनुष्य पर्याय स ही हा सकता है अन्य पर्याय से नही।

त्रिलोकाधिपति भगवान की आराधना करनी चाहिए। यह सज्जन पुरुषा का धम है। भगवान के चरणो का ध्यान करने मे क्लेश भी हाता है साथ ही सासारिक भोगा की हृ ट से वह नुक्सान म भी रहता है कि तु उसे सबसे बडा लाभ यह मिलत है कि उसक कर्मों की असरयात गुनी निजरा हो जाती है। भगवान की आराधना और ध्यान मे मन की एकाग्रता कुछ देर तो करनी पडती है कि तु उसमे अपन साध्य मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। अत ध्यान के समय बुद्धिजना का मन मे यह बात विचारनी चाहिये और मन का

नियमन क के उसकी सम्पूण वृत्तिया और प्रवृत्तियो को भगवान के चरणो मे लगा देना चाहिये।

भगवान के चरणो मे मन की एकाग्रता से भगवान के गुणो का मन पर प्रभाव पडता है जिससे वन मनु य ससार के भौतिक स्तर से ऊचा उठता है और महान बनता जाता है।

आज ससार मे बडा वन कहलाता है जिसके पास भौतिक सामग्री का विशाल अम्बार लगा है जिसे ससार के विषय भोगो और इन्द्रियो की आकाक्षा पूर्ति के सभी साधन सुलभ है। आज बडा वह कहलाता है जिसके पास विलासिता के साधन हैं अकमण्यता के साधन हैं दूसरो को दण्ड देने के अधिकार है जिसके पास मकान नोकर बक बलस कारखाने हैं वह व्यक्ति समाज की दृष्टि मे म कार का दृष्टि मे और ससार की दृष्टि मे बडा है। किन्तु अ याय बा उसे मानन है जिसका आत्मा भौतिक सामग्री और आका क्ष ओ के भार मे हल्का है। जो यक्ति सासारिक वासनाओ के भार से दबे पड है वे बड कहा है ? उसकी आत्मा उस बाझ को ढोते ढोते छोटी हा गई है। वे तो करुणा के पात्र है। उनका आत्मा बाझ से इतना दब गया है कि मरने क बाद वह नीचे की ओर चला जाता है। तू बी पर कीचड लिपटी हो ता वह पानी म डबती चली जाता ह। एम ही पर ग्रह क भार स दबा आत्मा डबता चला जाता ह। उस बडा मानकर वया व्यथ ही उसका उपहास करते हा। हमे आश्चय होता है लागो की इस बुद्धि पर। मनुष्य जल म डबता है तो पानी उम ऊपर उछा लता भी है। सस र मे जो डबते है ससार की वास नाय उन्हे ऊपर उछालनी है। लाग समझ बठत है यह बडा है कितना व्यग्य है उस बेचारे पर। भौतिक पदाथ आसक्ति के चिह्न है। आसक्ति परिग्रह है भौतिक पदाथ हो और आसक्ति न हा ऐसे बिरल ही व्यक्ति हाते हैं। प्राय ससार मे देखा यह जाता है कि भौतिक पदार्थ नही है फिर भी आसक्ति है उन पदार्थों की कामना है वासना है आकाक्षा है तृष्णा है। इतने मात्र स वह परिग्रह है फिर भौतिक पदाथ हा और तृष्णा न हो वासना न हो आसक्ति न हो ऐसे वीतकाम वीतराग निस्पृह व्यक्ति अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं। वे धन्य है वे बड है महान है कि तु केवल भौतिक पदार्थों के कारण जो बड कहलाते हैं वे वास्तव म बड नही। उनमे कुछ चीजे बडी अवश्य है। उनकी चिन्ताय बडी है उनके मन मे भय बडा है उनमे तृष्णा बडी है उनके पाप बडे है। आकुलता परिग्रह के अनुपात से होती है।

यदि आत्मा को ऊपर उठाना है तो उसक कमरूपी बोझ का कम करना होगा। जब तक आत्मा क ऊपर कमरूपी पुद्गल का बोझ है तब तक

जीव का ध्यान पुद्गल मे ही उलझा रहेगा उसका ध्यान अपनी ओर होगा ही नही । उसका ध्यान पुद्गल की ओर रहेगा ता उसे ही बढाने का प्रयत्न करता रहेगा । अपनी ओर ध्यान नही होगा तो खुद को बडा बनाने का प्रयत्न कसे करेगा ?

आज तो पुद्गल का सचय करके जो बड बन रहे है वे ता उस भार वाही पशु के समान है जो बोझ म दबा तो जा रहा है किन्तु जिस बोझ मे जा वस्तु है उसका कोई रस नही आ रहा औ आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे उसे बडा माने तो माने किन्तु उस बोझ का उसे अपने मन मे अहकार भी है और वह अपन आपको बडा भी मान रहा है । उस भार के कारण उसको जो वेदना हो रही है उस वेदना को वह दूसरा पर प्रगट नही करना चाहता और अपने को धोखा देकर वह बडा दिखाकर ही आत्म सन्तुष्टि पाने का डाग करता है । ऐसे यक्ति मन मे परिग्रह की आसक्ति और अहकार की भावना रख कर भगवान के चरणा की आराधना करते है कि तु उनकी आराधना निष्फल रहती है । इसमे आश्चय ही क्या है ।

जो इस आसक्ति और अहकार को मन से निकाल देते हैं वे ही वास्तव मे बड है । कागज का मूल्य नही किन्तु जब जब उस पर अक की छाप और मोहर लग जाती है तो उस कागज के टुकड का भी मूल्य हा जाता है । इसी प्रकार इस शरीर का कोई मूल्य नहा कि तु जब अतरङ्ग और बहिरग परिग्रह के भार का उतारने की मोहर लग जाती है तब यह शरीर भी पूज्य बन जाता है ।

पाषाण पूज्य नही है उसका कोई विशेष मूल्य भी नही किन्तु जब उसम भगवान वीतराग की मोहर लग जाय और मन्त्रा की अक छाप लग जाय ता वह पत्थर भी पूज्य बन जाता है । किसी जमीन क्षत्र या वृक्ष का कोई विशेष मूल्य नही काई बिशेषता भी नही किन्तु जहा जिस क्षत्र पर या वृक्ष के नीचे तीर्थंकर भगवान का जन्म दीक्षा केवल ज्ञान या निर्वाण हो जाता है वह भूमि खण्ड क्षत्र और वृक्ष पूज्य बन जाता है । ऐसे ही जीव के मन म वीतराग परिणति हो और वसे ही उसकी वृत्ति महान हो वही महान है । जिसके पास विशाल भौतिक सामग्री है वह महान नही हैं । महान वह है जिसक मन मे उस सामग्री के सग्रह की तृष्णा नही उसके भोग की वासना नही महानता भाग मे नही भोग के त्याग मे है ।

३५ कन्द मूल अभक्ष्य क्यो ?

अनन्त ज्ञान का स्वामी यह आ मा ज्ञानावरण कम के निमित्त से अज्ञानी बना हुआ है और अविनश्वर होता हुआ भी आयुकम के कारण छोटे छोट समय वाले जीवन को अनुभव कर रहा है। अनुपम सुख शान्ति का निधान इस ससारी जीव का आतमा स्वय है कि तु भ्रम तथा मिथ्या श्रद्धा वश सुख शा ति की खोज अन्य पदार्थों मे कर रहा है। इसकी रूचि आत्मा मे होनी चाहिये किन्तु इसकी रूचि भौतिक शरीर के साथ है जिस तरह व्यभिचा । मनुष्य अ नी सतीगुणवती रूपवती स्त्री का तिरस्कार अनादर करके असती यभिचारिणी मायाविनी वश्या स अपमान पाता हुआ भी प्रम क ता है। ऐसी ही घटनाआ का देखकर एक नीतिकार ने कहा —

न वेत्तियो पस्य गुण प्रकष ।
स तस्य नि दा सतत करोति
यथा किराती करि कुम्भ जातां
मुक्ता परित्यज्य विभति गुञ्जाम ।

अर्थात्—जो व्यक्ति जिस पदाथ के महत्व को नही समझता वह उस महत्वशाली पदाथ की सदा निन्दा किया करता है। जिस प्रकार भीलनी हाथिया के मस्तक से निकले हुए गज मोतियो का महान मूल्य न जानते हुए उ हे छोडकर गुञ्जा (रत्ती) को हार बनाकर पहनती है। किन्तु खेद तो इस मनुष्य की समझ पर है जो कि सव श्रष्ठ भव को पाकर भी अपनी बुद्धिमानी का उपयोग सासारिक कार्यों क लिये तो करता है परन्तु आत्म उन्नति के निये अपने विशाल ज्ञान का प्रयोग रचमात्र भी नही करता।

संसार म इस जीव का सबसे बडा शत्र कोई पुरुष स्त्री पशु या कोई दृश्यमान जड प थ नही है इसका सबस बडा वरी तो एक मिथ्यात्व ह जिसक प्रभाव से जीव की श्रद्धा विपरीत हो गई है। अज्ञानी व्यक्ति को यदि समझाया जाय ता वह तो समझ जाता है किन्तु जिसकी श्रद्धा ही विकृत हो जाय उसका समझना बहुत कठिन ह। यह कारण है कि मिथ्या श्रद्धान मे तात्विक ज्ञान भी कार्यकारी नही होता। अत ज्ञानाव ण कम ज्ञान को कम ता कर देता है किन्तु ज्ञान को मिथ्या नही करता। परन्तु मिथ्या व कम

ता समस्त श्रद्धान का ही विकृत कर डालता है। इसलिये ज्ञानावरणादि कर्मों की अपेक्षा मिथ्यात्व कर्म महान अहित इस जीव का करता रहता है।

इस मिथ्यात्व के प्रभाव से ही ससार मे इस जीव की बडी भारी दुर्गति होती है। वैसे कहने को तो सबसे अधिक दुख वेदना सातवे नरक मे कही जाती है जो कि किसी अश मे है भी सत्य क्योकि सप्तम नरक का सारा वातावरण जगत मे जीव को सबसे अधिक शारीरिक दुख देने वाला है परन्तु उस महान कष्ट सहने की क्षमता भी वहा के जीवो मे रहा करती है। वे उस वेदना का सहन करते हुए भी सचेत रहते है मूर्छित नही होते। अतएव अपनी महती वेदना से भविष्य के लिये लाभदायक शिक्षा भी ग्रहण कर सकते है। अपनी वेदना के अनुभव तथा पूर्व भव के स्मरण से अनेक नारकी जीव अपने आत्म उद्धार के मूल आधार सम्यक श्रद्धान या आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेते है।

परन्तु ससार मे सबसे निकृष्ट और सबसे अधिक दुखप्रदाता भव एक और है। उसका नाम निगोद है। ससार मे औदारिक शरीरधारी जीव सबसे अधिक वेदना मरण के अवसर पर पाता है। यदि कोई जीव मर करके पुन उसी रूप मे फिर लौटकर आता तो मरण समय के दुख का कुछ अनुभव लोगो को सुनाता है। कोई कोई जीव मरणसन्न होकर पुन अच्छे हो जाते है तब वे उस समय की वेदना को सबसे अधिक दुखदायी बतलाते है। अस्तु निगोद के दुख का अनुमान इसी बात पर से किया जा सकता है कि वहा पर जीव बहुत थोडे समय मे (स्वस्थ मनुष्य के एक श्वास मे १८ बार) मर जाता है। निरन्तर जन्म मरण करते-करते उसकी अवस्था मूर्छित हो जाती है। इसी कारण ससार मे निगोदया जीव की ज्ञान शक्ति सबसे कम श्री सर्वज्ञ देव ने बतलाई है। उसका परिमाण है अक्षरज्ञान के अनन्तवे भाग। जगत मे यदि सबसे अधिक ज्ञान निरावरण केवल ज्ञानी (सर्वज्ञ) का है तो सबसे अल्पज्ञान निगोदिया जीव का है।

अनन्त जीव जो नियत थोडे से स्थान मे रहते हैं (अनन्त जीवेभ्य निपतागा ददाति इति निगोद) उसे निगोद कहते हैं। निगोद के अनन्त जीव जहा कही भी उत्पन्न हो तो सबके सब एक ही साथ उत्पन्न होते है उन सबका शरीर एक ही वस्तु होती है यानी एक ही शरीर का उपभोग अनन्त जीव एक समान साधारण रूप से करते हैं। वे सब सास भी एक साथ ही लेते हैं और मरते भी सबके सब एक ही साथ हैं। लब्धि अपर्याप्तक निगोदी जीव सास भी नही लेने पाते कि उनका मरण हो जाता है।

निगोदिया जीव साधारण वनस्पतिकाय एकेन्द्रिय जीव होते है। कोई निगोदी जीव किसी प्रत्येक वनस्पति के सहारे होते है। जसे कोपलरूप बिलकुल कच्चा नया पत्ता बिलकुल नया कच्चा फल आदि इनमे कुछ दिनो तक निगोदी जीव रहते हैं। फिर जब वह पत्ता हरा हो जाता है फल मे गुठली आ जाती है तब निगोदी जीव वहा नही रहने पाते।

तोरई आदि फलो शाको पर जब नशा जाल नही आवे भिंडी आदि म जब तक तन्तु (तार) पैदा न हो तब तक उसमे निगोद रहता है। फिर नशा जाल [जाली] तथा तार पदा हो जाने पर वे वनस्पतिया निगोद शून्य प्रत्येक वनस्पति हा जाती हैं।

ककडी आदि जब तक बहुत कच्ची होती है तब तक उनमे निगोद रहता है। उस समय यदि उनको तोडा जावे तो वे बिल्कुल साफ बराबर ऐसी टूटती हैं जसे कि चाकू से टुकड किये गए हो। कुछ छाटे पौधो या बेलो की छाल माटी है। जब छाल पतली हो जाती है और उसके भीतर लकडी (गूदा) अलग प्रगट हो जाती हैं तब उसमे निगोद नही रहती उस दशा मे वह प्रत्येक वनस्पति हो जाती है। जिन गन्ने बत बास आदि मे पगोली हाती है उनमे जब तक पगोली नही बन पाती हैं तब तक उन वनस्पतिया के आश्रित निगाद होती है जब उनमे पगोलिया प्रगट हो जाती हैं तब उनमे निगोद हट जाता है और वे प्रत्येक वनस्पति के रूप मे हो जाती हैं। प्रत्यक वनस्पति मे एक ही जीव होता है निगोद वाली वनस्पति मे अनन्त जीव हाते है।

ऐसी कुछ समय एक निगोद सहित रहने वाली वनस्पतियो को सप्रतिष्ठित प्रत्यक वनस्पति कहते हैं और निगोद हट जाने पर उन्ही वनस्पतियो को अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते है। सप्रतिष्ठित वनस्पति भक्षण करने पर अनन्त स्थावर जीवो का घात होता है और अप्रतिष्ठित वनस्पति खाने म केवल एकेन्द्रीय जीव का घात होता है। इस कारण अत्यन्त कच्चे फल जिनम कि गुठली न पडी हो पगोली न आई हो तोडने पर एक सी टूटे ऐसे कची गन्न ककडी आदि न खानी चाहिए।

दूसरी तरह के निगोदी जीव स्थायी साधारण वनस्पति मे होने है। स्थायी साधारण वनस्पतिया वे होती हैं जो पृथ्वी के गभ म ही अकुरित हा और पृथ्वी के गभ मे (भीतर) ही बढकर तैयार हो यानी सूर्य के प्रकाश से बिल्कुल अछूती रहे। वे आलू सकरकन्दी अरवी [कचालू] प्याज लहसन गाजर मूली की जड अदरक आदि है। इनमे सदा (जब सुखे नही) निगोदी

अनन्त जीव रहते हैं। अत इन वनस्पतियो को बिल्कुल न खाना चाहिये। इनमे जो वनस्पति जड की तरह पृथ्वी मे जाती है वे मूल कहलाती हैं और जो फल कर बढती हैं उन्हे कन्द है। जड तो सभी वृक्षा की पृथ्वी के भीतर ही होती हैं इसी कारण वे साधारण [निगोद सहित] होती हैं परन्तु खाने के काम नही आती। खाने मे मूली की जड तथा गाजर आती है। अत मूल शब्द से इस प्रकरण में गाजर मूली को ही लिया गया है।

इस तरह मे सप्रतिष्ठित प्रत्यक वनस्पति तथा साधारण वनस्पति को निगोद बादर (स्थूल) कहते हैं यानी इन निगोदी जीवो का शरीर दृष्टिगोचर होता है अन्य पदार्थों मे उसका रुकावट आती है और वह भी अन्य स्थूल पदार्थों की रुकावट म कारण बनता है। इन निगोदी जीवा के सिवाय दूसरे सूक्ष्म निगोदी जीव भी होते है जो कि बिना किसी वनस्पति के आधार स या स्थूल शरीर के रूप मे नही होते जो न किसी मे रुकते है न किसी को रोकते है ऐसे सूक्ष्म निगोदी जीव सवत्र भरे हुए है कोई भी स्थान उन सूक्ष्म निगोदी जीवा से खाली नहा है। सूक्ष्म होने के कारण वे निगोदी जीव एक दूसरे के भीतर अनन्त जीव रहते है। उन सूक्ष्म जीवो की सख्या के विषय मे जीव काण्ड म लिखा है।

एगणिगोद शरीरे जीवा दव्वप्प माणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणत गुणा सव्वेण वितीद कालेण ।१९५।

अर्थात एक निगोदी जीव के शरीर मे अतीत कालीन अनन्त सिद्धा स भी अनन्त गुने अन्य सूक्ष्म निगोदिया जीव रहते है। निगोदिया जीव निम्न लिखित जीवो के शरीर के आश्रित नही होते।

पुढवी आदिचउण्ह केवलि आहार देवणिरयगा।
अपदिट्ठिदा णिगोदहि पदिट्ठिदगा हवे सेसा ।१९६।

अर्थात पृथ्वी जल अग्नि वायु केवली आहारक देव और नारकिया का शरीर निगोदी शरीर मे प्रतिष्ठ नहा होता। अप्रतिष्ठित प्रत्यक वनस्पति की तरह निगोद शून्य होता है। शेष सब जीवा के शरीराश्रित निगोद होता है यानी व सप्रतिष्ठित होते है। निगोद के दो भेद दूसरे ढङ्ग से है। १ नित्य निगोद २ इतर निगोद। जो जीव अनादिकाल स अब तक निगोद म ही है वहा से निकलकर जिन्होने अन्य कोई पर्याय ग्रहण नही की है वे नित्य निगोद है। जो जीव निगोद मे निकलकर कुछ अन्य प्रकार के शरीरो को धारण कर चुके है तत्पश्चात् फिर निगोद मे जाते है उस निगोद को इतर निगोद कहते है।

निगोद जीव के अनन्त जीव ऐसे भी हैं जो अनादिकाल से निगोद मे रहे हैं और अन तकाल तक निगोद मे रहेगे । यानी निगोद से न कभी निकले हैं न कभी निकलगे । इस बात के समथन मे जीव काड गोम्मट सार मे कहा है –

अत्थि अणता जीवा जेहिंण पत्तोतसाण परिणामो ।
भाव कलक सुपउरा णिगोद वास ण मु चति ।१६६।

अर्थात् ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होने त्रस पर्याय कभी नही पाई और जो अपने कलकित भावा के कारण कभी निगोद को न छोडगे । मृतक शरीर मे निगोद राशि उ पन्न होने लगती है अत मुर्दा शरीर का अग्नि सस्कार शीघ्र कर देना चाहिए ।

इस प्रकार निगोदिया जीवो के विषय मे यह सक्षिप्त विवरण है । इसको समझ कर निगादिया जीवो क घात से जहा तक बचा जा सके बचना चाहिये । खान पान मे उन पदार्थों को न ग्रहण करना चाहिये जिनमे निगोद हो । जिह्वा की लालुपता शा त करने के लिये तथा पेट की भूख मिटाने के लिये जगत मे मे बहुत स नि षि सु दर स्व दिष्ट पदाथ है उन द्वारा अपनी भूख तथा स्वादु प्रियता शा त की जा सकती है । तब सप्रतिष्ठित वनस्पतिया तथा साधारण वनस्पतिया न खाई जावेगी तो क्या हानि होगी ।

उपयु क्त विवरण से हमको दो शिक्षाय ग्रहण करनी चाहिये एक तो मिथ्या व से बच क्याकि मिथ्यात्व की प्रचुरता ही ससार परिभ्रमण और निगोद जसी निकृष्ट पर्याय म ले जाने के कारण हैं । मानव शरीर पाकर तथा सत्य धम सुनने का सुअवसर प्राप्त करके मिथ्या श्रद्धा दूर करनी चाहिए । दूसरे नरभव मे हेय (छोडन याग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) कर्मो का समझने की विवक बुद्धि है तो उस विवेक से कार्य लेकर ऐसे खान पा । आहार व्यवहार से बचना चाहिये जिनसे व्यथ अशुभ कर्मों का आस्रव तथा बध होता है । विवेक से कार्य लेकर सदा ऐसा विचार और काय करने चाहिय जिनसे आत्मा और भी अधिक उन्नत हो उसके गुणो का विकास हो । विवक हीन का सब तरह पतन हाता है । हमे कम से कम अपने आ मा को तो पतन से बचाना चा िये । अ धा पुरुष यदि न देख सकने के कारण कुए मे गिर पड तो कुछ आश्चय या नि दनाय बात नही है परन्तु नेत्र ठीक हाने पर तथा प्रकाश होने पर भी मनुष्य कुए मे गिर जावे यह तो बडी खेदजनक बात है ।

३६ सम्यक्त्व की उत्पत्ति

किसी भी कार्य के होने के लिये दो प्रकार के कारणो की आवश्यकता हुआ करती है। १ उपादान २ निमित्त। दोना कारणो के मिलने पर ही काय हुआ करता है। दोनो मे से कोई भी एक हो किन्तु दूसरा कारण न हो तो काय कभी नही होता। वस्तु मे जो अपने कायरूप होने की शक्ति होती है उसे उपादान कहते है। उपादान कारण के सिवाय जो और दूसरे कारण उस काय होने मे सहायक हुआ करते हैं उनको निमित्त कारण कहते हैं।

जसे आम का पेड उत्पन्न करने के लिए उपादान कारण आम की गुठली है क्योकि आम का पेड उत्पन्न करने की शक्ति उसी मे है। किन्तु आम का पड उगाने के लिए उस गुठली से ही पेड नही उग सकता उसका दूसरे सहायक कारण मिलने चाहिये जसे पेड उगने योग्य जमीन क्योकि गुठली पत्थर पर पडी रहे या पानी मे रहे अथवा किसी बतन म रखी रहे ता वह पेड पदा न कर सकेगी उसके उगने याग्य जमीन हागी वही वह उग सकगी। उसके साथ हा उसको उगने याग्य खाद्य पानी हवा तथा लगान वाला माली उसके उगने याग्य ऋतु आदि और और पदाथ भी हाने आवश्यक है। जब सब कारण मिल जाते हैं तब आम का वृक्ष उत्पन्न होता है। न ता केवल गुठली स होता है और न केवल जमीन पानी खाद हवा आदि से।

इसी प्रकार आत्मा की शद्वि के लिये मूल करण सम्यग्दशन (दशन शब्द का प्रसिद्व अथ देखना यहा नहीं लिया गया यहा दशन का अथ श्रद्धा करना लिया गया है। सम्यक शब्द का अथ ठीक या भले प्रकार है अर्थात ठाक रूप स आत्मा की श्रद्धा होना सम्यग्दशन है) हे। उसके उत्पन्न होने के भी दा कारण है। आत्मा तो उसका उपादान कारण है क्योकि आत्मा म ही सम्यग्दशन उत्पन्न हाने की शक्ति है। तत्वो का श्रद्धान होना पाँच लब्धियो का मिलना योग्य अन्य साधनो का प्राप्त होना निमित्त कारण है।

गर्भाशय आदि होने पर भी अपने पति का प्रसग मिलने पर जिस तरह बन्ध्या स्त्री के सन्तान नही होती क्योकि उस स्त्री म गर्भ धारण करने की योग्यता नही होती इसी प्रकार तात्विक श्रद्धान कुछ लब्धियाँ (करण लब्धि के सिवाय शष ४ लब्धियाँ) तथा अन्य साधन मिलने पर भी अभव्य जीव मे सम्यग्दर्शन प्रगट होने की स्वाभाविक योग्यता नही होती। इस कारण

सम्यग्दर्शन का उपादान कारण भ य जीव है । भ य जीवो मे भी कुछ दुरानु दूर भव्य एस होते हैं जिनमे सम्यग्दर्शन होने की स्वाभाविक योग्यता होती है किन्तु उनको निमित्त कारण सम्यग्दर्शन के लिये नही मिल पाते । जसे कि किसी अब ध्य (जो बाझ नही है गभ धारण कर सकती है) कुलीन (जिस कुल म स्त्री का दूसरा विवाह नही किया जाता) स्त्री बाल विधवा हो (पति का समागम हान से पहल ही पति मर गया हो । विधवा हो गई हा) तो सन्तान उत्पन्न करने की याग्यता होने पर भी ज म भर पति का सयोग न मिलने के कारण सन्तान उत्पन्न न कर सकेगी । इस तरह दुरानुदर भव्य भी सम्यग्दर्शन होने के लिये ठीक उपादान कारण होते हुए भी अन्य बाहरी निमित्त कारण न मिलने की वजह से कभी सम्यग्दशन प्रगट न कर सकेगा ।

वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहने है (तस्य भावस्तत्व योऽर्थौ यथा वस्थितस्तथा तस्य भवनं) जम मनुष्यत्व (मनुष्यपना) पशु व (पशूपना) आदि । तत्व वस्तु से पृथक नही होता है जसे अग्नि से पृथक उष्णता (गर्मी) न ी रहती । अत तत्व का अभिप्राय तत्वार्थ यानी अपने स्वरूप सहित वस्तु ही समझना चाहिये । इस कारण श्री उमास्वामी आचार्य ने मोक्षशास्त्र मे सम्यग्दशन का लक्षण बतलात हुए तत्व थ श्रद्धान सम्यग्दर्शम् यानी अपन स्वरू सहित (मोक्षमाग मे उपयागी) पदार्थो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । वसे तो जगत मे घट व पट त्व पुस्तकत्व मनुष्य व पशु व आदि अन तानन्त त व है उनके ठीक या गलत श्रद्धान से आ मा का कल्याण या अकल्याण नही होता । आ मा का शुद्ध मुक्त करने के लिये श्रद्धय तत्व सात है । १ जीव २ अजीव ३ आस्रव ४ ब ध ५ सवर ६ निर्जरा और ७ मोक्ष ।

जानने देखने वाला (ज्ञान दर्शन उपयोगमय) चेतन पदाथ जीव है जो ससार म कमब ध के फल स्वरूप मिले हुए मनुष्य पशु देव नारकी के शरीर मे से किसी एक शरीर मे कुछ समय तक रहकर अपने पिछले कर्मों का फल भागता है तथा भविष्य के लिये अ य कम सचित किया करता है । इसी ससा ी जीव को विकारी भावो से छुडाकर शुद्ध और कमब ध से छुडाकर मुक्त क ने का प्रारम्भिक मूल उपाय सम्यग्दशन है । अर्थात् ससारी जीव को यह दृढ श्रद्धान होना चाहिए कि मै इस समय विकृत बद्ध अवस्था मे हू । विकारी तथा कर्मों का हटाकर शुद्ध मुक्त हो सकता हू ।

चतन्य रहित जड पदाथ अजीव हैं । सभी दृश्यमान (दिखाई देने वाले) पदाथ तो अजीव जड हैं ही शरीर भी जड है । जब तक श ीर मे जीव रहता है तब तक जीव के सम्ब ध से शरीर को जीवित कह देते है । सभी भौतिक

पदार्थ तथा अमूत (चार अमूत पदाथ धर्म अधम अकाश काल) अजीव पदाथ हैं। इनमे से जीव के साथ सम्बद्ध हाने वाला और उसको ससार जेल मे रखने वाला कार्माण स्क ध नामक पुद्‌गल (भौतिक) पदार्थ है। कार्माण स्क ध जब जीव के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे कम कहलाते हैं।

कार्माण स्कन्धो को आकर्षित करने वाली (अपनी ओर खीचने वाली) एक योग नामक शक्ति जीव मे होती है जो कि मन बचन शरीर का सहयोग पाकर आत्मा के प्रदेशो (अशो) मे हलन चलन (हरकत) किया करती है। इस योग शक्ति से जो कार्माण स्क धो का आकर्षण (खीचना) होता है उसको आस्रव कहते है।

आकर्षित कार्माण स्क धो का जीव के प्रदेशो के साथ कषाय के निमित्त से एकमेक (दूध पानी के समान) सम्ब ध हो जाता है उस दशा का नाम ब ध है। आस्रव और ब ध क्रिया एक साथ होती है। ससारी जीव प्रति समय अन तानन्त परमाणुओ वाले कार्माण स्क धा का आस्रव और ब ध किया करता है। इस आस्रव और ब ध की मात्रा मे कुछ कमी बेशी तो हा जाती है किन्तु दोनो बात सदा होती रहती हैं। सम्यक्त्व व्रत सयमादि द्वारा जा कम आस्रव प्रणाली रुकती जाती है उस कम आने की रोक का नाम सवर है। ससार अवस्था मे यानी पूरी तौर से कर्म नष्ट होने से पहल कम आस्रव पूरी तौर से नही रुका करता आस्रव का कुछ कुछ अश रुकता जाता है। जम किसी कुण्ड मे ५ मोरियो से जल भरता था उनमे से जब एक मारी ब कर दी गई तब चार मोरिया से पानी आता रहा जब दो मारि या का मुख बन्द कर दिया तब पानी का आना और भी कम हो गया। इसी त रह कम आने के कारण ज्यो ज्यो कम होते जाते है त्यो त्यो सबर बढता जाता है यानी कर्म-आस्रव कम होता जाता है। अन्त मे जब आस्रव के सभी कारण नष्ट हा जाते हैं तब पूण सबर हो जाता है। उस समय मोक्ष हो जाती है।

जिस प्रकार प्रतिसमय नये नये कर्मों का ब ध होता रहता है उसी तरह प्रति समय पहले के बधे कम उदय आकर छूटते भी जात ह। इस तरह कर्मों की निजरा (छूटत जाना) प्रत्येक ससारी जीव के स्वय हुआ क ती है। इस सविपाक निर्जरा स जीव का कुछ कल्याण नही हाता कि तु तपस्या करने स पूवबद्ध कम बिना फल देकर भी आत्मा से छूट जात है वह अविपाक निर्जरा है। मुक्ति म कारण यही अविपाक निजरा हाती है।

सवर और निजरा हात होते जो समस्त कम आत्मा से छट जाते हैं आ मा पूण शुद्ध हो जाता है उसको मोक्ष कहते हैं। जिस तरह चावल क ऊपर

का छिलका उतर जाने के बाद फिर वह चावल नही उग सकता। इसी तरह एक बार समस्त कम छूट जाने पर फिर कर्मों का बध नही होता। आत्मा सदा के लिये कम बन्धन से मुक्त होकर अजर अमर निरजन निर्विकार पूण शुद्ध बन जाता है।

ससारी जीव को पूर्ण शुद्ध करना है अत सबसे प्रथम जीव तत्व रक्खा गया है। जीव अजीव रूप पुद्गल (कम नो कर्म) से सबद्ध होकर ससार मे भ्रमण कर रहा है। अत जीव तत्व के अनतर अजीव तत्व रखा गया। ससार भ्रमण क कारण आस्रव और बन्ध है इसलिय तासरा चौथा तत्व आस्रव ब ध रक्खा गया। ससार म छुटने के भी दो कारण है सवर और निजरा। इसलिये पाचवा छठा तत्व-सवर निर्जरा रक्खा गया। सवर निजरा का फल क्या होना है ? मोक्ष। अत मोक्ष को सबसे अन्त म रक्खा गया। इस तरह जीव के साथ साथ कम (अजीव) कम आने बन्धने कम आस्रव रुकने कम झरने तथा मुक्त हाने को बतलाने रूप सात तत्व बतलाये हैं। इन सातो तत्वो का विवरण (ज्ञान) जानकर ब धन तथा मोक्ष की प्रक्रिया का श्रद्धान हो जाने पर आत्मा मे सम्यग्दशन प्रगट हुआ करता है।

सम्यग्दर्शन उत्पन्न (प्रगट) होने का अतरग कारण दशन म हनाय (आत्मा की अनुभूति न होने देने वाला) कम का उपशम (कुछ समय तक कम का उदय न होना) या क्षय (कम का बिल्कुल नष्ट हो जाना) अथवा क्षयापशम (कुछ उदया भावीक्षय कुछ उपशम और कुछ उदय) होना है। दशन माहनीय का उपशम होने से अन्तमु हूर्त तक उपशम सम्यक्त्व होता है। दशन माहनीय का क्षय हो जाने से सदा क लिये क्षायिक सम्यग्दशन हाता है और दर्शन मोह नीय कर्म के क्षयोपशम होने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है जो कि अन्त मु हूत और ८ वष कम एक कोटि पूव ६६ सागर तक अधिक से अधिक रहता है। तदन तर छूट जाता है।

किन्तु इन सम्यक्त्वो को होने के लिये बहिरग निमित्त कारण भी अवश्य होने चाहिये। सो नरको मे तीसरे नरक तक नारकी जीवो मे सम्यग्दशन किसी को अपने मित्रदेव द्वारा धर्म उपदेश सुनने से किसी को पहले भव का स्मरण आ जाने से और किसी को नारकीय यन्त्रणाओ (पीडाओ) के कारण चित्त मे निमलता आने पर हो जाता है। नरको मे देव तीसरे नरक तक ही जाते हैं। उससे आगे नही जाते अत चौथे नरक से सातव नरक तक नारकी जीवो को सम्यग्दर्शन होने के दो ही कारण होते है। पूर्व भव स्मरण व वेदना का अनुभव। तियञ्च (पशु) गति मे किसी पशु, पक्षी को किसी मुनी आदि द्वारा धम उपदेश सुनने से किसी को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से और किसी को

िनेन्द्र भगवान की शान्त वीतराग मूर्ति का दर्शन करने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। मनुष्यो को भी इन ही तीन कारणो से सम्यग्दर्शन होता है। देव गति मे किन्ही देवो को तीर्थंकर मुनि आदि का उपदेश सुनने से किन्ही को तीर्थकरो के कल्याणक देखने से किन्ही को पहले भव का स्मरण हो जाने से और किन्ही देवो को बडे ऋद्धि धारक देवो को देखकर सम्यग्दर्शन हो जाता है। ये चारो कारण भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी तथा बारह वे स्वर्गों के देवो के लिये हैं। १३ १४ १५ १६ वे स्वर्ग के देवो में ऋद्धि धारक देवो को देखने के सिवाय तीन कारणो से सम्यग्दर्शन होता हैं। नवग्रैवेयको के देवो मे किसी को धर्म उपदेश सुनने से और किसी को पूर्व भव के स्मरण हो जाने से परिणामो मे निर्मलता आने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। उनसे ऊपर अनुदिश तथा ५ अनुत्तर विमानो मे रहने वाले सभी देव सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस तरह निमित्त और उपादान कारण मिलते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होने की सक्षेप से प्रक्रिया है। हमको देव शास्त्र गुरू मे अटल भक्ति रखनी चाहिये। चाहे जैसी विपत्ति क्यो न आ जावे किन्तु कुदेव कुशास्त्र कुधर्म कुगुरू की श्रद्धा मान्यता भक्ति अपने मन मे न आने दे न उनकी स्तुति करे न उन्हे नमस्कार करे तथा सातो तत्वो का स्वरूप अच्छी तरह समझ कर कर्म आस्रव और बन्ध के कारणो से अपने आपको बचाते रहने का यत्न करते रहना चाहिये सवर निर्जरा होने के कारणो को आचरण मे लाना चाहिये। तथा जिन वाणी का मन लगाकर स्वाध्याय करना चाहिये चारित्र धारक गुरूओ से उपदेश सुनना चाहिये और जिनेन्द्र भगवान का बडी श्रद्धाभक्ति से दर्शन विनय पूजन करना चाहिये जिससे हमारे आत्मा मे अच्छे भाव अच्छे सस्कार उत्पन्न हो और आत्मा शुद्धि की ओर अग्रसर हो। आत्मा को शुद्ध करने के लिये मनुष्य भव मे सभी साधन उपलब्ध हैं। हमे उनसे लाभ उठाना चाहिये।

३७ वेदनीय कर्म

जगत के समस्त जीव द्रव्य दृष्टि से एक समान हैं। उनमे परस्पर रच मात्र भी भेद नही है सबमे एक सरीखे गुण शक्तिया विद्यमान है। जसे तालाब म भरे हुए जल की प्रत्येक बू द एक सरीखी हैं लोकाकाश मे विद्यमान अस ख्यात कालाणु एक समान होते हैं। शुद्ध अवस्था मे प्रत्येक आत्मा मे जो अपने गुणो का पूर्ण विकास हाता है वह समस्त मुक्त जीवो मे सवथा समान है। अनन्ता मुक्त जीवो मे से प्रत्येक मुक्त जीव केवल ज्ञानी हैं अनन्त सुख सम्पन्न अनन्त शक्तिमान है। द्रव्य की अपेक्षा अनन्त ससारी जीवो मे भी अनन्त दशन अनन्त ज्ञान अनन्त सुख अनन्त बल मुक्त जीवो की ही तरह मौजूद है। अन्तर केवल इतना है कि जो गुण मुक्त जीवो मे व्यक्त हैं। वे ही गुण ससारी जीवो मे अव्यक्त है। जब ससारी जीव अपने गुणो को पूण यक्त कर लेता है। तो वह भी सिद्ध मुक्त हो जाता है। (इस बात को क्षुल्लक मनोहर वर्णी ने अपनी कविता मे कहा)

मै वह हूं जो हैं भगवान जो मै हू वह हैं भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहा राग वितान॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान॥
किन्तु आश-वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान॥

यानी—आध्यात्मिक पुरुष अपने आत्म स्वरूप का चिन्तवन करके कहता है कि जो मै हू भगवान भी तो वे ही आत्मा है अथवा जो भगवान है वसा ही मैं भी हू। मुझमे और भगवान मे आत्मा की दृष्टि से अन्तरग भेद कुछ नही हैं। कवल यही एक ऊपरी अन्तर है कि भगवान की विराग परिणति है और मैं राग भाव की कीचड मे सना हुआ हू। मेरा स्वरूप सिद्ध परमात्मा के समान हैं मैं अनन्त सुख अनन्त ज्ञान अनन्त बल का भण्डार हू। परन्तु सासारिक विषयो की आशा लालसा के कारण मेरी निमल ज्ञान शक्ति प्रच्छन्न हो गई है। जिससे कि मैं अज्ञानी और दीन हीन भिखारी बन गया हू।

इस तरह द्रव्य की अपेक्षा अनन्तानन्त ससारी जीव परस्पर एक समान हैं परन्तु अपने अपने कर्म-बन्धन के कारण उनमे महान् भेद हैं। कोई जीव मन पर्यय ज्ञानी है कोई अवधि ज्ञानी है। किसी मे मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही है।

अनन्तो जीवो मे श्रतज्ञान का क्षयोपशम तो है परन्तु कुछ मन न हाने के कारण श्रतज्ञान का उपयोग नही होता है। इसके सिवाय सभी मन पर्याय नानी एक समान नही न समस्त अवधि ज्ञानी एक समान जानते है। मतिज्ञान श्रत ज्ञान के विषय मे भी यही बात है। जिस जीव के जितना ज्ञानावरण कम का क्षयोपशम होता है उसमे ज्ञान गुण का विकास उतना ही होता है। ज्ञान गुण की तरह दशन सुख बल गुण की अपेक्षा भी समस्त ससारी जीवा मे परस्पर अन्तर पाया जाता है। दर्शनावरण माहनीय अन्तराय कर्मो का उदय जिस जीव के जितना अधिक होता है उस जीव का दशन सुख बल उतना ही कम हाता है और जिम जीव के जितना उन कर्मों का क्षयोपशम जितना ही अधिक होता है उतना ही अधिक विकास उस जीव म उन गुणो का पाया जाता है। एक कवि ने कहा—

केऽपि सहस्रम्भरयोलक्षम्भरणश्च केऽपि नरा ।
नात्मम्भरय केचित फल मेतत सुकृत दुष्कृतय ॥

यानी कोई मनुष्य ऐसे है जो हजारो जीवो का पालन पोषण करत है कोई भाग्यशाली ऐस भी है जो लाखा जीवो का पेट भरत हैं और कोई अभ ग ऐसे भी है जो बेचारे अपना पेट भी नही भर सकते। यह पुण्य पाप कर्मो क फल की लीला है।

आठ कर्मों मे तीसरे कम का नाम वेदनीय है जिसक उदय मे ससारी जीव इन्द्रिय जनित सुख का तथा शारीरिक मानसिक वाचनिक दुख का वेदन करता है। वेद के दो भेद है जिसके उदय से ससारी जीव सुखरूप अनुभव करता है। वह साता वेदनीय कम हैं और जो दुखरूप अनुभव करता है वह असाता वेदनीय कम है।

गोम्मटसार कम काण्ड

अक्खाणअणुभवण वेयणिय सुहसरूवय साद ।
दुक्खसरुवमसाद त वेदयदीदि वेदणिय ॥१४॥

यानी स्पशन आदि इन्द्रियो का अपने स्पश आदि विषयो का अनुभव करना वेदनीय कम है। जो इन्द्रियो द्वारा सुख स्वरूप अनुभव कराता है वह साता वेदनीय है और जो दुखरूप अनुभव कराता है वह असाता वेदनीय है। सुख आत्मा का अनुजीवी गुण है उसको अघाति वेदनाय कम किस तरह घातता है। इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती इसी कम काण्ड गोम्मटसार मे कहते हैं।

घादिंव वेयणीय मोहस्स बलेण घाददे जीव ।
इदिघादीण मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदंतु ।।१६।।

अर्थात्– घातिकम का तरह ही वेदनीय कम भी माहनीय कम का सन्ायता से जीव के सुख गुण का घात करता है । इस कारण वेदनीय कम का पन्ले तीा घाति कर्मों के बीच मे मोहनीय कम स पहले रक्खा गया है ।

अर्थात –इ द्रियो के विषयो का जीव जो सुखरूप या द खरूप अनुभव करता है वह तो वदनीय कम का काम है इस कारण वन भी घाति कर्मो की त ह जीव के सुख गुण का घात करता है प न्तु यह काय वह स्वय केवल अपनी शक्ति से नही करता माहनीय कम की सहायता से ही करता है । राग रूप परिणाम हाता है वन्नीय कम उसको सुखरूप अनुभव करता है । जिस इ द्रय विषय म जीव का अति (द्व ष) रूप परिणाम हाता है तब उसे असाता वेदनीय कम दु खरूप अनुभव कराता है ।

नीम क पत्ता को खाने मे मनुष्य के अतिरूप परिणाम होते है अत नीम के पत्तो का लाचारी से खाना मनुष्य को दुखरूप अनुभव होता है और उन ही नीम के पत्तो के खाने म ऊट बकरी आदि जीवो के रागरूप परिणाम हाते हैं इस कारण कडवे नीम के पत्त खाने मे ऊट बकरी आदि को सुख अनु-भव गोता है । साराश यह है कि वेदनीय कम सुख दु ख का अनुभव माहनाय कम की सहायता से ही कराता है । इसी कारण जब जीव का मोहनीय कम नष्ट हो जाता है तब असाता वेदनीय कर्म द खरूप अनुभव नही करा सकता । इसीलिये अहन्त भगवान को असाता वेदनीय कर्म के कारण ११ परिषह बतलाई गई है परन्तु मोहनीय कम न रहने से उनको दुख का अनुभव नही होता क्योकि उनके अनन्त मुख प्रगट हो चुका है ।

जिस तरह किसी तलवार के ऊपर खाड की चाशनी गिर पडी एक मीठ रस का लोलुपी तलवार की उस चासनी का चाटने लगा चासनी चाटने से उसकी जीभ माठा स्वाद लेने लगी उसे सुख प्रतीत हुआ । थोडी देर मे जब तलवार की धार पर जाभ चासनी चाटने लगी तब उसकी तलवार की धार से जीभ कट गई उस जीभ कट जाने से उसे दु ख हुआ । इसी तरह साता वदनीय के उदय से सुख और असाता वदनीय के उदय से दुख होता है ।

प्रति समय जो सात कर्मों का बन्ध होने के लिये जो समय प्रबद्ध आता है उसमे सबसे अधिक द्रव्य वेदनीय कर्म को प्राप्त होता है क्योकि वेदनीय

कर्म की प्रति समय निजरा अन्य कर्मों की अपेक्षा अधिक हुआ करती है। श्री नेमीचन्द्र आचार्य ने गोम्मट सार कम काण्ड म लिखा है—

सुह दुक्खणि मित्तादो बहुणिज्जरगोत्ति वेयणीयस्य ।
सव्वेहितो बहुग दव्व होदित्ति णिद्दिठठ यस्स ।।१६३।।

यानी सुख दु ख के निमित्त मे वेदनीय कम का बहुत निजरा हुआ करती है इस कारण वेदनीय कम का अन्य कर्मों से अधिक कार्माण प्रदेश प्राप्त होते है।

३८ ज्ञानावरणी कम

यदि जारदार आधी चल रही हा तो दिन मे निकला हुआ सूय का प्रकाश भी इतना क्षीण हो जाता है कि मनुष्य को अपने सामने की वस्तु भी दिखाई नही देती। उस समय दिन मे भी दीपक का प्रकाश करने की आव श्यकता पड जाती है। चलते हुए मनुष्य आधी के उस दिन वाले अधेरे म दुघटनाग्रस्त हो जाते है। कुये खड्ड आदि म गिर जात है।

दर्पण पर यदि तेल की चिकनाई लग जाव ता उसमे मुख स्पष्ट दिखाई नही देगा। यदि उस पर कुछ धूल भी लग जावे तो उसमे मुख और भी भद्दा नजर आवगा। सोना चमकदार होता है पर तु यदि साना कीचड मे गिर पड तो जब तक उसे साफ न किया जाव तब तक उसको चमक फीकी भद्दी दीखेगी। रात्रि म पूणमासी के दिन पूण च द्रमा निकलता है तो जगत मे उसका स्व छ शीतल प्रकाश फल जाता है ता चोरो क सिवाय समस्त स्त्री पुरुषा का आन द हाता है। रात मे भी सब कुछ दिखाई देता है। यात्री उस रात मे सुगमता स पदल यात्रा किया करत हैं र तु यदि वह पूणमासी श्रावण भाद्रपद मास मे हा जबकि काले काले बादल घुमड घुमड कर बरसते हैं तो बेचा ा च द्रमा उन काले बादलो मे छिपा रह जाता है। उसका जरासा प्रकाश भी पृथ्वी पर नही आ पाता रात भर अधेरा बना रहता है।

इस तरह प्र येक जीव मे समस्त जगत् के त्रिकालीवर्ती पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला केवल ज्ञान विद्यमान है परन्तु ज्ञानावरण कम ने उस केवल ज्ञान पर ऐसा आवरण डाला है कि वह ज्ञान छिपसा गया है उसकी बहुत थोडी किरण निकल रही हैं। इसी कारण ससारी जीव को अन्य वस्तुआ को जानने के लिये दीपक च द्र सूर्य आदि के प्रकाश का तथा इ द्रिया का भी सहारा लेना पडता है जसे कि वृद्ध मनुष्य को चलने के लिये लाठी का सहारा आवश्यक हो जाता है। बुडढ की लकडी टूट जावे या लचक जावे तो बुडढ का चलना फिरना धीमा पड जाता है इसी तरह नेत्र आदि इ द्रियो मे कुछ खराबी आ जावे तो फिर उन इ द्रियो के सहारे जानना देखना भी मदा पड जाता है।

ज्ञानावरण का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप स्वस्थ मनुष्य के श्वास नि श्वास लेने निकालने के छोटे से काल मे १८ बार जन्म मरण करने वाले निगोदिया

जीव के होता है जिससे कि उसका ज्ञान अक्षर ज्ञान के अन तव भाग प्रमाण रह जाता है उससे कम ज्ञान और किसी जीव क नही होता उस जघ-य के ऊपर ज्ञानावरण कम का आवरण नही होता इस कारण उसको नित्य -द्घाटित -ान कहते है ।

निगादिया ज्ञान मे अधिक अ-य एकेन्द्रिय जीवो का ज्ञान होता है। एकेन्द्रिय जीवो के ज्ञान मे अधिक ज्ञान दो इन्द्रिय जीवा को होता है। दो -द्रय जीवो मे अधिक ज्ञान तीन इन्द्रिया वाले जीवो को -ोता है। उनसे भी अधिक ज्ञान चार इन्द्रिय जीवा का होता है। उनसे अधिक ज्ञान मनरन्ति असना पचेन्द्रिय जीवो के और असनी पचन्द्रिय जीवा से भी अधिक -ान का विकास मन सहित सज्ञी पचेन्द्रिय जीवा के हुआ करता है। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवा म भी पशुआ की अपेक्षा मनुष्य का अधिक हाता है। औ माधारण मनुष्या की अपेक्षा देवा का ज्ञान अधिक हाता -। -ान की य- कम वशा -ानावरण कम क क्षयोपशम (आ मा म -ूटने तथा दबने) कमाबेशी क क का ण हुआ करती है। जिस जीव क ज्ञानावर । का क्षयापशम कम हाता - उस जीव क ज्ञान का विकास भी ाडा हाता - और जिस जाव क -ाना वरण कम का उदय जिस जीव क जितना अधिक बलवान हाता है उस -ीव क ज्ञान की मात्रा उतनी ही अ-प हाती है और जिस जाव का -ानावरण कम जितना बलहीन हाता है उस जीव का ज्ञान उतन ही अधिक प्रबल -ात - ।

ज्ञान क सामा-यरूप मे ५ भेद -। मति -त अवधि मन-याय औ क्वल। इद्रिय क द्वारा तथा मन क द्वारा जा कुछ जाना जाता - व- मतिज्ञान है। मतिज्ञान क अनन्तर जो मन क द्वारा अ-य विपया की विचार धारा चल पडती ह वह -तज्ञान ह। इन्द्रिया की सहायता क बिना आत्मशक्ति द्वारा मूर्तिक प र्थो का स्पष्ट जानना अवधि ज्ञान ह ।

बिना इन्द्रियो का सहायता क अ य यक्ति क मन क विचा । को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान मन पयय हाता है। ज्ञानावरण कर्म का समूल क्षय हा जाने पर त्रिलाकवर्ती समस्त पदार्थों की भूत भविष्यत वतमान काल की समस्त पर्याया को जानने वाला ज्ञान केवल है। मतिज्ञान श्रतज्ञान इन्द्रियो तथा मन की सहायता से हाते ह अत वे परोक्ष ज्ञान कहलाते ह। उनका जानना स्पष्ट नही होता। इन्द्रिया मे विकार हो तो उनमे विकृत भद्दा गलत भी जाना जाता है। जसे किसी मनुष्य का काचकामली रोग हो या पालिया रोग हो तो उसको सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देगा। धतूरा पीकर आँखा से सब कुछ सुनहरी दिखाई देता है। बहरे आदमी को कान रहते हुए

मतिज्ञान श्रुतज्ञान का क्षयोपशम प्रत्येक ससारी जीव के होता है अत मतिज्ञान श्रुतज्ञान प्रत्येक ससारी जीव को हुआ करता है। जिन जीवो के मन नही होता है उन जीवो को मन की सहायता न मिल सकने से श्रुतज्ञान का कुछ उपयोग नही हो पाता।

स्मरण (याद करना) प्रत्यभिज्ञान (प्रत्यक्ष और स्मरण का जोडकर ज्ञान जसे यह वही मनुष्य है जिसको मैने पहले पहले देखा था) तक (साध्य साधन का व्याप्ति ज्ञान–जैसे जहा धुआ होता है वहा आग अवश्य होती है) अनुमान (साधन द्वारा साध्य को जानना जसे कही पर धुआ उडते देखकर जान लना कि वहा आग है) आगम (यथाथ वक्ता के वचन अनुसार जानना जसे राम रावण का युद्ध हुआ) ये पाचो ज्ञान मतिज्ञान मे ही गर्भित हैं। अवग्रह ईहा अवाय धारणा आदि रूप से मतिज्ञान के ३३६ भेद भी हैं। वसे भिन्न भिन्न जीवो के थाड अधिक क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञान के अनन्ता भेद भी है।

श्रत ज्ञान दो तरह का है। १ द्रव्य २ भावश्रत। आचारग आदि बारह अग तथा अङ्ग बाह्य रूप श्रत को द्रव्य श्र त कहते हैं। इस तरह ग्र थ रूपी द्रव्य श्रत है। पर्याय पर्याय समास आदि पूव तक जो श्र तज्ञान के क्षयोपशम रूप २ भेद है। व भाव श्र त ज्ञान है। पूर्व भाव श्र तज्ञान के क्षयोपशम से जिस व्यक्ति को ११ अग १४ पूव (द्वादशाङ्ग) का ज्ञान होता है उसे श्रत [illegible] कहते है। अवधि ज्ञानावरणी कम के क्षयोपशम से अवधि ज्ञान होता । देव और नरक निवासियो के जन्म स ही अवधि ज्ञान होता है उस का भवप्रत्यय अवधि ज्ञान कहते है। मनुष्य और पशुओ के जो तप आदि गुणो क कारण अवधि ज्ञान प्रगट होता है उसे गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान कहते है। क्षयोपशम की अपेक्षा से अवधि ज्ञान के तीन भेद हैं। देशावधि परमावधि और सर्वावधि देवो नारकियो असयत मनुष्यो पशुओ को देशावधि ही होता ह। सयत मनुष्य क देशावधि परमावधि सर्वावधि तीनो मे से कोई भी हो सकता है। –देशावधि केवल ज्ञान होने से पहिले छूट भी जाता है। सर्वावधि परमावधि तदभव मोक्ष गामी सयमी के होते हैं। अत ये दोनो प्रकार के अवधि ज्ञान केवल ज्ञान होने तक बने रहते हैं। मनुष्य पशुओ के अवधि ज्ञान के ६ भेद अन्य प्रकार भी किये गये हैं। १ अनुगामी (क्षेत्रान्तर मे जाने पर भी रहने वाला) २ अननुगामी (क्षेत्रान्तर मे जाने पर छूट जाने वाला) ३ हीयमान (उत्पन्न होने के समय से घटत रहने वाला) ४ वद्धमान (उत्तपत्ति के समय मे उत्तरोत्तर बढ़ते रहने वाला) ५ अवस्थित (सदा एक समान रहने वाला) ६ अनवस्थित (सदा एक सा न रहने वाला कभी घटे

कभी बढे) सर्वावधि ज्ञान एक परमाणु तक स्पष्ट जान सकता है। मन पर्याय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मन पर्याय ज्ञान होता है। उसके दो भेद हैं १ ऋजु मति २ विपुलमति। सरल मन वचन काय वाले व्यक्ति के मन की बात को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति है। सरल तथा कुटिल मन वचन काय वाले व्यक्ति के मन की बात को जानने वाला विपुल मति है। ऋज मति अतद्भव मोक्षगामी के भी हाता है। अत केवल ज्ञान होने से पहले भी छट जाता है। विपुल मति तद्भव मोक्ष गामी के हाता है अत वह केवल ज्ञान हाने से पहले नही टूटता। मन पर्याय ज्ञान ढाई द्वीप के भीतर ही जानता है। मन पयय ज्ञान सयमी मुनि के हाता है।

इस तरह मतिज्ञान श्र तज्ञान अवधिज्ञान तथा मन पयय ज्ञान अपने अपने आवरण के क्षयोपशम से हात है। अत ये चारा ज्ञान क्षयोपशमक हात है। केवल ज्ञानावरण कम के क्षय हो जाने स तेरहव गुणस्थान मे केवल ज्ञान होता है। क्वल ज्ञान हो जाने पर मुनि महात्मा पद स ऊचे उठकर परमात्मा पद पर पहुँच जाते है। अहन्त भगवान सवज्ञ सकल परमात्मा जीवन्मुक्त सवज्ञाता द्रष्टा क्वली आदि नाम केवल ज्ञान हा जाने पर ही व्यवहार मे आत है। केवल ज्ञान का अनन्त ज्ञान तथा क्षायिक ज्ञान भी कहत ह। केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छद (गुणाश) सबसे अधिक होते है। कोई भी व्यक्ति जब दसरे क ज्ञान उपाजन मे बाधा डालता है अपने बच्चो तथा अन्य अधीनस्थ स्त्री पुरुषो को पढने नही देता स्वय भी स्वाध्याय आदि द्वारा अपनी ज्ञान वृद्धि नही करता विद्वानो का आदर नही करता शास्त्रो का विनय नही करता अपने गुरु का नाम छिपाता है पुस्तक फाड लेता है पुस्तक छिपा देता ह अपने ज्ञान का अभिमान करता है विद्याभ्यास मे आलस्य करता है अशद्ध लिखता है अशुद्ध पढता है पाठशाला नष्ट भ्रष्ट क देता है, किसी प्रशसनीय उपदेश की प्रशसा नही करता पढने पढाने वाला का पढने पढाने से रोक दता है अकाल मे शास्त्र पठन करता है आगम क विरुद्ध प्रचार करता है इत्यादि ज्ञान अभ्युदय के विरुद्ध काय करने पर उसके ज्ञानावरण कम का बध होता है। जो व्यक्ति बडी रुचि से ज्ञान का अभ्यास करता रहता है अपने ज्ञान का रचमात्र भी अभिमान नही करता अपने परिवार के सभी व्यक्तियो को विद्याभ्यास के लिए प्ररणा किया करता है अपने विद्यागुरु का सम्मान किया करता है विद्वानो का देखकर प्रसन्न होता है विद्वानो तथा विद्यार्थियो को उत्साहित करता रहता है पुस्तको ग्रथो की विनय करता है लिखना पढना जिसका अशुद्ध नही रहता जो सदा विविध विषयो तथा विविध भाषाओ का ज्ञान सचय करने म उद्यत रहता है उस व्यक्ति के ज्ञान का विकास बढता है और उसका ज्ञानावरण कम क्षीण होता जाता है। ज्ञानावरण

कर्म बंध होने तथा क्षयोपशम होने के कारणो को समझकर प्रत्येक स्त्री पुरुष को ज्ञान रोधक काय कदापि न करने चाहिये सदा ज्ञानाभ्यास की आदत डालनी चाहिये । यद्यपि सम्यग्दर्शन हो जाने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो ज्ञान सम्यग्दशन की उत्पत्ति मे सहायक है । जब तक आत्मा शरीर कम बन्धन मुक्ति का परिज्ञान न हो तब तक आत्मा शरीर के भेद का परिज्ञान नही होता जो सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये सहायक है । इसी ज्ञान की कमी से एकेन्द्रिय से लेकर असनी पचेन्द्रिय तक के जीवो के आत्म अनुभूति नही होने पाती जो की सम्यक्त्व का फल है । इस मनुष्य को अपनी आयु का विचार न करके ज्ञान उपाजन करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

जब तक आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान नही होता है तब तक ज्ञान कुज्ञान होता है । क्योकि उस ज्ञान से आत्मा का कुछ हित नही होता बल्कि अहित होता रहता है । अतएव सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पूव के ज्ञान कुमति कुश्रुत कुअवधि कहलाते है । इसी कारण पूव लिखित पाच ज्ञानो के साथ इन तीन कुज्ञानो का मिलाकर ज्ञान के ८ भेद हाते है । केवलज्ञान समस्त केवलज्ञानिया को एक समान होता है । उसमे कमीबेशी नही हाती । मति श्रुत अवधि मन पर्यय ज्ञान क्षायोपशमिक है अत भिन्न २ जीवो के क्षयोपशम म हीनाधिकता होने से उनके ज्ञानो मे एक दूसरे व्यक्ति के ज्ञानो से अन्तर हुआ करता है ।

३९ योगी को मोह का त्याग

योगिन् मोह परित्यज मोही न भद्रो भवति ।
मोहासक्त सकल जगद् दु ख सहमान पश्य ॥१११॥

हे योगी तू मोह को बिल्कुल छोड दे क्योकि मोह अच्छा नही होता है। मोह मे आसक्त सब जगत जीवो को क्लेश भोगते हुए देख जो आकुलता सहित हैं। उस दु ख का मूल मोह है। मोही जीवो को दु ख सहित देखा। वह मोह परमात्म स्वरूप की भावना का प्रतिपक्ष दर्शनमोह व चारित्रमोहरूप है। इसलिये तू उसको छोड। पुत्र स्त्री आदिक मे तो मोह की बात दूर रहे यह तो प्रत्यक्ष मे त्यागने योग्य ही हैं और विषय वासना के वश देह आदिक पर वस्तुओ का रागरूप मोह जाल है वह भी सर्वथा त्यागना चाहिये। अन्तर बाह्य मोह का त्याग कर सम्यक स्वभाव अगीकार करना। शुद्धात्मा की भावनारूप जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर उसकी स्थिति के लिये अन्न जलादिक लिये जाते है तो भी विशेष राग न करना राग रहित नीरस आहार लेना चाहिये।

आहार का मोह निवारण

भयानक देह के मल से युक्त जले हुए मुरदे के समान रूपरहित ऐसे वस्त्र रहित नग्नरूप का धारण करके साधु तू परके घर भिक्षा को भ्रमता हुआ उस भिक्षा मे स्वादयुक्त आहार की इच्छा करता है तो तू क्यो नही शरमाता यह बडा आश्चर्य है। पराये घर भिक्षा को जाकर मिष्ट आहार की इच्छा धारण करता है सो तुझे लाज नही आती। इसलिये आहार का राग छोड। अन्न और नीरस आहार उत्तम कुली श्रावक के घर साधु को लेना योग्य है। मुनि को राग भाव रहित आहार लेना चाहिये। स्वादिष्ट सुन्दर आहार का राग करना योग्य नही है और श्रावक का भी यही उचित है कि भक्ति भाव से मुनि को निर्दोष आहार दे और आहार के समय या आहार मे मिली हुई निर्दोष औषधि दे शास्त्र दान करे मुनियो का भय दूर करे उपसर्ग निवारण करे। यही गृहस्थ को योग्य है। जिस गृहस्थ ने यति को आहार दिया उसने तपश्चरण दिया क्योकि सयम का साधन शरीर है और शरीर की स्थिति अन्न जल से है। आहार के ग्रहण करने से तपस्या की बढवारी होती है।

इसलिये आहार का दान तप का दान है। यह तप संयम शुद्धात्मा की भावनारूप है और ये अन्तर बाह्य बारह प्रकार का तप शुद्धात्मा की अनुभूति का साधक है। तप सयम का माधन दिगम्बर का शरीर है। इसलिये आहार के देने वाले ने यती के देह की रक्षा की और आहार के देने वाले ने शुद्धात्म की प्राप्तिरूप मोक्ष दी क्याकि मोक्ष का साधन मुनिव्रत है और मुनिव्रत का साधन शरीर है तथा शरीर का साधन आहार है। इस प्रकार अनेक गुणा को उत्पन्न करने वाला आहारादि चार प्रकार का दान उसको श्रावक भक्ति से देता है ता भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक योगीश्वर महातपोधन आहार का ग्रहण करते हुए भी राग नही करते हैं। राग द्वेष मोहादि परिणाम निजभाव के शत्रु है।

भोजन की लालसा का त्याग

हे योगी जो तू बारह प्रकार तप का फल बडा भारी स्वग माक्ष चाहता है तो वीतराग निजानन्द एक सुखरस का आस्वाद उसके अनुभव स तृप्त हुआ मन वचन और काय स भाजन की लालुपता को त्याग कर दे। जो यागी स्वादिष्ट आहार स हर्षित होते है और नीरस आहार मे क्रोधादि कषाय करते हैं वे मुनि भाजन के विषय मे गृद्धपक्षी के समान हैं एसा तू समझ। वे परमतत्व को नही समझते ह। जो कोई वीतराग के मार्ग से विमुख हुए यागी रस सहित स्वादिष्ट आहार से खुश होते है कभी किसी के घर छह रसयुक्त आहार पावे ता मन मे हष करे आहार के देने वाले से प्रसन्न होते है यदि किसी क घर रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं उस गृहस्थ का बुरा समझते हे वे तपाधन नही है भोजन क लोलुपी है। गृद्धपक्षी के समान है। ऐसे लोलुपीयती देह मे अनुरागी हाते है परमात्म पदाथ को नही जानते। गृहस्थी के तो दानादिक ही बड धम है। जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे तो परम्परा से मोक्ष पावे क्योकि श्रावक का दानादिक ही परम धम है। वह ऐसे है कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय कषाय के आधीन है इससे इनके आत रोद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धापयोग परमधम का ता इनके ठिकाना ही नही है अर्थात् गृहस्थो के शुभपयाग की ही मुख्ता है और शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवे तो इसके समान अन्य कोई पुण्य नही। श्रावक का तो यही बडा धम है कि यती अर्जिका श्रावक श्राविका इन सबको विनय पूर्वक आहार दे और यती का यही धम है अन्न जलादि मे राग न करे और मान अपमान मे समता भाव रख। गृहस्थ के घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वसा लेवे चाहे चावल मिले चाहे अन्य कुछ मिले। जो मिले उसमे हर्ष विषाद न करे। दूध दही घी मिष्ठान्न इनमें इच्छा न करे यही जिन माग मे यती की रीति है।

पाच इन्द्रियो के विषयो मे आसक्ति का विनाश

रूप मे लीन हुए पतङ्ग जीव दीपक मे जलकर मर जाते है। विषय मे लीन हिरण व्याध क वाणो से मारे जाते है हाथी स्पश विषय क कारण गड्ढ मे प‑कर बाँधे जाते है सुग ध की लोलुपता से भौरे काटो म या कमल मे दबकर प्राण छोड देते और रसना की लोभी मछली धीवर क काँटे मे पडकर मारी जाती है। एक एक विषय कषाय कर आमक्त हुए जीव नाश को प्राप्त हाते है तो पचेन्द्रो का कहना ही क्या है। ऐसा जानकर विवेकी जीव विषया मे क्या प्रीति करते हैं ? कभी नही करते।

(

४० लोभ पाप का बाप

योगिन् लोभ परित्यज लोभो न भद्र भवति ।
लोभासक्त सकल जगद् दु ख सहमान पश्य ।।११३।।

हे यागी तू लोभ को छोड यह लोभ अच्छा नही है लोभ मे फँसे हुए सम्पूण जगत् को दु ख सहते हुए देख । लोभकषाय से रहित जो परमात्म स्वभाव उसम विपरीत जो इस भव परभव लोभ धन धान्यादिका लोभ उसे तू छोड । क्योकि लोभी जीव भव भव मे दु ख भोगते है ऐसा तू देख रहा है। जसे लोहे का सबध पाकर अग्नि नीचे रक्खे हुए अहरन के ऊपर घन की चाट सडासी से खचना चोट लगने स टूटना इत्यादि दु खो का सहती है ऐसा दख । लाह की सगति स लाक प्रसिद्ध दवता अग्नि दु ख भागती है । यदि लाहे का सम्बन्ध न कर तो इतने दु ख क्यो भोग अर्थात् जस अग्नि लाह पिंड के सम्बन्ध स दु ख भोगती है उसी तरह लोह अर्थात् लोभ क कारण से पर मात्मतत्त्व की भावना से रहित मिथ्या दृष्टि जीव घनघात के समान नरकादि दु खो को बहुत काल तक भोगता है । ये योगी रागादि रहित वीतराग पर मात्म पदार्थ क ध्यान मे ठहर कर विकल्प को छोड क्याकि समस्त ससारी जीव अनेक प्रकार से शरीर और मन के दु ख सह रहे है उनका तू देख । ये ससारी जीव स्नेह रहित शुद्धात्मतत्त्व की भावना से रहित है इसलिए नाना प्रकार के दु ख भोगत है । दु ख का मूल एक देहादिक का स्नेह ही है । यहा भेदाभेद रत्न त्रयरूप मोक्ष के माग से विमुख होकर मिथ्यात्व रागादि म स्नेह नही करना यह साराश है । क्योकि ऐसा कहा भी है कि जब तक यह जीव जगत् स स्नेह न करे तब तक सुखी है और जो स्नेह सहित है जिनका मन स्नेह से बँध रहा है उनको हर जगह दु ख ही है। जैसे तिलो का समूह स्नेह के सम्बन्ध से जल से भीगना पैरो से खु दना घानी मे बार-बार पिलने का दुख सहता है उसे देखो । जसे स्नेह के सम्बन्ध होने से तिल घानी मे पेरे जाते हैं उसी त ह जो पचेन्द्रिय के विषयो मे आसक्त हैं मोहित है वे नाश का प्राप्त होते हैं इसम कुछ सन्देह नही है । वे ही धन्य हैं वे ही सज्जन हैं और वे ही जीव इस जीव लोक मे जीवते है । जो जवान अवस्थारूपी बड भारी तालाब मे पडे हुए विषयरस म नहीं डबते लीलामात्र मे ही तैर आते हैं वे भी प्रशसा योग्य हैं । यहा विषय वाछारूप जो स्नेह जल उसके प्रवेश से रहित जा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपा रत्नो से भरा निज शुद्धात्म भावना रूपी जहाज उससे यौवन

अवस्था रूपी महान तालाब को तर जाते हैं वे ही सत्पुरुष हैं वे ही धन्य हैं यह साराश जानना बहुत विस्तार से क्या लाभ है। आगे मोक्ष का कारण व ग्य को दृ करते है। जिनेश्वर देव ने अनेक प्रकार का राज्य का विभव छो कर मोक्ष को ही साधन किया। परन्तु हे जीव भिक्षा स भोजन करने वाला तू अपने आ मा का कल्याण भी नही करता।

समस्त कममल कलक से रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणो का स्थान तथा ससार अवस्था से न्य अवस्था का होना वह मोक्ष कहा जाता है उसी मोक्ष को वीतराग देव ने राज्य विभूति छो कर सिद्ध किया। राज्य के सात अग हैं-राजा मन्त्री सेना वगरह। ये जहाँ पूण हो वह उ ृ ट राज्य कहलाता है वह राज्य तीर्थंकर देव का है। उसको छोडने म वे तीर्थंकर री नही करने। लेकिन तू निधन होकर आ म कल्याण नही करता। तू माया जाल का छोडकर महान पुरुषा की तरह आ म काय कर। उन महान पुरुषो ने भेदा भेदर नत्रय की भावना के बल से निजस्वरूप को जानकर बिनाशिक राज्य छोडा अविनाशी राज्य के लिये उद्यमी हुए। यहा पर ऐसा व्याख्यान समझ कर बाह्याभ्य तर परिग्रह का त्याग करना तथा वीतराग निर्विकल्प समाधि म ठहरकर दुधर तप करना चाहिये।

गुण स्थान क्रम स आत्मा के क्रमिक विकास का े त हुए यह भली भाति समझ मे आ जाता है कि ज्या या आ मा विशुद्धि माग पर अग्रसर होता ा है या त्या ही उसम स माह राग द्वष काम क्रो मान माया म सर लाभ तृ णा आदि विकार परिणति पने आप म द या क्षीण होती हुई चली जाती ह। यहा तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारा से रहित हो जाता है।

मोह या मिथ्यात्व आ मा का सबसे अधिक अ ित करने वाला है। इनके वश मे हाकर ही यह जीव अनादि काल स आ म स्वरूप का भूला हुआ ससार मे भटक रहा है। जब इस जीव का उपदशादिक का निमित्त मिलता है और उसस स्व क्या है पर क्या है हित क्या े अहित क्या है इसका बाध क के आत्म क याण की ओर सकी प्रवृत्ति हाने लगती है ता परिणामो म इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है कि व केवल अपने स्वाथ की पुष्टि के लिये दूसरे के याय प्राप्त अधिकारो का छीनने मे ग्लानि करने लगता है। उसके पहिले बाधे हुए कम हल्के होने लगते है तथा नवीन कर्मों की स्थिति भी कम पडने लगती हे सासारिक कार्यों को करते हुए भी उनमे उसे स्व-भात अरुचिका अनुभव होने लगता है। तब कही समझना चाहिये कि यह

सम्यग्दशन के सम्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं वे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समथ कारण नही हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोह का उपशम करने म समर्थ ऐसे अध करण अपूव करण और अनिवृत्ति करण रूप परिणाम होते है तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शन को पा सकता है इनके बिना नही क्योकि इन परिणामो मे ही मिथ्यात्व के नष्ट करने की सामथ्य है। इस तरह जब यह जीव अध करण रूप परिणामा को उल्लघन करके अपूव करण रूप परिणामो को प्राप्त होता है तब यह जिनत्व की पहिली सीढी पर है ऐसा समझना चाहिये। जो कमरूपी शत्रुआ को जीत उसे जिन कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार यही से जिनत्व का प्रारम्भ होता है। इसक आगे जसे-जसे कर्म शत्रुआ का अभाव होता जाता है वसे ही वम जिनत्व धमं का प्रादुर्भाव होता जाता है और बारहव गुणस्थान क अ त मे जब यह जाव समस्त घातिया कर्मों को नष्ट कर चुकता है तब पूण रूप से जिन सज्ञा का प्राप्त होता है। सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मों से रहित है इसलिये अरहत और सिद्ध परमेष्ठी कम शत्रुओ क जीतने से साक्षात् जिन है ऐसा समझना चाहिये।

४१ त्यागियो को उपदेश

चरणानुयोग के विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले व्रतियो को आचाय ने शान्त भाव से उपदेश दिया कि जनागम मे व्रत लेने का अपराध नही माना है किन्तु लेकर उसमे दोष लगाना या उसे भङ्ग करना अपराध बताया है। अत ग्रहण किये हुए व्रत को प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिये। मनुष्य पर्याय का सबसे प्रमुख काय चारित्र धारण करना ही है। इसलिए यह दुलभ पर्याय पाकर अवश्य ही चारित्र धारण करना चाहिये। कितने ही त्यागी लोग तीथ यात्रादि के बहाने गृहस्थो से पसे की याचना करते हैं यह माग अच्छा नही हैं। यदि याचना ही करनी थी तो त्याग का आडम्बर ही क्यो किया। त्याग का आडम्बर करने के बाद भी यदि अन्त करण मे त्याग भाव नही आया तो यह आत्म बञ्चना कहलावेगी। त्यागी को किसी सस्थावाद मे नही पडना चाहिये यह काय गृहस्था का है। त्यागी होने पर भी यही किया तो क्या किया। त्यागी को ज्ञान का अभ्यास अच्छा करना चाहिये। आज कितने ही त्यागो एसे है जो सम्यग्दशन का लक्षण नही जानत। आठ मूल गुणा और आट्ठाईस मूल गुणो के नाम नही गिना पाते। ऐस त्यागी अपने जीवन का समय किस प्रकार यापन करते है वे जाने मेरी तो प्रेरणा है कि त्यागी को क्रम पूवक अध्ययन करने का अभ्यास करना चाहिये।

समाज मे त्यागियो की कमी नही परन्तु जिन्हे आगम का अभ्यास है ऐसे त्यागी कितने है ? अत मुनि हो चाहे श्रावक सबको आगम अभ्यास करना चाहिये। आज का व्रती वर्ग चाहे मुनि हो चाहे श्रावक स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है। यह उचित नही है। गुर के साथ अथवा अन्य साथियो के साथ बिहार करने मे इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम क विरुद्ध होगी तो लोग हमे बुरा कहेगे गुरु प्रायश्चित दगे पर एका बिहारी होने पर किसका भय रहा जनता भोली हैं इसलिये कुछ कहती नही यदि कहती है तो उसे धम निन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे धीरे शिथलाचार फलता जा रहा है। किसी मुनि का दक्षिण और उत्तर का विकल्प मता रहा है तो किसी को बीस पथ और तेरह पथ का किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है तो कोई शुद्र जल त्याग क पीछे पडा है कोई स्त्री प्रक्षाल क पक्ष मे मस्त है तो कोइ जनेऊ पहिराने और कोई ग्रन्थ मालाओ क सचालक बने हुए हैं तो कोई ग्रन्थ छपाने की

चिन्ता मे गृहस्थो के घर से चन्दा मागते फिरते हैं। किन्ही क साथ मोटर चलती है तो कि ही क साथ गृहस्थजन को भी दुलभ कीमती चटाइया और आसन के पाटे तथा छोलदारियाँ चलती हैं। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपन लिए उनकी सेवा मे लीन रहते हैं। बहती गगा मे हाथ धोने से क्यो ब चित रहे। इस भावना से कितने ही विद्वान उनके अनुयायी बन आँख मीच चुप बठ जाते हैं। जहाँ प्रकाश है वहाँ अ धकार नही और जहाँ अन्धकार है वहा प्रकाश नही। इस प्रकार जहाँ चारित्र है वहाँ कषाय नही और जहाँ कषाय है वहा चारित्र नही। पर तुलना करने पर किन्ही किन्ही व्रतियो की कषाय तो गृहस्थो से कही अधिक निकलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात करो और अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ।

जन धम अत्यन्त विशाल है। उसकी विशालता यह है कि उसमे चारो गतियो मे जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय प्राणी हैं वे अमन्त ससार क द खो को हरने वाला सम्यग्दशन प्राप्त कर सकते हैं। धर्म किसी जाति विशेष का नही धम तो अधम क अभाव मे होता है। अधम आत्मा की विकृत अवस्था को कहते है। जब तक धम का विकास नही तब तक सभी आत्माए अधर्मरूप रहती है। चाहे ब्राह्मण हो चाहे वश्य हो शुद्र हो शुद्र मे भी चाहे चाण्डाल हो सम्यग्दर्शन के होते ही यह जीव किसी जाति का हो पुण्या मा जीव कहलाता है। अत किसी को हीन मानना सर्वथा अनुचित है।

४२ वीर जयन्ती

नम॰ श्री वधमानाय निधूत कलिलात्मने ।
सालोकाना त्रिलोकाना यद्विद्या दपणायते ।।१।।

चैत का महीना धम क अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का स्मारक है। आज से करीब २५७६ वर्ष पहले वे इसी पुण्य मास मे अवतीण हुये उनकी जन्म तिथि चत शुक्ला त्रयोदशी भारत क इतिहस मे स्मरणीय है इस तिथि ने उस महापुरुष को जन्म दिया था जिसने ससार को सत्वेपु मत्री का शुभ सन्देश देकर क्षद्र से क्षुद्र जीवधारी क प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करन का पाठ पढाया था।

आज हम लोग सब मिलकर उन महान आत्मा का जन्म दिन मना रहे हैं। जो उन्होंने उपदेश दिया उनक आदेश क अनुसार चल तब समझो कि हमने जन्म दिवस मनाया। उन्होने बताया है —

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवषु कृपा परत्वम
माध्यस्थ भाव विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

जीवो और जीने दो और सब जीवा पर मत्रा भाव गुणी जीवो प प्रमाद भाव दुखी जीवो पर करुणा भाव विपरीत बुद्धि वाला पर मध्यस्थभाव रखो और आठ मूल गुणो व बारह वृत धारण करो।

आज बहुत से भाई जनो क नाम से यह समझते है कि वह एक जाति विशेष है। यह समझना कहा तक ठीक है पाठक गण जाने। वास्तव म जिसने आत्मा क विभाव भावो पर विजय पाली वही जन है। यदि नाम का जनी है और उसन मोहादि कलको को नही जीता तब वह नाम नाम का नन सुख आखो का अन्धा की तरह है। अत मोह विकल्पा को छोडो और वास्तविक अहिंसक बनो तब ही तुम्हारा वीर जयन्ती मनाना साथक है।

अहिंसा क आचरण को शक्य और सफल बनाने क लिये महावीर ने हिंसा को चार भागो म बाटा। सङ्कल्पी आरम्भी उद्योगी और विरोधी। किसी प्राणी को मत सताओ झठ मत बोलो चोरी मत करो अपनी विवाही पत्नी क सिवा दुनिया की शेष स्त्रिया को माता बहन और पुत्री के तुल्य समझो।

अपने कुटुम्ब पोषण के लिये आवश्यक धन धान्य इत्यादि की एक निश्चित मर्यादा बांध लो और उसमे अधिक परिग्रह का सचय मत करो।

भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर आत्म कल्याण का पथ प्र शन गुरू ही तो करते रहे। हमारे गुरुओ ने ही तो भगवान महावीर की वाणी का स्वय निर्मल आचरण किया और उसका महान प्रचार किया। जिस तरह एक लव्य भील ने धनुष वाण की शिक्षा ग्रहण करने के लिये द्रोणाचार्य की मूर्ति से लाभ उठाया उसी तरह आत्मा को क्रोध मान चिन्ता भय काम राग द्व ष आदि विकारो से शुद्ध करने के लिये श्री जिनेन्द्र देव की निर्विकार शा त प्रसन्न निर्भय आत्म निमग्न मूर्ति का दर्शन पूजन लाभदायक है। वष्णव ग्रथ योग वशिष्ठ मे लिखा है कि जब रामचन्द्र की ससार से वराग हुआ तब रामचन्द्र ने भावना की —

नाहम् रामो न मे बांछा भावेषु च न मे मन ।
शान्ति मासितु मिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ।।

अर्थात्— न मे राम हू न मुझे कोई इच्छा है न ससार के किसी पदाथ म मेरा मन है। मैं तो अपना आत्मा मे ही निमग्न हू। मैं राम नही हू मै तो राम का पुजारी हू योग वशिष्ट लिखित राम भावना के अनुरूप ही जिनेन्द्र भगवान के भक्त पुजारी जिनेन्द्र देव की पूजा करते है क्योकि जिनेन्द्र भगवान ने ही योग बल से आत्मा की शान्ति तथा ज्ञानसुख आदि शक्तियो का पूण विकास किया है। अत उनकी पूजा भक्ति द्वारा ही वह आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त हो सकती है।

परमात्मा मे लीन ही वास्तविक शुद्ध ब्राह्मण है

नारायण ने युधिष्ठर से कहा भी है—विशुद्ध आत्मारूपी शुद्ध नदी मे स्नान करना परम पवित्रता का कारण है लौकिक गगा आदि तीर्थों मे स्नान का करना शुचि का कारण नही है। सयम रूपी जल से भरी सत्यरूपी प्रवाह शीलरूप तट और दयामय तरङ्गो की धारक जो आत्मा रूप नदी है उसमे हे पाण्ड पुत्र युधिष्ठर स्नान करो क्योकि अन्तरात्मा जल से शुद्ध नही होती।

इस तरह यदि अपने को पहचान कर विकारो पर विजय प्राप्त कर लो तो हमारा महावीर जयन्ती उत्सव मनाना सार्थक है। महावीर स्वामी ने लोक कल्याण की भावना से प्ररित होकर दुनिया के सुखो का परित्याग किया और बारह वष का कठोर साधन के द्वारा ऋजुकुला नदी के किनारे

जृम्भक ग्राम मे घाति कम रूपी शत्रुओ से मुक्त होकर परम ज्ञान का प्राप्त किया। वे तीर्थंकर हो गये और तीस वर्ष तक उन्होने समस्त भारत भूमि मे बिहार करके उस ज्ञान का उपदेश दिया।

महावीर स्वामी के बाद बासठ वर्ष मे तीन केवली हुए। १ गौतम गणधर २ सुधमाचार्य ३ जम्बू स्वामी।

४३ महावीर सदेश-सयम-चारित्र

यदीये चतन्य मुकुर इव भावश्चिद चित ।
समं भाति ध्रौव्यव्यय जनिल सन्तोऽन्तरहिता ।।
जगत्साक्षी माग प्रकटलपरो भानुरिव यो ।
महावीर स्वामी नयन पथ गामी भवतु मे ।।

आज महावीर स्वामी का जन्म दिन है । तीर्थंकरो के ज म समय नारकी भी कुछ क्षण के लिये आनन्दित हो जाते हैं । यदि हम भी ऐसे अवसर को पाकर के मिथ्या वासना का त्याग नही कर सके और अपने भावो को निमल न बनाव तो हमारे जीवन को धिक्कार है ।

मनुष्य को इस ससार मे नाना प्रकार के दु ख भुगतना पडते हैं । दु ख दूर करने के लिये मनुष्य विषयो की तृप्ति मे लगे रहते है । भगवान की वाणी म तो सब कुछ खिरा है । विषयो के सेवन मे शान्ति तो कुछ मिलती नही परन्तु संसार की व्याधि घेरे रहती है । इस बात को भी सभी जानते है परन्तु सुनते नही तब कार्य कैसे हो । अनादि अनन्त आत्मा के स्वरूप को नही सुना और न पाया इससे ही दुखी हो रहे हैं । महावीर स्वामी ने ससार से छुटकर अपना कल्याण कर लिया । यद्धि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अन्तरङ्ग की कलुषता छोडो और फिर महावीर स्वामी की पूजन करो उन्ही के उपदशो को धारण करो तभी कल्याण होगा ।

इस तरह थोडा सा चारित्र का अभ्यास भी मनुष्य को मुनि सयम धारण करने के योग्य बना देता है । चारित्र का सस्कार अन्य भव मे मुनिचर्या को सुगम बना देता है अत इस भव में आत्मा यदि अपने अन्तिम लक्ष्य तक नही पहुच पावे तो अन्य भव मे तो पहुँच ही जाता है । इसलिए यह अमूल्य मनुष्य भव एक क्षण भी चारित्र बिना व्यर्थ न खोना चाहिये । सच्चारित्र आत्मा का महान वैभव है इसके बिना आत्मा दरिद्र बना रहता है । जसे इस शरीर को पुष्ट करने के लिये भोजन खिलाते हो इसी तरह आत्मा को पुष्ट करने के लिये चारित्र ग्रहण करना चाहिए प्रमाद को अपने पास भी न फटकने देना चाहिये । अतएव सम्यग्दृष्टि पुरुष को अपने योग्य चारित्र अवश्य आचरण करना चाहिये । ज्ञान की वास्तविक सफलता सच्चा चारित्र आचरण करने पर मिला करती है ।

भगवान महावीर ने जहा आत्म कल्याणकारी उपदेश दिया मुक्ति पथ का प्रदशन किया अज्ञान अध श्रद्धा को मिटाया ज्ञान का प्रकाश किया वही सामाजिक व्यवस्था की भी सुन्दर प्रणाली बतलाई अपने भक्तो को चार सघो म मगठित रहने की विधि का निदश किया। मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका के उचित आचार का उपदेश भगवान महावीर ने अच्छे विस्तार से दिया। उस चतुर्विध सघ की समठित परम्परा भगवान महावीर क पीछे भी चलती रही जिसस जन धम की परम्परा अनेक विघ्न बाधाओ के आत रहने पर भा बनी रही। आज इस चतुर्विध सघ का सगठन शिथिल दीख रहा है इसी म जन समाज मे निबलता प्रवेश करती जा रही है। अत जैन धम को प्रभाव शाली बनाने के लिये हमको अपने चारो सघा का मजबूत सगठन करना चाहिये। सघे शक्ति कलीयुगे यानी इस कलियुग मे सगठन द्वारा हा शक्ति पता की जा सकती है। इस कारण वीर शासन को व्यापक बनाने के लिय हमारा प्रथम कर्तव्य अपने सामाजिक सगठन को बहुत दृढ बनाना है।

इस काय मे प्रत्येक वग को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिय। गृहस्था का सगठन समस्त सामाजिक त्रटियो को दूर कर सकता है। जिन कार्यों को कठिन दु साध्य या असाध्य समझकर छोड दिया जाता है जो बुराइया जनता के निबल भाग को और भी अधिक निबल बनाती हैं उन बुराइयो का अस्तित्व सामाजिक सगठन के सम्मुख रहने नही पाता।

विद्वदवग को भी सगठन म पूण सहयोग देना चाहिये। समाज का मस्तक विद्वान लोग हैं। मस्तक के समान उनका समाज की प्रगति का पथ प्रदर्शन करते रहना चाहिये। गृहस्थ वर्ग की तरह व्रती त्यागा लोगा का सगठन भी वीर वाणी प्रचार के लिय आवश्यक है। साराश यह है कि माला की तरह सब सूत्र मे पिरोकर वीर प्रभु के अनुयायियो का अपना कर्तव्य करना चाहिये।

ज्ञानाजन का उद्दश्य एव फल स्वात्म परणति मे कलुषता की क्षीणता लाना है। हम केवल लोक प्रसन्नता के अथ ही दान स्वाध्याय ज्ञानादि अर्जन करने मे सलग्न रहते है। न तो इन कृत्यो स आत्म लाभ हाता है और न पर को ही लाभ हो सकता है। जिस परिणाम म कलुषता मात्र है वह स्वय आत्मा की पीडक है अन्य को कहा तक सुखकर हागा। बन्ध की जड राग है। जो साम्य भाव करके राग छोडते है ऐसे मुनि को नमस्कार है। ज्ञानी योगी ने एक क्षण म जितने कर्मों को काट लिया है उतने कर्मों को मिथ्या दृष्टि जीव कोटि वर्षों नही काट सकता है।

卐

पूज्य श्री १ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज
श्री सतीश चन्द को आशीर्वाद देते हुए।

४४ दीपावली पव

तम्हा णिव्वुदि कामो राग सवत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भव सायर तरदि ।।१७२।।

अर्थ इस लिये मोक्ष का इच्छुक भव्य किसी भी बाह्य पदाथ मे कुछ भी गाग नही कर वयाकि ऐसा करने से ही वह वीतराग होता हुआ ससार समुद्र मे पार हो जाता ।

कार्तिक कृष्णा अमावश्या के िन महावीर भगवान का मोक्ष कल्याणक मनाया गया और वीर सवत् का नूतन वष के उपहार मे प्रारम्भ हुआ । आचार्य न मा ात् माक्ष माग का स्वरूप प्रदान किया । पचास्तिकाय की १७२ वी गाथा म स्वास्ति साक्षात मा । माग एसा कहकर आचार्य भगवान आशार्वाद दत है कि हे भ य जावा तुम वीतरागता स्वरूप साक्षात् मोक्ष की आ ाधना करो ।

आज क दिन भगवान म ावीर स्वामी ने शुक्ल ध्यान द्वारा मोक्ष प्राप्त किया औ इ द्रा ने पावापुरी म असख्य दीपक जलाकर भगवान के मोक्ष का महा सव मनाया । चत य की प्रतीति और ज्ञान करके उसमे स्थिर होने पर आ मा क अमरय प्रदश म कवलज्ञान क अनत दीपक प्रज्वलित हो जाते है वह स ची ीपावली है । व कम प्रकट हो ? आज के दिन महावीर भगवान माक्ष का प्राप्त हु गातम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए और सुधर्मा स्वामी मुरय आचाय प को प्राप्त हुए ।

 द्रो और न े द्रो ने पावापुरी मे आकर भगवान के माक्ष का तथा गौतम स्वामी क क वल ज्ञान का महोत्सव मनाया । मोक्ष का स चा उ सव तो यद्यपि मोक्ष माग की आराधना द्वारा मनाया जाता है किन्तु जिसके पास जो कुछ ाता है उसा क द्वारा वह मनाते हैं सम्यग्दशनादि द्वारा माक्ष को साधन है । अभी जि हे राग शेष र गया है ऐस रागी जीव शुभराग द्वारा मोक्ष प्रा त क ने वाले तथा मोक्ष की साधना करने वाले जीवो का बहुमान भक्ति आदि र क उ सव मनाते है उसमे गग टूट कर जितने अश मे अपनी परि णति वीतरागता की ओर झुकती है उतना ही लाभ है ।

चतन्य स्वभाव की प्रतीति करके वीतरागता द्वारा मोक्ष की आराधना करना वही भगवान क मोक्ष का सच्चा उत्सव है। मोक्ष तो भगवान ने प्राप्त किया फिर उसका उत्सव मनाने वाले को क्या लाभ हुआ। तो कहते है कि भगवान जसे शुद्ध रत्नत्रय का जितना भाव अपने आत्मा मे प्रगट किया उतना मोक्ष भाव आया। भगवान क मोक्ष भाव को न जाने और उसका अश भी अपने मे प्रगट न करे वह जीव मात्र रागरूप बन्ध भाव द्वारा मोक्ष का सच्चा उत्सव किस प्रकार मना सकता। मोक्ष के स्वरूप की प्रतीत पूर्वक उसके प्रति जसा बहुमान एव उल्लास ज्ञानी को आयेगा वैसा अज्ञानी को नही आ सकता। इस प्रकार भगवान क मोक्ष का उत्सव मनाने वाले को भगवान जसा भाव अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप वीतराग भाव अपने मे प्रगट करना चाहिये। भगवान के मोक्ष का उत्सव कौन मनाता है कि जो मोक्षार्थी हो। वह मोक्षार्थी जीव किस प्रकार निर्वाण प्राप्त करता है? साक्षात मोक्ष का अभिलाषी भव्य जीव अत्यन्त वीतरागता द्वारा भव सागर को पार करके शुद्ध स्वरूप परम अमृत समुद्र का अवगाहन करके शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करता है। देखो आज भगवान क निर्वाण क दिन निर्वाण प्राप्त करने की बात आई है। भगवान का आत्मा मोक्षार्थी होकर चिदानन्द स्वभाव का भान करक उसमे लीनता द्वारा वीतराग हुआ। इस प्रकार रागद्वेष मोहरूप भव सागर से पार होकर परम आनन्द सागर ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप मे निमग्न होकर निर्वाण को प्राप्त हुआ। निर्वाण का ऐसा ही मार्ग भगवान ने भव्य जीवो को दर्शाया है। हे भव्य जीवो वीतरागता ही साक्षात मोक्ष है। वीतरागता क द्वारा भव्य जीव भव-सागर से पार होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

सम्पूर्ण शास्त्र का तात्पर्य आचार्य भगवान ने इस सूत्र मे बतलाया है। भव्य जीव किस प्रकार भवसागर से पार होते है केवल वीतरागता द्वारा। बस वीतरागता ही समस्त शास्त्र का तात्पर्य है वही शास्त्र का हार्द है। कही भी किंचित राग रखकर भवसागर से पार नही हुआ जाता किन्तु समस्त वस्तुओ के सम्पूर्ण राग को छोडकर अत्यन्त वीतराग होकर चतन्य स्वरूप मे लीनता द्वारा ही भवसागर से पार होते है।

आचार्य देव कहते है कि अधिक क्या कहे। समस्त तीर्थंकर भगवन्त इस उपाय से ही वीतरागता द्वारा ही भव सागर से पार हुए है और उन्होने अन्य मुमुक्षु जीवो को भी यह वीतरागता का ही उपदेश दिया है। इस प्रकार वीतरागता ही शास्त्र का तात्पर्य है और वही मोक्ष मार्ग का सार है।

समस्त तीर्थंकर भगवन्तो ने इसी रीति से मोक्ष को साधा और इसी

प्रकार उसका उपदेश दिया। इसलिये निश्चित होता है कि यही निर्वाण का माग है अन्य कोई मार्ग नही है। आज भगवान महावीर परमात्मा के आत्मा की अनादि सात ससार स्थिति पूर्ण होकर आदि अनन्त सिद्ध दशा प्रारम्भ हुई उस महान मगल दशा का आज दिवस है। भगवान ने मोक्ष के कारण रूप आत्मानुभव तो अनेक भव पहिले ही प्रगट कर लिया था फिर उसम आगे बढते बढते आज के दिन प्रात काल मोक्ष दशा प्रगट की। उनके सम्मान मे लोगो ने हजा ो दीपमालाओ से निर्वाण-महोत्सव बनाया उसी निर्वाण का आज नूतन वष है।

भगवान का मोक्ष होते ही गौतम गणधर ने भी केवलज्ञान प्राप्त किया इसलिये उन्हे अरिहन्त पद प्रगट हुआ। भगवान महावीर का सिद्ध पद और गौतम स्वामी का अरिहन्त पद उनका आज महामगल दिवस है। इसलिये वास्तव मे उन भगवन्तो ने किस प्रकार मोक्ष की आराधना की उसे समझकर वसी ही आराधना प्रगट करने का यह दिवस है। अन्तर मे आत्मोन्मुख होकर जिसने आराधना प्रगट की उसने रत्नत्रय रूप दीपको से मोक्ष का महोत्सव मनाया उसी न स च्ची दीपावली मनाई। उसके आत्मा मे आनन्दमय सुप्रभात उदित हुआ वही मगल है और प्रत्येक जीव को उसी की भावना तथा आराधना करने योग्य है।

आसाढ शुक्ला ६ गर्भ चतसुदी १३ जन्म मगश्रीबदी १ तप वसाख सुदी १ ज्ञान कातक बदी १४ मोक्ष। केवल ज्ञान मे ज्ञानावरणी दर्शनावरणी अन्तराय मोहनीय यह चार कम का नाश हो जाता है। मोक्ष मे (आयु नाम गौत्र वेदनीय) आठो कर्म का नाश किया। नाश करके सिद्ध पद प्राप्त किया। अर्हन्त परमात्मा जब योग निरोध करके १४वें गुणस्थान मे पहुँचते है तब अ इ उ ऋ ल इन लघु अक्षरो के उच्चारण योग्य थोड समय मे चार कम नाशकर द्रव्यकर्म भावकर्म से रहित होकर आठ गुण प्रगट हो गये। सम्मत णाण दसण वीर्य-सुहमन्त हेव अवग्रहण अगुरु-लघु मव्वाह। सम्यग्दर्शन केवलज्ञान केवलदर्शन-वीर्य-सुक्ष्मत्व-अवगाहन अगुरु लघुत्व-अव्याबाधत्व यह गुण है।

महावीर पीछे बासठ वष तीन केवली हुवे। इनक नाम गोतम गणधर केवली सुधर्माचार्य केवली और तीसरे जम्बू स्वामी अन्त के केवली है। यहा से आगे केवली नही और इन जम्बू स्वामी पीछे सौ वर्ष मे ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्व के पाठी आचार्य हुए। जिनके नाम सुने। विष्णु नन्दमि अपराजित गोवधन और भद्रबाहु ये पाच आचार्य महाबुद्धि सागर सवश्रुत के पाठी हुवे और इनके पीछे एक सौ तिरासी वर्ष मे ग्यारह अङ्ग और दसपूर्व के पाठी हुवे

जिनके नाम विषाख प्रष्ठल क्षत्रिय जयसेन नागसेन सिद्धाथ धृतषेण विजय बुद्धिमान गङ्गदेव और धमसेन। इनके आगे पूर्व के पाठी नहा। इनसे आगे दो सौ बीस वर्ष मे पाच आचाय ग्यारह अग के पाठी हुवे जिनके नाम निषध जयपाल पाण्डव ध्रवसन और कस। इन तक ग्यारह अग का ज्ञान रहेगा। आगे इनके पीछे सुभद्राचाय यशोभद्राचाय भद्रबाहु आचाय लोहाचाय ये चार मुनि एक सौ अठारह वर्ष मे एक आचारागङ्ग के पाठी हो गये। इनके आगे अग का ज्ञान नहा। कुल वष ६८३ मे ऐसा हुआ।

४५ लवकुश मुक्तिधाम-पावागढ

पावागढ सिद्ध क्षेत्र स मोक्ष प्राप्त करने वाले लव कुश कुमारा की अत रग दशा का वर्णन करते हुए आचाय ने बताया चतन्य के विश्वास पूवक दानो राजपुत्र अन्तर म देखे हुए माग पर चलते गय। अरे देखो तो उन धर्मात्माआ का दशा। पर्वत का दृश्य भी अद्भुत है। मार्ग मे जब स पावागढ पर्वत का देखा तभी स लवकुश का (अनग लवण का) जीवन दृष्टि क समक्ष तैरने लगा और उसा क विचार आने लगे। अहा धन्य है उनकी मुनिदशा ध य है उनका व ग्य ध य हे उनका जीवन। संसार म जन्म लेकर उन्होने अपना अवतार सफल कर लिया।

अनत काल से ससार मे परिभ्रमण करते हुए आत्मा की शान्ति कम हा तथा वह मुक्ति कम प्रा त कर उसी की यह बात है। सिद्ध पद इस आ मा का ध्यय है। चिदान द स्वरूप आत्म तत्व क्या वस्तु है उसे जानकर तथा उसका ध्यान कर क के अनन्त जीवो ने सिद्ध पद प्राप्त किया है। उसका यथाथ स्वीकार क ने से मेरे आत्मा मे भी वह सिद्ध पद प्रगट करने का शक्ति है एसे अपने स्वभाव की भा तीति हो जाती है। दखा भाई जीवन म करने याग्य तो यही है कि यह आत्मा भव समुद्र मे कसे पार हा जिसम भव भ्रमण के दुखा म डूबा हुआ आ मा तर जाये। मुक्ति प्रा त करले वही उपाय कतव्य है। चतन्य स्वभाव के आश्रय से हाने वाला जा सम्यग्दशन ज्ञान चारित्ररूप तीथ उसी क द्वारा भव समुद्र स पार हुआ जाता ह। एस तीथ की आराधना कर करके अनत जीव तर गय ह और उ हान माक्ष प्राप्त किया है। मुनिसुव्रत भगवान क तीथकाल मे श्री रामचन्द्र जी के दा पुत्र लव और कुश ऐस रत्नत्रय तीथ का आराधना करक इसी पावागढ सिद्ध क्षत्र से माक्ष पधारे है।

श्री रामच द्र और लक्ष्मण दोनो भाई बलदेव और वासुदेव थे। दानो म पर पर अपार स्नेह था। एक बार इन्द्र सभा मे दोनो भइया क अपार स्नेह की चर्चा होने पर दो देव उनकी परीक्षा के लिये और लक्ष्मण जी के महल के आस पास श्री रामचन्द्र जी की मृत्यु का कृत्रिम वातावरण उत्पन्न करके लक्ष्मण जी से कहा कि श्रीराम का स्वर्गवास हो गया है। यह शब्द सुनते ही लक्ष्मण जी हाय राम कहकर सिहासन पर लुढक गये और वही उनका प्राणान्त हो गया।

देखो य ससार की स्थिति रामचन्द्र जी जीवित थे और उनकी मृत्यु के समाचार सुनकर लक्ष्मण जी की मृत्यु हो गई। आचार्य देव कहते हैं कि अरे ऐसे क्षण भगुर अशरण ससार मे जिसका ध्यान ही एक शरण और शाति दायक है एस परम चतन्य तत्व का मैं नमन करता हू। चतन्याभुत्र होकर उसके ध्यान द्वारा सब कर्मों का शान्त किय देता हू।

लक्ष्मण जी के स्वर्गवास को सुनते ही श्री रामचन्द्र जी वहा आते हैं और लक्ष्मण के मृत शरीर का देखकर भी इस प्रकार वार्तालाप करते है मानो वे जीवित हो। स्नेहजन लक्ष्मण जी के शरीर का अग्नि सस्कार करने के लिये तरह तरह स समझाते है किन्तु श्री रामचन्द्र जी किसी की बात नही सुनते और लक्ष्मण के मृत शरीर को कन्धे पर रखकर घूमते फिरते है। उसे खिलाने पिलाने नहलाने सुलाने आदि की विविध चेष्टाय करते है। यद्यपि रामचन्द्र जी को आत्मा का भान है परन्तु अस्थिरता के मोहवश ही यह सब चेष्टाय होती है और इस प्रकार दिन पर दिन बीतते रहते हैं।

अपने काका की मृत्यु और पिता की यह दशा देखकर लव और कुश को ससार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। दोनो राजकुमार छोटी उम्र के है। चतन्य तत्त्व के ज्ञाता है और महान वैराग्यवन्त है। अरे ससार की यह स्थिति। तीन खण्ड के अधिपति की ऐसी दशा। ऐसा विचार करते हुए दोनो दीक्षा लेने को तयार हो गये। स्वर्ण की सुन्दर प्रतिमा समान दोनो कुमार पिता के निकट आज्ञा लेने आते हैं। श्री रामचन्द्र जी के कधे पर तो भाई का मृत शरीर पडा है और दोनो कुमार विनय पूर्वक नमस्कार करके वैराग्य पूर्ण स्वर मे आज्ञा मागते है कि हे पिताजी इस क्षण भगुर असार ससार का छोड कर अब हम दीक्षा लेना चाहते हैं। दीक्षा धारण करके हम ध्रुव चतन्य तत्व का ध्यान करगे और उसके आनन्द म लीन होकर इसी भव मे सिद्धपद प्राप्त करगे। इसलिये हे पिताजी हमे दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान करो। हे तात! हमने जिन शासन के प्रताप स सिद्ध पद की साधनाका मार्ग देख लिया है और अब हम उसी अन्तरग मार्ग पर चलगे। ऐसा कह जिनके रोम रोम मे प्रदेश प्रदेश म वैराग्य की धारा उल्लसित हो रही है ऐसे वे दोनो राजकुमार मुनि दीक्षा लेने के लिये पिता का नमन करके वन मे चल जाते है।

धन्य है उन राजकुमारो की दशा। मार्ग मे जबसे यह पावागढ क्षेत्र दिखाई दिया तभी स उनका जीवन दृष्टि के समक्ष तर रहा है। उन्ही के विचार बारम्बार आ रहे हैं। अहो धन्य हैं उनकी मुनिदशा उनका वैराग्य और उनका जीवन जन्म लेकर उन्होने अपना अवतार सफल किया। जबसे

आत्मभाव हुआ तभी स दानो ने अन्तर मे चतन्य की मुक्ति का निहार लिया था।

ससार मे कही भी सुख नही है। हमारा सुख तथा हमारी मुक्ति का मार्ग अन्तर मे ही है ऐसी प्रतीति तो पहले से ही थी इसलिये अब उस देखे हुए माग पर चतन्यानन्द की साधना के लिये अतरोमुख हुए। देखो यहा बिना कुछ जाने समझ ही दीक्षा या साधुपना मान लेने की बात नही है यहा तो नि शकरूप से अन्तर मे देखे जाने और अनुभव किये हुए मार्ग पर मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिसका प्रयास है ऐसी मुनिदशा की बात है। दानो कुमारा को दीक्षा लेने से पूव विश्वास है कि अपने चैतन्यपद मे दृष्टि करने का अपनी मुक्ति का मार्ग हमने देख लिया है। उस चैतन्य पद म गहराई तक उतर कर उसी मे लीन होकर हम इसी भव मे अपने मोक्षपद को साधेगे। हमारा मार्ग अप्रहित है उस मार्ग म हमे किंचित शंका नही है अब हम लौटगे नही अप्रतिहत भाव स अतर स्वरूपोन्मुख हुए सो हुए अब मोक्षपन लकर ही रहेंगे। ऐस भाव से दीक्षा लकर वे दोनो मुनिवर वन मे विचरते हैं और आत्म ध्यान मे लीन होकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते २ केवलज्ञान प्राप्त करत है।

लव कुशमुनि आतम हित मे छोडा सब ससार–
कि तुमने छोड दिया घरबार
राजपाट–वभव सब छोडा, जाना जगत असार
कि तुमने छोड दिया घरबार

ऐसे वे लव-कुश मुनि ग्राम्य वन तथा पर्वत प्रदेशा म विचरते विचरते इस पावागढ क्षेत्र पर आये अहा! मानो इस समय भी वे वहा विचर रहे हो। ऐसे भावपूवक आचाय कहते हैं कि देखो लव कुश मुनिवर इस पावागढ क्षेत्र पर पधारे थे और इसी पवत पर ध्यान किया था। ध्यान करते करते चतन्य रस मे ऐसे निमिग्न हुये कि क्षपक श्रेणी लगाई और–फिर क्या हुआ कि–

चार कम घन घाती ते व्यवछेद ज्यहाँ
भवनां बीजतण आत्यंकित नाश जो
सब भाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता
कृतकृत्य प्रभु वीय अनंत प्रकाश जो

इसी पावागढ पवत पर चतन्य का ध्यान करत करत वे दोनो मुनिवर केवल ज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य प मा मा हुये। उन्हे नमस्कार हो। केवल ज्ञान हाने क पश्चात अ पकाल म उ हाने यही मोक्ष प्राप्त किया उ ी का यह सिद्ध धाम है।

मणि रत्न की प्रतिभा समान उन राजकुमारो ने वराग्य प्राप्त करके मुनि दीक्षा ली और पवित्र धाम मे जाकर कौन सा पवित्र धाम कि निमल चत य स्वभाव रूप पवित्र धाम उसमे जाकर अ तर की गहराई मे उत कर इस एका त शातिधाम पावागढ क्षत्र मे उ ोने चत य परमात्म दशा की साधना की है।

लाड देश के नरद्र और (पाचकोड) मुनिया न यहा म सिद्ध पद प्राप्त किया है। लव कुश और मदनाकुश (लव और कुश) यह दोना राम सीता क पुत्र थ- दाना चरम शरीरी थे दोना ने एक साथ ज म लिया था- एक साथ दीक्षा धा ण की थी- औ एक ही सा य ी म माक्ष प्राप्त किया था। एक बा उ हाने युद्ध म राम-लक्ष्मण का भी थका दिया था। दा ा का चत य का भान था औ चत य क प मान द का माग उ हान अ तर म देखा था। अतर मे दखे हुए माग प चलकर वे यहा स सिद्ध प मा मा हुए। प्रात काल म उन लव कुश का स्मरण करत करते यहा आये है।

पुण्ये पामे स्वगपद पापे नरक निवास
बे तजी जाण आत्मने ते पामे शिववास।

लव कुश कुमार कहते है कि पुण्य ओर पाप दोना स भिन्न अपने अपन ज्ञानान द स्वरूप का मने जाना है और अब उसम लीन हाकर हम अपन शिवपद की साधना करग। अब हम ससार स (पाप औ पुण्य दानो म) विरक्त हाकर अपन चतन्य स्वरूप म समा जायग। रामच द्र जी धर्मात्मा हान पर भी बधु प्रम के मा स लक्ष्मण का मृत शरीर कधे प रखकर घूम रहे है जिस देखकर दोना पुत्र वराग्य का प्राप्त हात हे। अरे ससार की यह स्थिति। आत्मा का भान हान पर भी चारित्र दाष क का ण यह दशा। अरे शरीर की यह क्षण भगुरता उसका विश्वास क्या। सध्या क डबते हुए रगा जसा यह ससार। उस छाडकर अब हम अपने जाने हुए अन्तर के माग पर जायगे।

इस प्रकार वराग्य मे पिता की आज्ञा लेकर दानो कुमार महे द्र उद्यान मे गये और अमृतश्वर मुनिराज के सघ मे दी ा ली और ध्यान मे लीन होकर

कवल ज्ञान प्रगट करके मोक्ष पद प्राप्त किया। इस प्रकार शुद्धरत्नत्रय रूप जो परमार्थ तीर्थ उसके द्वारा ससार से पार होकर यहा से उन्होने सिद्ध पद प्राप्त किया इसलिये यह क्षेत्र भी व्यवहार से तीर्थ है। निश्चय तीर्थ जो शुद्ध रत्न त्रय उसक स्मरणाथ तथा बहुमानार्थ यह तीर्थ यात्रा है। यात्रा का ऐसा भाव ज्ञानी धर्मात्मा को (मुनिवरो को भी) आता है और उस भाव की मर्यादा कितनी है वह भी वे जानते हैं।

४६ व्यवहार काल

व्यवहारकाल उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के भेद से २ प्रकार का है जिस काल मे जीवो की आयु काय आदि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते रहते है वह उत्सर्पिणीकाल कहा जाता है और जिसमे जीवो की आयु शरीर आदि आगे आगे घटते रहते हैं वह अवसर्पिणी काल कहा जाता है। सर्पिणी काल दु षमा दु षमा दु षमा दु षमा सुषमा सुषमा दु षमा सुषमा सुषमा सुषमा के भेद से ६ प्रकार का है। इसमे प्रथम दु षमा दुषमाकाल २१ हजार वर्ष तक रहता है। इसमे जन्म लेने वाले मनुष्य आदि जीवधारियो को दु ख ही दु ख भोगना पडता है। इस काल मे अग्नि के न होने से बडा दुख उठाना पडता है। सब खाने पीने की वस्तुयें बहुधा प्राप्त नही होती हैं। मनुष्य मनुष्य का भक्षक हो जाता है रहने आदि की बडी ही दु व्यवस्था होती है मकान आदि के बनाने का ज्ञान नही रहता है। जमीन मे ही गर्त (गड्ढ) बनाकर लोग रहते है धर्म-कर्म का तो लोप ही हो जाता है। वर्ण व्यवस्था सामाजिक रीति रिवाज आदि सब लुप्त हो जाते है। लोग स्वच्छन्द अनुशासन विहीन निरकुश पाप प्रवृत्ति वाले हो जाते है। इनके स्वभाव मे बडी ही क्रूरता (नृशसता) स्थान पा जाती है जो इन्हे नरक आदि दुर्गतियो मे ले जाती हैं। अत यह काल दु षमा दु षमा कहलाता है। दूसरा दु षमा काल भी २१ हजार वर्ष का होता है। इसमे रहने वाले मानव आदि देह धारियो को दुख की प्राप्ति अधिक और सुख की प्राप्ति नही के समान होती है अर्थात् इस काल मे जन्म लेने वाले जीवो को दुख तो सुमेरु के और सुख सरसो के दाने के समान नसीब होता है परन्तु वह सुख वास्तविक आत्मिक सुख न होकर इन्द्रियाधीन पराश्रित है जो पर वस्तु की अपेक्षा से होता है। वह सुख उस वस्तु के पृथक हो जाने पर स्वयमेव ही नष्ट हो जाता है। अन्ततोगत्वा वही दुखद दशा पुन प्राप्त हो जाती है इसी का नाम ससार है। अत यह दु षमा काल भी दुखो से भरा हुआ है इसमे भी सुख की प्राप्ति प्राय दुर्लभ ही है।

इसके बाद जो काल आता है वह दुखमा सुखमा नाम का तीसरा कहा है। यह ४२ हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागर तक रहता है। इसमे ही ६३ शलाका महापुरुष जन्म धारण करते है जो निम्न प्रकार हैं। २४ तीर्थंकर १२ चक्रवती ६ नारायण ६ प्रतिनारायण ६ बलभद्र। इसी काल मे

जो मोक्ष का मार्ग तीर्थंकर परमदेवो के द्वारा प्रकट एव प्रचलित होता है । इस काल में ही सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त कराने वाला पुण्य एवं सप्तम नरक को ले जाने वाला पाप जीवो क द्वारा उपार्जित होता है । साथ ही दोनो प्रकार के कर्मों का सहार भी इसी काल क पुरुषाथ प्रधान जीवो से हाता है । यह काल सुखमा कहा जाता है । ये तीनो काल कर्म प्रधान होते हैं । अत कर्म भूमि के काल कहे जाते हैं । इसके पश्चात जो काल आता है उसका अब सक्षेप मे वणन किया जाता है जो नीचे अनुसार है ।

सुषमा दु षमा नाम का चौथा काल जब प्रारम्भ होता है तब यहा भोगा की भरमार रहती है । वह भोग इस काल मे जन्मे हुए जीवो का उनके पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न हुए १ प्रकार के कल्प वृक्षो के द्वारा प्राप्त होते रहते है । यह जीव युगल (जोडा) स्त्री पुरुष पति पत्नि के रूप मे अपना सारा जीवन बिताते हैं । अन्त मे पुरुष को छींक और स्त्री को जभाई के आते ही मृत्यु को प्राप्त होते है और दोनो मरकर कल्पवासी देवो मे जन्म लेते हैं । यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इनका शरीर मरने के पश्चात कपू र की तरह उड जाता है । इस काल म जघन्य भोग भूमि की पवृत्ति रहती है । यह दो कोटा कोटी सागर तक रहता है । इसके बीत जाने के पश्चात सुषमा नामक पाचवा काल आता है जिसमे मध्यम भोग भूमि रहती । इस काल के जीव उक्त काल के जीवो से कई गुने सुखी होते हैं । उनकी आयु शरीर की ऊँचाई और भोगोपभोग की सामग्री आदि सब अधिक-अधिक होती हैं । ये सब भी माता पिता स पदा तो होते ही हैं पर माता पिता के मुख को नही देख पात है । इनके पैदा होते ही इनक माता-पिता तत्काल मरक स्वर्गवासी देव हो जाते हैं । फिर यह ४२ दिन मे पूण युवक और युवती होकर स्त्री पुरुषो जैसी भोग क्रियाओ मे सलग्न हो जाते हैं और उसी रूप मे अपनी सारी जिन्दगी वषयिक सुख मे मग्न हो व्यतीत कर देते हैं । यह काल तीन कोटा कोटी सागर तक रहता है । इसमे भी सारी सामग्री जो जीवन के लिये आवश्यक होती है वह कल्पवृक्षो से ही प्राप्त होती रहती है ।

इस पाचव काल क बीत जाने पर सुषमा-सुषमा नामक छठा काल प्रारम्भ होता है । इसमे उत्तम भोग भूमि की रचना होती है । इसमे जन्म लने वाल जीव सुख ही सुख का अनुभव करते हैं और वह सुख विषयो से पदा होने वाला सुख है जो कल्पवृक्षो से पदा होने वाले भोग उपभोग सम्बन्धी सारे पदार्थों के ऊपर अवलम्बित है । यह काल चार कोटा कोटी सागर तक रहता है । इस प्रकार से यह उत्सर्पिणी काल १ कोटा कोटी सागर का होता है । इसी प्रकार से इसक पश्चात आने वाला अवसर्पिणी काल भी १ कोटा

कोटि सागर का होता है। दोनो क मिलाने पर २ कोटा कोटी सागर का एक कल्प होता है। अब अवसर्पिणी काल चल रहा है इसक भी सुषमा सुषमा सुषमा सुषमा-दु षमा दु षमा-सुषमा दुषमा दु षमा-दु षमा ये छह भेद हैं।

इसक प्रथम और द्वितीय एवम् तृतीय काल मे तो उत्तम मध्यम एव जघन्य भोग भूमि की रचना होती है। उसका वर्णन उत्सर्पिणा काल की तरह जानना चाहिये। इस काल क चौथे आरे मे तिरेसठ शलाका महापुरुष जन्मे थे। उनमे सर्वप्रथम आदि ब्रह्मा श्री ऋषभदेव भगवान ने श्री नाभिराज महाराज की महारानी श्री मरूदेवी क गभ से जन्म लिया था। उन्ही भगवान ने भोग भूमि क बीत जाने पर कर्म भूमि मे कम करने का। उपदेश दिया था। असि मषि कृषि सवा शिल्प वाणिज्य ये षट कर्म प्रजाजनो क जीवन निर्वाहार्थ उन्हे समझाये। उन्ही भगवान ऋषभदेव ने अपने अवधि ज्ञान क द्वारा विदेह क्षेत्र की शाश्वतिक वर्ण व्यवस्था को जो वहा अनादि से अनन्त काल तक बराबर विद्यमान रहती हैं यहा भी चालू की थी। उनमे क्षत्रिय वश्य एव शुद्र यह तीन ही वण यहा व्यवस्थापित किये थे और उनकी पृथक पृथक वृत्तिया भी निश्चित कर दी थी जो उन वर्णों क लिये आपस म किसी भी प्रकार की बाधा नही पहुँचाती थी। हाँ यह बात जरूर है कि कुछ समय पश्चात जब उनक ज्येष्ठ पुत्र और इस अवसर्पिणी काल क प्रथम चक्रवर्ती राजा महाराज भरत सारे भरत क्षेत्र क ऊपर पूण विजय प्राप्त कर अखण्ड साम्राज्य पद से विभूषित हुये तब उन्होने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करने के लिये सत्पात्रो को प्राप्त करना चाहा किन्तु उनमे से जो सत्पात्र उन्हे उस समय उपलब्ध हुए थे वे एकमात्र मुनिजन ही थे। जो एकमात्र शरीर की स्थिति के ही लिये ४६ दोष और ३२ अन्तराय से वर्जित शुद्ध प्रासुक आहार लेते थे। इनके सिवा अन्य किसी भी वस्तु की ओर उनका ध्यान नही रहता था। लेकिन महाराज भरत स्वामी तो यह चाहते थे कि जो गृहस्थावस्था मे रहकर व्रताचरण द्वारा अपना जीवन सफल बनाये ऐसे श्रावक हमे चाहिये। अत उन्होने अपने आधीन रहने वाले राजाओ को अपने किसी धार्मिक उत्सव मे आमन्त्रित किया। उन्होंने राजाओ के पास यह सन्देश भेजा कि आप लोग अपने इष्टमित्रो और सबको साथ लेकर हमारे उत्सव मे सम्मिलित हो। उन्होने आमन्त्रित पुरुषो मे से व्रती पुरुषो की परीक्षा करने के हेतु अपने राजमहल के सामने के मदान मे चारो तरफ हरियाली लगवा रखी थी। जो उस हरियाली की रक्षा के कारण महल के अन्दर नही गये किन्तु वहा के वहां खड रहे उन्हे महाराज ने कहलवाया आप लोग क्यो नही आते हैं। तब उन लोगो ने जवाब दिया कि हम लोग कैसे आयें यहा तो चारो तरफ हरि

याली ही हरियाली छाई हुई है। इसमे अनन्त जीवो का निवास है यह सब अनन्तकाय साधारण वनस्पति हैं। इनके ऊपर चलने से इन अनन्तकाय जीवो के घात का महापाप हमलोगो को लगेगा जिसका फल भविष्य मे हम लागो को नरक निगोद में जाकर भोगना पडेगा। यह जानकर महाराज भग्त ने उन्हे प्रासुक माग से बुलाकर श्रावको के व्रतो का उपदेश दिया। अध्ययन और ध्यान यह दो मुख्य कार्य इनके निश्चित किये। साथ ही इनके व्रतो के चिह्न स्वरूप १ से ११ नक यज्ञोपवीत भी इन्हें योग्यतानुसार दिये। ऐसे व्रतियो को इन्होने (महाराज भरत चक्रवर्ती ने) ब्राह्मण सज्ञा दी। अर्थात् उक्त तीन वर्णों के सिवा एक चौथा वण ब्राह्मण वर्ण महाराज भग्त चक्रवर्ती ने स्थापित किया। किसी समय महाराज भरत भगवान ऋषभदेव के समव शरण मे गये और उन्होने भगवान से कहा कि मैंने एक ब्राह्मण व । भी स्थापित किया है जो व्रत प्रधान है। यह वण भविष्य मे कसा सिद्ध होगा ? तब भगवान ने कहा कि यह चौथे काल मे तो कोई विशेष हानिकर सिद्ध न होगा परन्तु आने वाले पञ्चम काल मे इनके द्वारा जन धम का उच्छेद होगा। अर्थात् पञ्चम काल के ब्राह्मण बहुधा जन धम के कट्टर विद्व षी आर विगधी होगे। यह जानकर महाराज भग्त को भी दिल मे बडा सन्ताप हुआ और वह मन ही मन यह सोचने लगे कि हाय मैंने भगवान की आज्ञा के बिना यह वर्ण स्थापित कर अच्छा नही किया।

भगवान आदिनाथ के अतिरिक्त अजितनाथ जी आदि २३ तीर्थङ्कर और ०ए। जिन्हाने धम तीथ की प्रवृत्ति की। उन्ही के समय मे १२ चक्रवर्ती ६ नारायण ६ प्रतिनारायण ६ बलभद्र यह सब ६३ महापुरुष ६३ सलाका के महापुरुष कहे जात हैं। यह सब क्षत्रिय वर्ण के ही होते है। इनसे उस समय की जनता का बडा हित होता था। इस प्रकार स यह चौथा काल ४२ हजार वष कम १ कोटा कोटी सागर तक रहता है। इसमे दुख अधिक और सुख कम होता है। अर्थात् इस काल के जीव बहुधा दुखी होते ही हैं और दुख के कारण सुख के मार्ग पर चलकर अपना भविष्य भी सुखमय बनाते हैं यही इस काल की विशेषता है। प्राय इस काल क जीव ही मोक्ष प्राप्त करने क अधिकारी हाते हैं और सर्वार्थ सिद्धि जैसे महान् पुण्य को भी इसी काल के जीव अर्जन करते हैं और सप्तम नरक ले जाने वाला पाप भी इसी काल क जीवो द्वारा हो सकता है इत्यादि। इसक बाद पंचम दु षमा काल आता है जो अभी चल रहा है। इसमे दु खो की बहुलता है। इसमे जन्म लेने वाले प्राणी बहुधा पाप की प्रचुरता वाले ही होते हैं। पुण्यात्मा भी होते हैं परन्तु वे दाल मे नमक के बराबर ही होते हैं। यह काल २१ हजार वर्ष तक रहता है। इसके

१ हजार वष बीतने के बाद एक कलकी राजा होता है जा धम कम से सवथा शू य अर्थात् कुमागगामी हाता है। इसक बीच मे एक अध कलकी राजा भी होता है उसकी प्रवृत्ति भी वसी ही होती है जैसी कलकी की बताई गई है। इसक अ त मे जो कलकी हागा वह जन साधुओ से भी टक्स के रूप मे प्रथम गास का लेगा। इस प्रथम ग्रास क लेते ही साधू अन्तराय मानकर सन्यास धारण करक मरकर सौधम स्वर्ग मे देव होगे अर्थात् इस कलकी क राज्य मे चतुर्विध सघ का अभाव हो जायेगा। इद्र राजा नाम क आचार्य और उनक वीरारागद नाम क शिष्य मुनि सवश्री नाम की आर्यिका अग्निल नाम के श्रावक एव पगुसेना नाम की श्राविका यह सब सन्यास पूवक मरण कर प्रथम सौधम स्वग मे देव होगे। उस कलकी के उक्त प्रकार के अन्याय और अधम पूण काय से अस तुष्ट हुआ चमरेन्द्र उसे मारेगा और वह मरकर नरक जायेगा। उसका पुत्र राजगद्दी पर बठगा। वह अपने पिता क कुकृत्य से भय भीत हो जन धम का पूण श्रद्धानी हो सम्यग्दृष्टि हागा।

इस प्रकार पचम काल के बीतने क समय म राजा धर्म कम और अग्नि के नाश हा जाने से उस समय के लाग मास मछली आदि का कच्चा खाकर अपना जीवन यतीत करेग।

इसके पश्चात २१ हजार वष का छठा दु षमा दुषमा काल आयेगा। इसमे ज मे जीवो की स्थिति बडी ही दु खमय होगी। इनके रहने आदि के लिये मक न आदि कुछ नही होगे ये जमीन मे गड्ढ बनाकर रहेगे। इस काल मे जन्म लेने वाले जीव नरक और पशुगति वाले होगे और इस काल के जीव मरकर भी नरक एव पशुगति मे ही जायेग ऐसा आगम का वचन है। इस काल के अन्तिम ४६ दिनो मे सात-सात दिन तक बडे ही उत्पात होग जिनसे प्राणियो का सहार होगा।

इनमे सबसे पहले सात दिवस तक सम्वर्तक नाम की महा भयकर हवा चलेगी। जिससे पहाड वृक्ष आदि नष्ट भ्रष्ट हो जायेगे। उसके पश्चात सात दिन तक महा शात पडगी उसके पश्चात सात दिन तक क्षार वस्तुआ की वर्षा होगी उसके बाद सात दिन तक विष की वृष्टि हागी उसके बाद सात दिन तक कठोर अग्नि की वर्षा होगी उसके बाद सात दिन तक धूली की वर्षा होगी उसके बाद सात दिन तक धु वा की वर्षा होगी। उक्त उत्पाता के कारण वहा के जीवो का मरण होगा। कोई पुण्यात्मा जीव विजयार्द्ध की गुफाओ मे कोई गङ्गा और सि धु नदिया के तटवर्ती सुरक्षित स्थानो मे पहुँचकर बच जायगे। कि ही जीवो को दयावान देव और विद्याधर लोग उठा ले जायगे

और उन्हे सुन्दर एव सुरक्षित स्थानो में पहुँचा देगे। इस तरह से इस छठवें काल के बीत जाने पर जब उत्सर्पिणी काल का पहला काल प्रारम्भ होगा तब प्रारम्भ मे सात दिन तक जल की वृष्टि होगी उसके पश्चात सात दिन तक दूध की वर्षा होगी।

उक्त प्रकार से व्यवहार काल के ऊपर निर्भर रहने वाले अनन्तानन्त कल्पकाल बीत चुके और भविष्य मे भी उससे अनन्त गुणे कल्पकाल व्यतीत होगे यह सब निश्चय काल द्रव्य के आश्रित होने वाले व्यवहार काल का वर्णन हुआ।

४७ मिथ्यात्व ही दुख

आचाय समन्त भद्र स्वामी भगवान जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि हे जिने द्र आप ससार रूप महान जाल को छेदन करने वाले है। अत एव आपके गुणो का स्तवन मैं राग से नही करता हू किन्तु ससार का पाप राग है उसका आपन नाश कर दिया है अतएव आप वीतरागी है। आपके उक्त वीत ाग रूप गुण का अनुरागी होकर ही मैं आपका स्तवन करने के लिये प्रय नशील हा रहा हू। यह वीतरागता का राग ागता है ही पर तु वह ससार वद्ध क न होकर ससार का नाशक ही होगा इसलिये यह वीतराग दशा को पा लेगा। इसी प्रकार से आप से भिन्न जो कपिल आदि आप्ता भास है उनसे मेरा काई द्व ष नही है इसलिये मै द्व ष से प्रे ित होकर उनके दगु णो दाषा क कहने की खलता (अशिष्टता) भी नहा कर रहा हू या नही करना चाहता ह। प्रकृत म गुण और दोष को जानने वाले पुरुषा के हित का ढढने का उपाय मैंन आपक गुणा की स्तुति के साथ कह दिया है अर्थात् जा राग द्व ष का त्याग कर पूर्ण वातरागी और पूण वीत द्व षी है वे ही सच्च आप्त होने से स्तुति करने याग्य है और जो रागी है द्व षी है वे कभी भी आप्त नही हा सकत अतएव व स्तुति के पात्र नही है। इन दाना मे जो योग्य है वही आ म कल्याण का कारण है उसे ही हितषी पुरुषा को अपनाना चाहिये इसा मे उनक सारे क याण निहित है। मतलब यह है कि जब आत्मा संसार के असह्य द खो स ऊब जाता है तब उसे किसी ऐस महान आत्मा के समीप मे जाने की स्वाभाविक इ छा होती है जिसने ससार की असारता का उसकी असलियत को जानकर उससे पार होने का माग ढढ निकाला हो और उस पर स्वयमे चलकर अपनी दु खद स्थिति से निकलकर पूण आत्मिक सुख की स्थिति को प्राप्त किया हो। ऐसा जिज्ञासु आत्म-सुखाभिलाषी यदि किसी रागी द्व षी दम्भी के पास जाता है तो उसे उसके पास भी अपनी ही जसी दशा का थाडा बहुत अशो मे दर्शन होता है तब तो वह और भी अधिक बेचन हो जाता है और सोचता है कि यह तो मुझसे अधिक दखी है इनके द्वारा मेरे दख का अन्त सर्वथा असम्भव है। फिर भी वह अपने कतव्य मे दृढ रहता है और आगे बढता है। उसे कही न कही ऐसा महान परम वीतरागी का भी मिलन या दर्शन हो जाता है जो दर असल मे पूण वीतरागी हैं परिपूण ज्ञानी ह सर्वोपरि परिपूर्ण ध्यानी और अपरिमित आ मिक बलशाली है उनकी उक्त

प्रकार की परम शान्त मुद्रा को देखते ही इसकी आत्मिक अशान्ति मे स्वयमेव ही अकथनीय शाति आ जाती है बस इसी को कहते हैं आत्म-कल्याण का निमित्त।

ऐसा निमित्त निमित्त इसलिये कहा जाता है कि उसके रहते हुए आत्मा के उपादान मे जो अशान्ति हो रही थी वह उसी के उपादान मे उसी के पुरुषार्थ से शान्ति के रूप मे परिणत हो गई। लेकिन उस समय उक्त वीत रागी परमात्मा का दर्शन उसमे निमित्त रूप से स्वीकार किया गया है कतृ त्व रूप से नही।

मुनि की उपस्थिति मे बन मे विचरण करने वाले परस्पर जाति विरोधी (जिनका जन्म से ही वर भाव हो) प्राणी भी अपना जन्म जात विरोध (बर) भूल जाते हैं और आपस मे बडा ही प्रम भाव के साथ बरताव करने लगते है। यह क्या है यह भी तो वीतरागी साधु के सान्निध्य (सामीप्य) का ही फल है यह कहना निमित्त प्रधान है।

तात्पर्य यह है कि यदि साधू न होते तो उन जाति विरोधी जीवो का अपना जन्म जात विरोध भी न मिटता और उनके रहने से मिट गया है इस लिये कहा जाता है कि साधू महाराज के कारण ही इनका बैर मिट गया है। यहा साधु महाराज मौन हैं चुप चुप ध्यान मे लीन है उन्होने तो कुछ भी नही कहा है फिर भी वे विरोधी अपना सहज विरोध भूले हुए हैं। यह विरोध के भूलने का भाव उन्ही के उपादान मे उन्ही के द्वारा हुआ है सिर्फ उस समय मात्र साधु की उपस्थिति ही तो है। इस प्रकार से निमित्त मे कृतत्व नही हो सकता है। जितने भी निमित्त होते हैं वे उपादान मे कुछ भी नवीनता नही ला सकते जो भी नवीनता उपादान मे आती है वह मात्र अपने ही कारण से आती है यह सवथा अवाधित और अकाटय नियम है इसमे कोई फेर फार नही हो सकता है यह युक्ति और आगम दोनो से प्रमाणित है।

जिस जीव का चित्त सम्यग्दर्शन से स्थिर और पवित्र होता है वही, सदाचारी है। सब से बडा दुराचार मिथ्यात्व है। एक समय का मिथ्यात्व अनन्त ससार का कारण होता है। जिसके द्वारा आत्मा का पतन हो उसका नाम दुराचार है। ऐसा दुराचार मिथ्यादर्शन के होते हुए ही सम्भव है। दुनिया जिसको दुराचार कहती है उस दराचार का भी मूल कारण वही बलत्व श्रद्धान है। वास्तव मे जो अपने को भूला हुआ है वह सर्वदा बेचैन रहता है। दुनिया को गिनता है और अपने को नही गिनता ऐसा प्राणी अन्तरंग मे दु खी ही रहता है।

४८ अहिंसा ही परमात्मा

प्राणीमात्र की रक्षा करना अहिंसा है ऐसा जगत मे प्रसिद्ध है और वही अहिंसा ही परमब्रह्म है परमात्मा है ऐसा भी कहा जाता है। इससे यह भाव व्यक्त होता है कि जिम आ मा मे अपने आत्मिक गुणो का पूण रीति से सरक्षण प्राप्त हा वही आ मा परमा मा है। ऐमे सरक्षण का नाम ही सच्ची आध्यात्मिक अहिसा है। यहाँ गुण और गुणी मे अभेद विवक्षा होने से अहिसा गुण को ही परमा मा क दिहा गया है जो वस्तुत आ मा के समस्त गुणो की निर्विकारता को सूचित करता हुआ परमा मा के स्वरूप रूप से अहिंसा को कहता है। यह बात प्राणीमात्र मे स्वय कोई भी आत्मा जो अपने गुणो को हर तरह से निर्विकार कर लेता है वही अहिंसा स्वरूप हो जाता है अत एव वह अहिसा स्वरूप स्वयमव परमात्मा है इस अपेक्षा से कही गई हैं। अब व्यवहारिक अहिंसा क्या है यन बताते हुए आचाय श्री कहते है —जिस आश्रम अर्थात् साधू सस्थान म जरा सा भी आ म्भ होता है वहाँ वह अहिंसा नही हो सकती है क्योकि हिसा का जनक आरम्भ है। आरम्भ से हिंसा हुए बिना नही रह सकती (आरम्भजाहिंसा) हिसा आरम्भ से उत्प न होती है ऐसा आगम का बचन है।

इस लिये हे भगवान ! आपने उस अहिंसा को साधने के लिये ही दोना प्रकार के परिग्रहो का सवथा परि याग किया था। अतएव आप का रूप अ य त निर्विकार सर्व प्रकार के विकारो से रहित है। यह तो आपके आभ्य न्तर निमलता का साक्षात् प्रतिरूप है और बाह्य मे आपके शरीर पर तो सूत का धागा भी नही है। नवजात शिशु के समान नग्न अवस्था है जो प्राकृतिक है कृत्रिम नही है। कृत्रिम ता तब हाती है जब शरीर द्वारा भीतरी विकार बाह प्रकट होने के लिये अनिवार्य होने लगते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जो महान् आ मा भीतरी काम क्रोध आदि विकारो पर काबू पा लेता है वही नग्नता को अपनाने का अधिकारी पात्र होता है अन्य नही। बाह्य वेश आभ्य तर विकारो को ढाकने लिये ही किया जाता है। इस लिये वह कृत्रिम है बनावटी है और वह तब तक रहता है जब तक कि विकार रहते हैं। फलतार्थ यह है कि निर्दोष परम बीतराग मुद्रा ही अहिंसा की मूर्ति है जिसमे आत्म रक्षा और पर रक्षा की चरम सीमा पाई जाती है। वास्तव मे परिपूर्ण अहिंसा के पालक नग्न दिगम्बर साधु संत महत ही होते हैं। वे ही षटकाय पांच स्थावर

काय और एक त्रसकाय—इस प्रकार से षटकाय के जीवो की रक्षा करने मे सर्वथा समर्थ हैं। उनके अट्ठाईस मूल गुणो मे पहला मूल गुण अहिंसा ही है। बिना अहिंसा के साधुता का प्रारम्भ नही है। वे ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार से अहिसा रूप ही है। बिना अहिंसा के साधुता का प्रारम्भ ही नही है। वे ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार से अहिंसा को पालन करते हैं। उनकी अहिंसक वृत्ति अनुपम है। उनके सान्निध्य मे आये हुए जाति विरोधी प्राणी सिंह हिरण नकुल सर्प मार्जार हस आदि भी एकत्र प्रम पात्र बनकर विचरण करते हैं। अहिंसक महा‍माओ की ऐसी अलौकिक महत्ता यत्र-तत्र शास्त्रो मे सवत्र पढने का मिलती है जिसे पढकर आत्मा आनन्द से उछलने लगता है। उन अहिंसक सन्तो के श्री चरणो की आराधना सेवा सुश्रूषा से सेवक की आत्मा को अभूतपूव सुख का अनुभव होता है। वे सन्त जहा जहा पदापण करते हैं वहा वहां प्रशम साम्राज्य छा जाता है। जीवन ज्योति जागृत हो उठती है। जीवो को आत्म कर्तव्य का ज्ञान हो जाता है और ता हम क्या कहे। उनके ससर्ग से बड-बड क्रर हत्यारे निदयी खखार सिंह सरीखे जीव भी सम्यग्दशन को पा लेते हैं। हिंसा करना छोड देते है। खास करके ऐसे ही हिंसक प्राणियो के सम्यग्दृष्टि होने के हजारो उदाहरण शास्त्रो मे पढ और सुने जाते है जो पाठको और श्रोताओ को मन्त्र मुग्ध करते रहते हैं। उन अहिंसक महापुरुषो को हमारा शत बार नमस्कार है और है सद्भक्ति भाव से सभम्यथना कि हे साधू श्रष्ठ आपके चरणारविन्द की परम सवा का सुफल हमे पूण अहिंसकता क रूप मे प्राप्त हो अर्थात् हम भी आपके जसे साधु बन। ऐसी अहिंसा दा विभागो मे विभक्त की जाती है।

पहली एक देश अहिंसा और दूसरी सव देश अहिंसा। एक देश अहिंसा के पात्र वे गृहस्थ श्रावक हैं जो चारित्र मोहनीय के उदय के कारण सर्वथा षटकाय के जीवा की हिंसा का त्याग करने मे असमर्थ है वे अपनी शक्ति क अनुसार और चारित्र माहनीय के क्षयोपशम के अनुकूल त्रस जीवो की हिंसा क ही त्यागी हाते है। स्थावर जीवो की हिंसा का त्याग उनके शक्य नही है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का उदय उनके बना हुआ है एवम् व जीवमात्र की हिंसा का त्याग करने मे अपने आपको समर्थ नही पाते। उक्त प्रकार के गृहस्थ श्रावको के आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसा का त्याग तो हो नही सकता क्योंकि उन्हे घर गृहस्थी के कार्यों के सम्पादन मे हर तरह का आरम्भ करना पडता है। जो सकल्पी हिंसा के करने मे प्रवृत्त होते है ऐसी हिंसक प्रवृत्ति वाले नियम स नरक निगोद के अनन्त दुखो के पात्र बनते हैं क्याकि सकल्प पूर्वक इरादतन जो हिंसा की जाती है उसमे हिंसक के परिणाम वड ही कठार हात है।

शान्ति का कारण क्या है कि अपने आत्मा के स्वभाव को जानो। इससे बन्धा विरक्त हो जाओगे। अपनी करतूत से जो क्रोध मान माया लोभ परिणाम होते है उनसे वैराग्य प्राप्त करो। मेरे विनाश के लिये ही ये मेरे माया भाव होते हैं उनसे विरक्ति हो तो यह समस्त कर्मों से क्षय करने मे कारण हैं। किसी के भी मोक्ष का कारण आत्मा को और बन्ध भाव का भिन्न भिन्न कर देने मे है। परमार्थ से आत्म तत्व तो आत्म तत्व मे ही है परन्तु हम उसे संसार के बाह्य पदार्थों मे अवलोकन करते है। जैसे हरिण के नाभी मे कस्तूरी है पर वह ससार मे खोजता है यह भूल है। इसी प्रकार आत्मा तो अपने आप मे ही है किन्तु हमारी प्रकृति तीर्थ मन्दिर तथा पुराण आदि मे देखने की हो गई। जब तक बाह्य दृष्टि को त्याग कर आभ्यन्तर नही देखा जावेगा तब तक उसकी प्राप्ति दुर्लभ ही नही असम्भव है।

४६ अहिंसा परमो धर्म

हे भव्य जीवो ! जिनेन्द्र भगवान ने एक अहिंसा के सदभाव को ही धम कहा है बाकी सत्य भाषण आदि सभी इसके परिवार है। ससारी प्राणी कर्मों के उदय से जिस जिस गति मे जाते है जीवन के प्रति मोहित होते हुए वे उसी मे प्रम करने लगत है। एक ओर तीन लोक की प्राप्ति हो रही हो और दूसरी ओर मरण की सम्भावना हो तो मरण से डरने वाले ये प्राणी तीन लाक का लाभ छोडकर जीवित रहने की इच्छा करते है। इसस जान पडता है कि प्राणियो को जीवन से बढकर और कोई प्रिय वस्तु नही है। इस विषय मे बहुत कहने से क्या लाभ है। यह बात तो अपने अनुभव से जाना जा सकता है कि जिस प्रकार हमे अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार समस्त प्राणियो को भी अपना जीवन प्यारा होता है। इसलिये जो क्रूर कम करने वाले मूख प्राणी दूसरे जीवो को मारते हैं वे पानी मे लाह पिण्ड के समान सीधे नरक मे ही पडते हैं। जो वचन ऊपर से मीठे है पर हृदय मे विष के समान दारुण हैं जो इन्द्रियो के वश मे स्थित हैं परन्तु त्रकालिक सामयिक म बठते है जो योग्य आचार से रहित हैं और इच्छानुसार मनचाही प्रवृत्ति करते है ऐसे दुष्ट जीव तिर्यंञ्च यानि म परिभ्रमण करते हैं। सर्व प्रथम तो जीवो को मनुष्य गति प्राप्त होना दुर्लभ है। उससे अधिक दुलभ स्वस्थ शरीर का पाना है। उससे अधिक दुलभ धन समृद्धि का पाना है। उससे अधिक आर्य कुल मे उत्पन्न होना है। उससे दुलभ विद्या का समागम होना है। उससे अधिक दुर्लभ हेयापादेय पदार्थ का जानना है परन्तु सबसे अधिक दुलभ धम का समागम होना है। कितने ही जीव धर्म करके उसके प्रभाव से स्वर्ग मे जन्म लेकर सुख भोगते है। परन्तु वहा से चलकर विष्ठा तथा मूत्र से लिप्त बिलबिलाते किडाओं से युक्त दुर्गन्धित एव अत्यन्त दु सह गभ मे आते हैं। गर्भ मे यह प्राणी चम के जाल से आच्छादित रहते है। पित श्लाषा और नाल द्वार से च्युत माता द्वारा उपभुक्त आहार के द्रव का आस्वादन करत रहत हैं। वहा उनके समस्त अङ्गोपाङ्ग सकुचित रहते है और दुख के भार से सदा पीडित रहते हैं। बीच मे स्थित रहते हैं और वहा से निकल कर उत्तम मनुष्य पर्याय प्राप्त करते हैं। कितने ही ऐसे पापी मनुष्य जो जन्म से क्रूर होते हैं नियम आचार विचार से विमुख रहते हैं और सम्यग्दर्शन से शून्य होते हैं विषयो

का सेवन करत है। जो मनुष्य काम के वशीभूत होकर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जात है वे महादु ख प्राप्त करत हुए ससार रूपी समुद्र मे परिभ्रमण करत है। दूसरे प्राणियो का पीडा उत्पन्न करने वाला वचन प्रय न पूर्वक छोड देना चाहिये क्याकि ऐसा वचन हिंसा का कारण है और हिंसा ससार का कारण है। इसी प्रकार चोरी पर स्त्री का समागम तथा महा परिग्रह आकाक्षा यह सब भी छोडने क याग्य हैं क्योकि यह सभी पीडा के कारण है। इस उपदेश को मुनिराज के मुख से धर्म उपदेश सुनकर बहुत भव्य जीव वराग्य को प्राप्त हो गये। ध य हैं वे पुरुष जो मोहरूपी शत्रु को पछाड कर आत्मा के गुणो मे ही प्रीति करते है। आत्मन यदि कुछ कल्याण चाहते ा ता धन सम्पदा देह स्त्री पुत्र आदि मे ममता छोड अपने आ मा अर्थात् स्वय से धर्मा माआ ब्रती धारियो साधुओ स स्वध्यान तथा जिन पूजन से प्रीति करो। दखो तीन कराड असरफिया का स्वामी एक राजकुमार ने जन साधू होने की ठान ली। माता स आज्ञा मागा तो उ हान कहा कि अभी तुम बालक हो विधि अनुसार धम पालन नही कर सकागे। राजकुमार ने कहा कि धम पालने की विशषता आयु पर निभर नही ब कि श्रद्धा और विश्वास पर है। वस भी आयु का क्या भरासा मृ यु के लिये बच्चा और बूढा एक समान है। यदि जीवित भी रहा ता यह कसे विश्वास कि सदा निरोगी रहूगा रोगी से धम पालन नही हा सकता। बुढापे मे तो धम साधन की शक्ति ही नही रहती यह मनुष्य ज म बार २ नही मिलता। वीर प्रभु के उपदेश स मुझ यह दृढ विश्वास हा गया कि जिन विषय भोगो और इन्द्रियो की पूर्तियो को हम सुख समझत है वह वर्षों तक नरको के महादुख सहने का कारण है। मात तात आप ता हमेशा मेरा हित चाहते रहे हो तो अविनाशी हित से क्यो रोकते हो। प्रभावशाली बचन सुनकर सतु ट हो गये और उस जिन दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी। जिस प्रकार कदी को बन्दी खाने से छुटने पर आन द आता है उसी प्रकार राजकुमार आनन्द मानता हुआ सीधा भगवान वीर के समवश ण म गया और दीक्षा लेली। वह विचार करने लगा कि जिस प्रकार अध स्वण पत्थर को ही तपाने से सोना निकलता है जसे दूध का गर्म करके अ छी त ह स उसको मथन करने से घी निकलता है काष्ठ स काष्ठ को रगडने से अग्नि प्रतीत होती है इस तरह शरीर से यह आत्मा भि न है। इस भेद विज्ञान के अभ्यास से मुझको मेरे अन्दर देखने मे क्या असाध्य है। इस प्रकार भगवान वीतराग देव के इस मार्ग पर श्रद्धान रखकर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव रुचि पूवक अपने आत्मा का स्व पर ज्ञान के द्वारा अपन अ दर रत होकर देखते हैं। उन्हे आत्मा का अनुभव होने लगता है। हान म क्या देर लगती है। दूध पानी के समान जीव और कर्म

का सयोग है। जिस प्रकार गुड के रस मे पगा हुआ पदार्थ अधिक स्वादिष्ट और मिठा जान पडता है इसी प्रकार तीर्थंकर गणधर तथा सामान्य मुनि जहा जहा निवास करते हैं वे सब स्थान इस ससार के प्राणियो को सदा के लिये अधिक पवित्र करने वाले हो जाते है। तप के द्वारा (यह तप की महिमा) जहा जहा मुनि तप करते है वह जगह पूज्य हो जाती है। इसलिये सबको छोड कर तप करना चाहिये।

५० भेषमात्र—मुक्ति का कारण नहीं

सुद्ध ग्यान क देह नहि मुद्रा भेष न कोई ।
तात कारन मोख को दरब लिग नहि होई ।।
दरब लिग न्यारो प्रगट कला वचन बिग्यान ।
अष्ट महारिधि अष्ट सिधि एऊ होहि न ग्यान ।।

अर्थ—आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है और शुद्ध ज्ञान के शरीर नही है और न आकृति वेष आदि हैं । इसलिये द्र य लिंग मोक्ष का कारण नही है । बाह्य वेष जुदा है कला कौशल जुदा है बचन चातुरा जुदा है अष्ट महा ऋद्धियाँ जुदी है सिद्धिया जुदी है और य कार्य ज्ञान न ा है । आत्मा क सिवाय अ यत्र ज्ञान नही है । जस कहा है —

भेष मै न ग्यान नहि ग्यान गुरू वतन मै
मत्र जत्र तत्र मै न ग्यान की कहानी है ।
ग्रथ मे न ग्यान नहीं ग्यान कवि चातुरी मे
बातनि मै ग्यान नहि ग्यान कहा बानी हे ।।
तात भेष गुरुता कवित्त ग्र थ म त्र बात
इनत अतीत ग्यान चेतना निसानी है ।
ग्यान ही मे ग्यान नहि ग्यान और ठौर कहूं
जाके घट ग्यान सोई ग्यान निदानी है ।।

अथ—वेष मे ज्ञान नही है मह त जी बने फिरने म ज्ञान नहा है । म त्र जन्त्र-त त्र मे ज्ञान की बात नही है शास्त्रो म ज्ञान नही है कविता कौशल मे ज्ञान न ी है व्याख्यान मे ज्ञान नही है क्याकि वचन जड है । इससे वेष गुरुता कविताई शा त्र म त्र त त्र यारयान इनसे चैतन्य लक्षण का धारक ज्ञान निराला है । ज्ञान ज्ञान मे ही है अ यत्र नही है । जिसके घट मे ज्ञान उपजा है वही ज्ञान का मूल कारण अर्थात् अ मा है ।

(ज्ञान के बिना वेषधारी विषय के भिखारी हैं)

भेष धरि लोकनि कौं बचै सो धरम ठग,
गुरु सो कहाव गुरुवाइ जाहि चाहिये।
मन्त्र-तन्त्र साधक कहाव गुनी जादूगर
पडित कहाव पडिताई जामे लहिये।
कबिता की कला मे प्रवीन सो कहाव कवि
बात कहि जानै सो पवारगीर कहिये।
एतौ सब विष के भिखारी मायाधारी जीव,
इन्ह कौ विलोकि क दयाल रूप रहिये।

अथ—जो साधु वेष बनाकर लोगो को ठगता है वह धम ठग कहलाता है जिसमे लौकिक बडप्पन हाता है वह बडा कहलाता है जिसमे मत्र तत्र साधने का गुण है वह जादूगर कहलाता है जो कविताई मे होशियार है वह कवि कहलाता है जो बातचीत मे चटपटा है वह व्याख्याता कहलाता है। सो ये सब जीव विषय के भिखारी हैं विषयो की पूर्ति के लिए याचना करते फिरते हैं इनमे स्वाथ त्याग का अश भी नही है। इन्हे देखकर दया आनी चाहिये।

(अनुभव की योग्यता)

जो दयालता भाव सो प्रगट ग्यान कौ अग।
प तथापि अनुभौ दसा, बरत विगत तरग॥
दरसन ग्यान चरन दसा, कर एक जो कोइ।
थिर ह्वै साधै-मग-सुधी अनुभवी सोइ॥

अर्थ—यद्यपि करुणा भाव ज्ञान का साक्षात अग है पर तो भी अनुभव की परिणति निर्विकल्प रहती है। जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकतापूर्वक आत्म स्वरूप मे स्थिर होकर मोक्ष मार्ग को साधता है वही भेद विज्ञानी अनुभवी हैं।

(आत्म अनुभव का परिणाम)

जोई द्रिग ग्यान चरनातम मै बैठि ठौर
भयौ निरदौर पर वस्तु कौ न परसै—।

सुद्धता विचारैं ध्यावै, सुद्धता मैं केलि करै
सुद्धता मैं थिर ह्वै अमृत-धारा बरसै।
त्यागि तन कष्ट ह्वै सपष्ट अष्ट करम को
करिथान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै।
सोतौ विकलप विजई अलप काल माँहि
त्यागि भौ विधान निरवाद पद परसैं।

अर्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्मा मे अत्यन्त दृढ स्थिर होकर विकल्प जाल को दूर करता है और उसके परिणाम पर पदार्थों मे ममत्व नहीं करता वह आत्म शुद्धि की भावना व ध्यान करता है वा शुद्ध आत्मा मे मौज करता है अथवा यों कहो कि शुद्ध आत्मा मे स्थिर होकर आत्मीय आनन्द की अमृतधारा बरसाता है वह शारीरिक कष्टों को नहीं गिनता और आठों कर्मों की सत्ता को शिथिल और विचलित कर देता है तथा उनकी निर्जरा और नाश करता है। वह निर्विकल्प ज्ञानी थोड़े ही समय मे जन्म मरण रूप संसार को छोड़कर परम धाम अर्थात् मोक्ष पाता है।

५१ सम्यग्दृष्टि मुनि का ध्यान

अपने स्वरूप को बिना जाने जो जगत मे चिल्लाकर उपदेश दिया जाता है उसके विषय मे पूज्य आचार्यों ने बड अनुभव की बात कही थी। जब तुम्हारे पास कुछ नही है तब जग को तुम क्या दोगे। भव भव मे तुमने धोबी का काम किया दूसरो के कपड धोते रहे और अपने को निर्मल बनाने की ओर तनिक भी विचार नही करते। अरे भाई ! पहले आत्मा को उपदेश दो नाना प्रकार की मिथ्या तरगो को हटाओ फिर उपदेश दो। केवल जगत को उपदेश देने से शुद्धि नही होगी। थोडा भी आत्मा का कल्याण कर लिया तो वह बहुत है।

राजर्षि श्री भतहरि ने अपने वैराग्य शतक मे वैराग्य को प्राप्त करने के पश्चात् ध्यान का स्थिरता के हेतु कितनी पवित्र और उज्जवल भावना व्यक्त की है जो किसी भी ध्यानी के लिए ध्यान मे अग्रसर होने के लिए प्ररणा करती है। वे कहते है कि—

गङ्गा तीरे हिम गिरि शिला वद्ध पद्मासनस्य—
ब्रह्म ध्यानाभ्यसन विधिना योग निद्राग तस्य।
किंत भाव्य मग सुदिव सयत्रते निर्विशका
सप्राप्स्यन्ते जरठ हरिणा भृङ्गकड विनोद।

अर्थ—हे भगवान् ऐसे दिन कब आयेगे जब मैं गगा नदी के किनारे पर हिमालय की शिला पर पद्मासन से बैठकर ब्रह्म ध्यान आत्म ध्यान मे लीन होकर योग मुद्रा को धारण करूगा जिससे वहा पर विचरण करने वाले बूढे हिरण नि शक होकर अपने शरीर को मेरे शरीर से खुजलाकर अपनी खुजली दूर करगे। इसम ध्यान की परक निश्चलता की भावना व्यक्त की गई है जो किसी भी उत्तम ध्यानी के अतिशय रूप मे वाछनीय है।

एक जगह उन्होने समभाव की भावना को व्यक्त करते हुए अपने आराध्य देव से जो भावना प्रार्थना रूप मे प्रगट की है वह भी समभाव प्रधान व्यक्ति को कितनी उपादेय है।

अहो वाहारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुम शयने वा दृष विवा

तृणें वा स्त्रण वा मम समदशो यान्ति दिवसा
क्वचित पुण्यारण्ये शिवशिवेति प्रलयत ।

अथ – हे भगवान् किसी पवित्र वन मे अत्यन्त प्रशा त वनान्त प्रदेश मे शिव शिव इस प्रकार से आपके नाम का जाप करने वाले मेरे समस्त दिन समभाव के साथ व्यतीत हो। मैं सर्प मे और हार म बलवान वरी मे और मित्र मे रत्न मे और मिट्टी के ढले मे पुष्पो की शय्या म और पत्थर की शिला म यथा योग्य रीति से राग और द्वेष का परित्याग कर सबको समभाव मे देख अर्थात् किसी क प्रति मेरे मन मे विषमता का भाव न हो। मे रागी आर द्वषी न बनू । इस तरह राजर्षि कवि ने वीतराग के प्रति महान आदर दर्शाया है। श्री पद्मनन्दी आचार्य ने भी पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका म उक्त प्रकार के भाव को प्रगट करते हुए लिखा है —

तृण वा रत्न वा रिपुरथ पर मित्र मथना ।
सुख वा दु ख वा पितृवन मद सोधमथवा ।।
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरण मथवा जीवित मथ ।
स्फुट निग्रथाना द्वयमपि सम शान्त मन साम् ।।

भाव यह है कि तृण और रत्न मे शत्रु आ मित्र म सुख और दुख मे शमशान और राज प्रासाद मे स्तुति और निन्दा म मरण और जीवन म साधु समताभाव रखता है। समभाव धारण करने वाले शान्त स्वाभावी साधुता के पथ पर आरुढ साधु जब याचना परिषह से शिथिल होता है तब उसे पुन उसमे स्थिर करने के लिये आचार्य गण भद्रसूरि आत्मानुशासन मे कितना सुन्दर मनोहारी वस्तुतल स्पर्शी उपदेश देते है —

गेह गुहा परिदधासिदिशो विहाय ।
सपान मिष्टमशन तपसोऽभिवृद्धि ।।
प्राप्ता गमायतव सन्ति गुणा कलत्रे ।
मप्राथ्य वृत्तिरसि पासि वृथन याञ्जाम् ।।

अर्थ—हे मुने जब तुम गुफा रूप घर को धारण करते हो तब तुम्हे अन्य मिट्टी या ईट चूना के बने हुये मकान की याचना करना विकार है। हे मुनिराज जब तुम दिशा-रूप पवित्र वस्त्र को धारण करते हो तब तुम्हे अन्य कपास आदि के बने हुये वस्त्रो की याचना करना बेकार है। हे मुनी द्र

जब तुम आकाश रूप सवारी पर चलते हो तब तुम्हे दूसरी चेतन या अचेतन सवारी की चाह करना अशोभनीय है। हे यतीश जब तुम तपस्या की महान वृद्धि को धारण करते हो तब तुम्हें अन्य प्रकार के भोजन की वाछा करना कसे शोभा दगा। हे ऋषिराज शास्त्र ज्ञान ही जब आपका परिवार है तब आपको अन्य परिवार की इच्छा करना कसा ठीक हो सकता है। हे अनगार! जब ज्ञान आदि गुण ही आपके कलत्र हैं तब आपको अन्य कलत्र की इच्छा करना सर्वथा अनुचित ही है। तात्पय यह है कि जब साधु आत्म साधना के मार्ग पर आरूढ होता है तब उसे किसी भी प्रकार से ससारिक किसी भी वस्तु की स्वप्न मे भी इच्छा नही करनी चाहिये। याचना करना तो बहुत दूर की चीज है। जहा इच्छा करना पाप हो वहा उसकी याचना करना तो महान घोर पाप है ऐसा समझ कर साधु को याचना परीषह विजय हाना चाहिये तभी वह सवर और निजरा तत्त्व के द्वारा मोक्ष तत्त्व को सिद्ध करने म समथ हा सकता है। अन्तरमुखी दृष्टि प्रधान धाता के ध्यान मे साधन क्या है और क्या नही है। इन बातो का निर्देश करते हुये आचाय अमितगति सूरि ने समायिक पाठ (द्वात्रिंशत्) मे लिखा है —

न सस्तरोऽश्मान न तृण न मेदिनी
विधान तो नो फल को विनिर्मित।
यतो निरस्ताक्ष कषाय विद्विष
सुधी भिरात्मव सुनिर्मलो मत।

ध्यान का साधन न तो चटाई है न पाषाण है न पियाल है न घास है न जमीन है और न शास्त्रानुसार बनाया हुआ काष्ठ का तख्ता आदि है। किन्तु साधु आत्म ज्ञानियो ने इन्द्रिय विजयी और क्रोधादि कषाय निग्रह निर्मल आत्मा को ही ध्यान का साक्षात् आसन स्वीकार किया है।

न सस्तरोभद्र समाधि साधनम्।
न लोक न च सघ मेलनम्॥
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशम्।
विमुच्य सर्वामपि बाह्य वासनाम्॥

अर्थ—उत्तम ध्यान का साधन बेंत आदि की बनी हुई न ता आसन ही है और न लोक प्रतिष्ठा है न सघ मे रहना ही है। इसीलिये हे आत्मन् तुम

समम्त व तुआ से व्यामोह को छोडकर आत्म स्वरूप म ही रत रहने का प्रयत्न कर ।

न सन्ति वाह्या मम केचनाथा
भवामि तेषा न कदा चहम् ।
इत्थ विनिश्चत्य विमुच्यवाह्यम्
स्वस्थ सदा त्व भव भद्र मुक्त्य ।

अथ—हे भद्रात्मन् ! तुम मुक्ति को प्राप्त करने के लिये यह निश्चय पूवक निर तर विचार अपने आत्मा मे स्थिर करो कि जितने भी बाहरी पदाथ है वे मेरे नही हैं और मै भी उनका नही हू और वे न तो कभी मेरे थे और न मैं ही कभी उनका था और आगे वे न कभी मेरे होगे तथा मैं भी उनका कभी नही होऊगा ।

आत्मान् मात्म य विलोक्य मान
त्व दशन ज्ञानमयो विशुद्ध ।
एकाग्रचित खलु यत्र तत्र
स्थितोऽपि साधलभते समाधिम् ।।

अर्थात हे आ मन् तुम स्वभावत विशुद्ध ज्ञान और दशनमय हो । इस लिये अपने स्वरूप का अपने म ही दखत हुए उसी म स्थिर चित्त रहो जिसमे स्थिर होन स साधु श्रेष्ठ समाधि का प्राप्त करता है । यहा आचार्य श्री ने आ म स्वरूप मे स्थिर होने का कारण एकमात्र आत्म स्वरूप का ज्ञान और दर्शन ही बताया है । इस प्रकार के विचार मे निरत आ मा का ध्यान ही वस्तुत धम ध्यान है ।

५२ शुद्धोपयोगी आत्मा

शमबोधवृत्त तपसा पषाण स्यव गौरव पुस ।
पूज्य महामणेखि तदेव सम्यक्त्व सयुक्तम् ।।

अथ—शम शान्ति क्षमा बोध शास्त्र ज्ञान व्रत एक देश या सर्वथा पञ्च पापो का त्यागरूप चारित्र और अनशन ऊनोदर आदि तपश्चरण आदि मिथ्या व क साथ होगे तो वे उस पाषाण (पत्थर) के समान भारी वजनदार होगे जिसकी कीमत नही के समान हैं। अर्थात् वे सब आत्मा के लिये भार स्वरूप हागे। उनस आ मा को कोई विशेष लाभ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति मे सहायता नही मिल सकती। उनसे तो ससार की ही कोई विभूति हाथ लग सकती है जो अनन्ता बार इस जीवने प्राप्त की है और जो कर्मानुसार फल दकर नाश को प्राप्त हुई। ऐसी नश्वर क्षणिक विभूति से आत्मा को क्या लाभ ? हां यदि वे शम आदि सम्यक्त्व के साथ हो तो महामणि (बहुमूल्य र न) के समान आदरणीय और भव भंजन मे कारण हो सकत है। जसे महा रत्न के मिलने पर दरिद्रता का विनाश होकर महान सम्पत्ति की प्राप्ति होती है वस ही सम्यक्त्व के साथ शम बोध व्रत आदि ससार के सहार म कारण होकर परमाचिन्त्य अवनाशी मोक्ष लक्ष्मी क प्राप्त करने मे कारण हो सकत है। इसलिये सम्यक्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न सबसे प्रथम होना चाहिये।

शुद्धोपयोगी आत्मा का स्वरूप

जो भव्यात्मा शुद्धात्मा के अनुभव करने मे दक्ष हैं समर्थ अथवा चतुर है श्रुतज्ञान म निपुण है भावदर्शी है पूर्व कालीन अपने अच्छे या बुरे भावो का दृष्टा है अथवा मम रहस्य तत्व का जानकार है अर्थात् वस्तु स्वरूप का ज्ञाता हैं चारित्रादि पर आरुढ है संक्लेश भाव से मुक्त है ऐसा वह मुनीन्द्र दिगम्बर मुद्रा का धारक निर्ग्रन्थ साधु नियम से साक्षात पूर्ण शुद्धोपयोगीपुण्य पाप परिणति से रहित होकर शुद्ध उपयोग वाला है। यही महान आत्मा कर्मों का नाश करता हुआ परम सुख को प्राप्त करता है। नय भेद से यह शुद्धोप योग आत्मा दो प्रकार का है। (१) सविकल्पक और (२) अविकल्पक।

भावार्थ—जो महान आत्मा अपने शुद्ध आत्मा के ही अनुभव का

रसास्वादन करता है श्रत निष्णात है सब तरह के सक्लेश परिणामो से रहित है चारित्रादि का पूण आराधक है पुण्य पाप परिणामो से विहीन है सदा रत्न त्रय का उपासक है भय प्रकार के परिग्रह से रहित पूण निर्ग्रन्थ साधु है वह शुद्धोपयोगी आत्मा है। यह आत्मा कर्म मुक्त होता अन्त मे मोक्ष सुख को पाता है। इसके दो भेद है। सविकल्प और अविकल्प। सातव गुण स्थान वाला आत्मा सविकल्प शुद्धोपयागी है और आठव गुणस्थान स लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के आत्मा और सिद्धपरमात्मा अविकल्पक शुद्धापयोगी हैं। अर्थात् इस भरत क्षेत्र म पचकाल मे ज्ञानी का धम ध्यान ही हैं। उस धर्म ध्यान को जो आत्म स्वभाव से स्थित नही मानता है वह अज्ञानी है मिथ्या दृष्टि है। अर्थात् जो पचकाल मे और क्षेत्र मे रहने वाले जीवो के सवथा धम ध्यान का निषेध करते है वे अज्ञानी हैं मिथ्यादृष्टि है। उन्हे आत्म स्वरूप की खबर नही है। वे यह नही जानते कि इस कलिकाल मे भी पचकाल मे भी आत्मार्थी पुरुषो के प्रबल पुरुषार्थ स धर्म्य ध्यान हो सकता है ऐसा परमगम मे कहा गया है जो सम्यग्दृष्टि को सवथा मान्य है। षट पाहुड मे कहा है —

भरहे दुस्सम काले धम्मज्झाण हवेइ णणस्स।
त अप्पा सहावट्ठिये णहु मण्णदि सोदु अण्णाणी ।

अथ — आज इस पचकाल मे इसी भरत क्षेत्र मे रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) से पवित्र आ माय आत्मध्यान के प्रभाव से इन्द्रपद को अथवा लौकान्तिक देव पद को प्राप्त करके और वहा से आयु पूण करके मनुष्य का भव धारण करके उसी भव स ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। इस विवेचन से उन लोगो की यह शका दूर हो जानी चाहिये कि इस पचकाल मे इस क्षेत्र स जब माक्ष का मिलना ही कठिन है तब मुनि होने से क्या लाभ। उन्हे नीचे लिखी हुई है इस गाथा मे अपना समाधान कर लेना चाहिये।

अज्जवितियण सुद्धा अप्पाझा ऊण लहइ ईदत्त।
लोयतिय देवत्त तत्थ चुदोणिव्वुदि जन्ति ।।

अर्थात् आज भी सम्यग्दशन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध निमल आत्माये अपना ध्यान करके इन्द्र पद को अथवा लौकान्तिक देव पद पाकर और वहा से च्युत होकर मनुष्य भव को प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष जा सकता है। ऐसा समझ कर मोक्षमार्ग का निषेध नही करना चाहिये। किन्तु भरत क्षेत्र मे पचकाल मे जन्मे हुए जीव उस क्षेत्र से उस काल मे मोक्ष नही जा सकते परन्तु मोक्ष मार्ग पर चलकर के तीसरे भव मे अवश्य ही मोक्ष

जा सकते हैं। यदि वे इन्द्र या लौकान्तिक देव हो जाय तो इससे यह साफ तौर से जाहिर है कि पचमकाल मे भी मोक्ष मार्ग का साधन हो सकता है और इसीलिय पचमकाल के अन्त तक मोक्षमार्गी मुनि आर्यिक श्रावक और श्रविका रूप चतुर्विध सघ पाया जायेगा ऐसा आगम मे लिखा गया है। इस प्रकार से मोक्ष का परम्परा साधन रूप धर्म ध्यान इस काल मे भी हो सकता है। यह शास्त्र सम्मत विवेचन है इसमे जरा भी सन्देह नही होना चाहिये। जब इस काल मे द्वादशाग श्रुत का ज्ञान नही हो सकता तब ध्यान भी नही हो सकता सो यह कहना भी शास्त्र सम्मत नही कहा जा सकता जैसा कि हम उपर स्पष्ट कर आये हैं कि इस काल मे धर्म ध्यान के होने मे कोई बाधा नही है। धम ध्यान के होने मे यह आवश्यक नही है कि द्वादशाङ्ग श्रुत का ज्ञान होना ही चाहिये। धम ध्यान तो पच समिति और तीन गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन मात्र के ज्ञान से भी हो सकता है। द्वादशाङ्ग श्रुत की जो बात कही गई है वह शुक्ल ध्यान शुद्धोपयोग रूप ध्यान के लिये कही गई है न कि धम ध्यान की मुख्यता से। इतनी व्याख्या का साराश इतना ही है कि धम ध्यान इस काल और इस क्षेत्र मे भी सम्भव है और उसका फल साक्षात् तो नही परन्तु परम्परा मोक्ष का कारण अवश्य ही है। ऐसा दृढ निश्चय करके प्रत्येक मुमुक्ष मानव को उसमे अग्रसर होने मे नि सकोच नि सन्देह प्रवृत्ति करनी चाहिये चूकना नही चाहिये इसी मे मानव जन्म की सफलता है। उस शुद्धो पयोगरूप ध्यान को शुक्ल ध्यान कहते है।

शुक्ल ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका उपाय क्या है। शुक्ल का अथ है स्वच्छ श्वेत जिसमे किसी भी प्रकार का विकार नही है एकमात्र वीतराग (निर्दोष) दशा का ही जिसमे चिन्तन होता है। यहां दशा से तात्पर्य केवल पर्याय नही है किन्तु पर्यायवान द्रव्य और उसके गुण ये सभी विवक्षित है। उस शुक्ल के चार पाये बताये गये हैं वे इस प्रकार हैं।

(१) पृथकत्व वितर्क विचार (२) एकत्व वितर्क अविचार (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती (४) व्युपरत क्रिया निवर्त्ति। इनमे प्रथम पृथकत्व वितर्क विचार नामक शुक्ल ध्यान का स्वरूप यह है कि जिसमे द्रव्य गुण और पर्याय की पृथकता के साथ भावश्रुत ज्ञान के बल से या स्वानुभूति के द्वारा आत्मा के स्वरूप को तर्क वितर्क ऊहापोहपूर्वक आत्म द्रव्य का उसके किसी गुण का उसके गुण की किसी पर्याय का किसी शास्त्र के वचन का कभी काय योग का आश्रय लेकर तो कभी वचन योग का आश्रय लेकर तो कभी मनोयोग का आश्रय लेकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। वह पृथक्त्व वितर्क विचार नाम का शुक्ल ध्यान कहलाता है। इसमे द्रव्य से द्रव्यान्तर वचन से वचनान्तर

योग से योगान्तर की प्रधानता स आत्म स्वरूप के चिन्तन की मुख्यता र ती है। बाह्य पदाथ म इष्ट अनिष्ट कल्पना का सर्वथा अभाव रहता है। ध्याता की आत्मिक वृत्ति ही इसम प्रमुख है। बाह्य वृत्ति भी यदा कदा हाती है परन्तु वह इच्छा पूवक नही होती है अर्थात् उस वृत्ति म रागाश या द्व षाश नही हाता है किन्तु आत्म स्वरूप के वेदन अनुभवन और स्थिरीकरण मे ध्याता निमग्न रहता है। यह ध्यान गुण स्थानो की अपेक्षा से आठव नवे दशव व ग्यारहव इन चार गुण स्थानो मे हाता है आगे नही।

(२) एकत्व वितर्क अविचार नामक शुक्ल ध्यान मे स्थित ध्याता शुद्ध आत्म द्रव्य का या उसके शुद्ध स्वसवेदनरूप ज्ञानगुण का या उसकी शुद्ध पर्याय का अपने भावश्रुत ज्ञान के द्वारा चिन्तन करता है। ऐसा चिन्तक अन्तमु हूर्त मे अनादिकाल से आत्मा के साथ सयुक्त ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मो का समूल विनाश करके अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्त शक्ति रूप अनन्त चतुष्टय से मण्डित अर्हन्त परमेष्ठी बन जाता है।

जिसे आगम मे परमात्मा शब्द मे भी कहा जाता है। वे सकल परमात्मा सर्वज्ञदेव आर्यक्षेत्र मे देश देशान्तरो मे विहार का दिव्य ध्वनि द्वारा मोक्ष मार्ग का कारण भूत सप्त तत्व नव पदाथ का उपदेश करते हैं जिसे सुनकर बहुत से भव्य जीव तो तत्काल ही नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण कर घोर तपश्चरण द्वारा निर्वाण (सिद्ध पद) का प्राप्त करते है।

कोई भव्य मुमुक्षु अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रता को धारण करत हैं कोई भव्य जीव उनके सदुपदेशामृत का पान कर अपने आत्मा स सम्बन्धित मिथ्यात्वरूप महाविष को वमन कर सम्यग्दृष्टि हो जाते है। इस प्रकार स लाखो जीव भगवान के उपदेश से आत्म कल्याण मे तत्पर हो मोक्ष कल्याण को प्राप्त करते है। यह ता उनकी वर्तमान दिव्य देशना का सुफल है। उनके अनन्तर भी सख्यात असख्यात और अनन्त प्राणी उनके उस उपदश को शास्त्रो द्वारा साधुओ द्वारा और अन्य सदुपदेष्टाओ द्वारा सुनकर आत्मा के सुधार मे समुद्यत हो स्वर्ग मोक्ष के सुख के भागी बनते है। इस तरह भगवान जिनेन्द्र देव की वाणी का प्रभाव प्राय प्रत्येक विवेकी प्राणी पर पडता है। यह सब उस एकत्व वितर्क अविचार नामक दूसरे शुक्ल ध्यान का साक्षात सुफल है। यह दूसरा शुक्ल ध्यान बारहव क्षीण कषाय गुण स्थान के अन्त मे होता है।

(३) तेरहव गुणस्थानवर्ती सयोग केवली भगवान आयु कर्म की अन्तर मुहूर्त स्थिति शेष रहने पर और शेष अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तमु हूर्त

से अधिक होने पर उनकी स्थिति को आयु कर्म के बराबर करने के हेतु दण्ड कपाट प्रतर और लोकपूर्ण नामक समुद्घात को करते हैं। उसके प्रभाव से उन कर्मों की स्थिति आयु कम बराबर हो जाती है। तब वे भगवान केवली जिनेन्द्र बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के मनोयोग वचनयोग और बादरकाय योग का निरोधकर सूक्ष्मकाययोग का आलम्बन कर सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती तीसरे शुक्ल ध्यान को आरोहण करते हैं।

(४) तब उस सयोग दशा से निकल अयोग दशा मे पहुँचने की तयारी प्रारम्भ हो जाती है। उस समय उनके श्वासोच्छवास और काय योग की क्रिया का नि ोध और आ म प्रदेश परिस्पन्द भी रुक जाता है। उस समय वे भगवान युपरत क्रिया निवर्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यान को प्राप्त करते है। उस समय उनके आस्रव निरोध स्वरूप सवर तत्त्व की परिपूर्णता और सत्ता मे रहने वाली ८५ प्रकृतियो का क्षय होने पर यथाख्यात सयम की परिपूर्णता होते ही वे भगवान निर्वाण सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से यह उत्कृष्ट ध्यान ही वस्तुत आत्मा का कर्म ब धन से मुक्त करने मे प्रधान है इसीलिए न ध्यानात्परम तप ध्यान से बढकर श्रेष्ठतक कोई अ य तप नही है यह उक्ति अक्षरश सत्य है इसमे जरा भी सन्देह नही है। अतएव प्रत्येक मुमुक्ष आत्मार्थी को इसमे लगना चाहिए बिना इसमे लगे आत्म सिद्धि का कोई दूसरा चारा नही है।

५३ स्व-पर चिन्ता

उत्तमा स्वात्म चिंता स्यात् मोह चिताच मध्यमा ।
अधमा काम चिंता स्यात्—परचिंताधमा धमा ॥

अर्थ—पराई चिन्ता से न कभी किसी का उद्धार हुआ है और न होगा। पर की चिन्ता कल्याण पथ का पत्थर है। चिन्ता किस की करते हो जब पर वस्तु अपनी नही तब उसकी चिन्ता से क्या लाभ ? उन पुरुषो का अभी निकट ससार नही जो पर की चिन्ता करते है। इस काल मे सत्पथक पथिक वही हो सकता है जो पर की चिन्ता से अपने को बचा सके। चिन्ता से कभी पार न होगे। आत्मचिन्ता भी तभी लाभदायक हो सकती है जब आत्मा को जानो मानो और तद्र प होने का प्रयास करो। चिन्ता चाहे अपनी हो चाहे पर की अवाछनीय है। चिता और चिन्ता शब्द लिखने म ता केवल एक बिन्दी मात्र का अन्तर है परन्तु स्वभावत दोनो ही विलक्षण है। चिता मृत मनुष्य को एक ही बार जलाती है परन्तु चिन्ता जीवित मनुष्यो को रह रहकर जलाती है। चिन्ता आत्मा के पौरुष को क्षीण कर चतुगति भववत मे पात कर नाना दु खो का पात्र बना देती है। जिसम उत्तरोत्तर शरीर क्षीण और मन चञ्चल हो जाता है वह चिन्ता ही तो है। उसका त्याग करो और आत्महित मे लगो। जिनका चित्त चिन्ता म मलिन है उनक विशुद्धता का अश कहा से उदय होगा। बहुत कम बोलो व्यर्थ चिन्ता न करो मोह त्यागो यही ध्यान करने का मूल उपाय है।

शास्त्र प्रवचनमात्र जनरञ्जना

केवल मनुष्यो का अनुरञ्जन करना तात्त्विक माग नही। तात्त्विक माग तो वह है जिसमे आत्मा को शान्ति मिले। वाह वाह मे ससार लुट रहा है। आप स्वय निज स्वरूप से च्युत है। जनता के अनुकूल प्रवचन होना कठिन है। जनता गल्पवाद की रसिक है। गल्पवाद से स्व पर मनोरजन की चेष्टा अकार्य कारिणी है। वचनो की कुशलता से जगत को मुग्ध करना वचना है। प्रशसा उस वक्ता की है जो उस पर अमल करता है। परके उपदेश से कोई लाभ नही और न परको उपदेश देने से आत्म लाभ होता है। श्रोताओ को मनमाना सुना देना अपनी प्रभुता जमाना पाण्डित्य प्रदर्शन करना तथा हम ही सब कुछ

हैं इत्यादि मनो विकारों के होते आत्म कल्याण की लिप्सा अन्धे मनुष्य के हाथ मे दर्पण सदृश है । जो यह चाहता है कि मेरे उपदेशो का प्रभाव लोगो पर पड तब उसे सबसे पहिले उस काम को स्वय करना चाहिये । अन्य को उप देश देकर सुधारने की अपेक्षा अपने को सुधारना अच्छा । प्रवचन का लाभ तो यह है कि यथा शक्ति उपयोग को निर्मल बनाया जाय । उपयोग की निर्मलता कषाय के मन्दभाव मे है । धर्म के मर्म का जानना ही कल्याण पथ का पथिक होना है । परन्तु हम धर्म के जानने का तो प्रयत्न नही करते केवल लौकिक मनुष्यो को समझाने का प्रयत्न करते हैं जो सवथा अनुचित है । जब अपने मे ही धम का विकास नही तब अन्य मे क्या करोगे। स्वय पालन किये बिना दूसरे को उसका उपदेश देना वेश्या के द्वारा दिये गये ब्रह्मचर्य के उपदेश सदृश है ।

आज कल मनुष्यो का यह भाव हो गया है कि अन्य सिद्धान्त वाले हमारा सिद्धान्त स्वीकार कर लेवें । इसके लिये जो मार्ग है उस पर न चलना पड यह विपरीत भाव हमारे साधन का बाधक हैं । अज्ञान निवृत्ति मात्र से आत्मा शान्ति का पात्र नही होता । ज्ञान से मोक्ष पथ का ज्ञान हो जाने पर भी उसकी प्राप्ति चारित्र मे ही होती है । यदि आगम ज्ञान संयमभाव से रिक्त हैं तो उससे कोई लाभ नही । ज्ञान का साधन प्राय बहुत स्थानो पर मिल जायेगा परन्तु सम्यग्चारित्र का साधन प्राय दुर्लभ हैं । उसका सम्बन्ध आत्मीय रागादि निवृत्ति से है वह जब तक न हो यह बाह्य आचरण दम्भ (शठा) है । आत्मा के स्वरूप मे जा चर्या होती हैं उसी का नाम चारित्र है । वही वस्तु का स्वभाव का स्वभावपने से धर्म है । उपयोग की निर्मलता ही चारित्र है । वही ज्ञान प्रशंसनीय है जो चारित्र से युक्त है । चारित्र ही साक्षात मोक्ष मार्ग है । शान्ति का स्वाद तभी आ सकता है जब श्रद्धा के साथ चारित्र गुण की उद्भूति हो । चारित्र के विकास मे आगम ज्ञान साधु समागम और विद्वानों का सम्पर्क आदि किसी की आवश्यता नही वह तो ज्ञानी जीव की सहजिक प्रकृति है ।

चारित्र बिना मुक्ति नही मुक्ति बिना सुख नही । जिनकी प्रवृत्ति चरणानुयोग द्वारा निर्मल हो गई है वे ही स्वपर कल्याण कर सकते हैं । कषायो को कृश करने का निमित्त चरणानुयोग द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ आचरण का पालन करना है ।

५४ देव मूढता

वरोय लिप्सा शावान् रागद्वेष मली मसा ।
देवता यदुपासीत देवता मूढ मुच्यते ।।

अर्थात् इष्ट (प्रिय) पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा से इच्छावान् होता हुआ जो पुरुष राग और द्व ष रूपी मल से मले देवताओ की पूजा करता है वह देव देवता का आराधक मूढ मिथ्या दृष्टि कहलाता है। गर्ज कहने की यह है कि जो इन्द्रिय विषयो के अभिलाषी है वे वास्तव मे मिथ्या दृष्टि हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि ही ऐसा मानते हैं कि अमुक दव की भक्ति करने से वह प्रसन्न हाकर हम अमुक २ वस्तुओ को दे देगा और हमारा काम बन जायेगा इत्यादि। पराधीन दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है। पर तु जो स्वाधीन दृष्टि है यथाथ दृष्टि है वह यह कभी नही मानता है कि इन्द्रिय विषया से मे । क याण होगा। वह तो यही मानता है कि मै जितना इन्द्रिय विषयो का त्याग करू गा उतना ही मरा कल्याण हागा क्योकि वह इन्द्रिय विषयो के त्याग स ही आत्म कल्याण को स्वीकार करता है ग्रहण स नही। ग्रहण मे तो अकल्याण हा होता है। जिनके ग्रहण से अकल्याण होता है उनकी चाह सम्यग्दृष्टि कसे कर सकता ह और जब वह उनकी चाह ही नही करता ह तब वह उन रागी द्व षी कामी क्राधी आदि दुगु णी देवताओ की उपासना क्यो करेगा अर्थात् नही करेगा। दूसरी बात यह भी है कि जो सम्यग्दृष्टि हाता ह वह यह कभी नही मानता ह कि कोई देव मुझे मेरे इष्ट पदाथ को दे देगा क्योकि देना लेना किसी भी देव के आधीन नही है वह तो अपने अपने पुण्य कम के उदयाधीन है। कोई देव किसी क पुण्य कम को न ता बना सकता ह न बढा सकता ह और न घटा सकता ह। बनाना बढाना और घटाना यह सब कम कर्त्ता जीव क परिणामो पर ही अव लम्बित हैं किसी देवता आदि के आधीन नही। यह विचार सम्यग्दृष्टि के अपरिहार्य है।

यहां देव मूढता के प्रसग मे यह उल्लेख करना भी अनुचित न होगा कि जिन शासन भक्त देव भी वस्तुत आराध्य पूज्य एव स्तुत्य तथा व दनीय नही है क्योकि वे भी राग द्व ष काम क्रोध मान माया लोभ आदि विकारी भावो से विकृत हा रहे हैं। हा कोई कोई जिन शासन भक्त देव सम्यग्दृष्टि

भी हो सकते हैं। अस्तु अगर थोडे समय के लिये हम यह भी मान ले कि सम्यग्हष्टि है तो भी क्या वे हमारी भक्ति से प्रसन्न होकर हमे हमारे इष्ट (प्रिय) पदार्थों को दे सकते हैं। क्या ऐसा एकान्त रूप से कहा जा सकता है? नही कभी नहीं। यदि हमारे साता आदि पुण्य प्रकृतियो की सत्ता नही है उनका उदय नही है तो उन जिन शासन भक्त देवो को हमारी भक्ति करने पर भी हमे इष्ट वस्तुओ के देने की इच्छा नही हो सकती। ऐसी स्थिति म उनकी भक्ति की कोई कीमत नही रह जाती है। किन्तु हमारी पुण्य प्रकृतिया के उदय निमित्त हैं यह बात विशेषरूप से सिद्ध होती है। साथ ही साथ यह भी कह दना अति उपयुक्त होगा कि वे जिन शासन भक्त देव या देविया यदि व्यवहार से सम्यग्हष्टि भी हो तो भी उनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने के कारण श्रावकव्रत देश संयम भी नही हो सकता है। वे अपनी पूरी पर्याय असयम अवस्था से ही व्यतीत करते हैं। उन्हे एक क्षण के लिये भी सयमरत्न हजार प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नही हो सकता है। तब देश व्रतीया नियमरूप से यथाशक्ति व्रत को पालन करने वाला व्रती जीवात्मा श्रावक कमे उन्हे पूजेगा कसे उन्हे अर्घ्य आदि चाढायेगा अर्थात् नही कभी नही। श्रावक का दर्जा उनसे बहुत ऊँचा है। शास्त्रो मे तो यह भी देखा और सुना गया है कि अमुक निर्मल ब्रह्मचारी अपने अखण्ड प्रचण्ड ब्रह्मचय क प्रभाव से देवो द्वारा पूजित हुआ इत्यादि। तो जहा देवो द्वारा श्रावको की पूजा वन्दना स्तुति और प्रशसा आदि का किया जाना शास्त्रो से प्रमाणित हाता है वहा श्रावक या श्राविकाये उनकी तुच्छ फल की प्राप्ति को लक्ष्य मे रख कर पूजा व दना नमस्कार स्तुति प्रशसा आदि के साथ उन्हे इष्ट फल का दाता मानकर अपने से ऊचा समझकर उनकी भक्ति मे लीन हा यह कसे याग्य कहा जा सकता है। पाठक स्वय विचार कर और विचारने पर जो उपयुक्त समझ सो करें।

दूसरी बात यह भी शास्त्रो मे पढने को मिलती है कि जब कभी किसी श्रावक के ऊपर कोई विपत्ति सकट या कष्ट आया तब उन्होने अपने आराध्य उपास्य स्तुत्य वद्य पूज्य अरहत आदि पञ्च परमेष्टियो या तीर्थंकरा मे से किन्ही को स्मरण किया उनका स्तवन किया तो तत्काल ही उनके भक्त देवो ने आकर उनकी सहायता की। इसमे मुख्य बात तो उनके भावो की निर्मलता से पाप का पुण्य रूप परिणत हो जाना या पाप प्रकृतियो का निर्जीर्ण हो जाना ही है। गौण-रूप निमित्त रूप से देवो का आना है।

सो भी देवो के मन मे तभी ऐसा विचार होता है कि अमुक धर्मात्मा के ऊपर अमुक के द्वारा उपद्रव किया जा रहा है। अत वहा पहुँचकर यथाशीघ्र

हो उसके उपसर्ग का निवारण करना आदि आदि जबकि उसके पुण्य का उदय होता है अन्यथा नही । यह बात सर्वविदित है कि जब सीताजी की अग्नि परीक्षा होने वाली थी उस समय अपरमित दर्शक उस महासती के अलौकिक सतीत्व के दर्शन के हेतु चारो ओर से उमड पडे थे । आकाश मे देवो का समुदाय भी दर्शन के रूप मे उपस्थित था । उधर इन्द्र ने विदेह क्षत्र स्थित तीर्थकर केवली के केवल ज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाकर यहा पर भरत क्षेत्र मे भी केवली के ज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाने के लिए जाते समय अपने अपने अनुचर देवा से कहा कि तुम लोग इसी समय वहाँ जाओ जहा महा पतिव्रता शिरोमणि महासती सीता देवी की अग्निपरीक्षा होने जा रही है । वहा पहुचकर तुम लोग उनकी उक्त परीक्षा में पूर्ण सहायता करो । वे महासती आज ससार मे शील शिरामणियो मे श्रष्ठतम है उनकी धर्मनिष्ठा लोकत्तर है । उनकी हार्दिक भक्ति और सेवा करके अपूव पुण्य का सञ्चय करो इत्यादि । इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य करके देव तत्काल ही महासती सीता देवी के चरणो मे उपस्थित हुए और उनकी उस अभूतपूव अग्नि परीक्षा मे अदृष्ट एव अश्रुत पूव सहायता प्रदान कर महान पुण्य का सञ्चय किया । यह है शील व्रत के प्रभाव से प्रभावित हुए देवो द्वारा एक नारी जगत की शिरोमणि शीलवती महिला की चरण कमल की पूजा इत्यादि । अनेक उदाहरणो से इसका स्पष्ट किया जा सकता है कि जिन शासन भक्त देवो द्वारा व्रतनिष्ठ श्रावक एव श्राविकाओ की ही पूजा की गई है श्रावक एव श्राविकाओ द्वारा उन देवो की नही । जो लोग धरणेन्द्र की पूजा या क्षत्रपालादिको का पूजा या अन्य किसी जिन शासन भक्त दव या दवियो की पूजा करना उनकी भक्ति करना आदि पर जोर दते है वह उन श्रावकोचित गुणा से युक्त श्रावको को शोभा नही दता । साथ ही उनके उक्त प्रकार के पूजाविधान को दखकर और उनक उपदश को सुनकर अन्य लोगा मे भी उसकी प्रवृत्ति चल पडती है जिससे मिथ्यात्व का पोषण होता है जो अनन्त ससार का कारण है । ऐसा समझकर एकमात्र वीतरागी सवज्ञ हितोपदशी परमदव श्री अरहत प्रभू एव परम वीतराग निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि और अनादि अज्ञानान्धकार विनाशक भगवज्जिनवाणी रूप रत्नत्रय को छोडकर अन्य किसी भी रागी द्वेषी मोही कामी आदि दवो की उपासना या पूजा आदि नही करना चाहिए क्योकि उनसे हमारा लक्ष्यभूत मोक्ष पुरुषार्थ किसी भी प्रकार से सिद्ध नही हो सकता है । वे तो हमारे ही जसे विकारी बन रहे हैं । उनसे अपने को निर्विकार बनने की आशा करना धूलि को पेलकर तेल निकालने जैसा व्यर्थ है । यदि कोई यह आशका करे कि भाई उक्त जिन शासन भक्त देव या देवियो की पूजा से मुक्ति न मिले तो न सही पर ससार सम्बन्धी सुख साता की सामग्री तो मिलेगी ही इसमे तो कोई सन्देह

भी नही । तो इसके उत्तर मे सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाई आप कितनी ही उनकी पूजा करिये भक्ति करिये उपासना करिये आराधना करिये लेकिन यदि आपके पल्ले मे पुण्य नही है तो वे भी कुछ करने धरने वाले नही वे तो हमारे पुण्य कर्मों के उदयानुसार ही कार्य कर सकते हैं अन्यथा नही । साथ ही जब हम सच्चे वीतरागी की उपासना मे त्रियोग से (मन वचन काय से) सलग्न होते हैं उस समय मे हमारे परिणामो मे जो विशुद्धि होती है उससे हमे विशेष पुण्य बन्ध तो होता ही हैं साथ ही पर्व संचित पाप प्रकृतियो मे भी सक्रमण होकर हमे तत्काल ही सफलता की प्राप्ति हो जाती है । यहा तक कि वही देव किकर की तरह जिनेन्द्र भक्त की सेवा मे तत्पर नजर आते है जिनकी सेवा मे यह अपने सर्वस्व को लगाने क चेष्टा करता है । यह है प म वीतरागी जिनेन्द्र देव जिन वाणी और जिन गुरुओ की सेवा का सच्चा सुफल जिसका कोई भी सच्चा जिनेन्द्र भक्त निषेध नही कर सकता । हमे जिन शासन भक्त देवो से कोई द्वेष नही है जो हम यो ही उनकी पूजा का निषध करने की धृष्टता करने लगे । हमे तो यहा वीतरागी की उपासना पूजा का सुफल बताना ही इष्ट है जो हमारे सम्यक्त्व मे साधक है और मोक्ष मे भी परम्परा सहायक है जबकि अन्य रागी मोही देवो की उपासना या पूजा हमारे लिये ससार का ही कारण है । ऐसा विचार कर हमे जिसमे अधिक लाभ हो वही करना चाहिये । यहा लाभ से तात्पय आत्मिक लाभ से है जड लाभ से नही ।

५५ गुरू मूढता

गुरू मूढता से तात्पर्य यह कि जो वस्तुत गुरु नही है गुरुता के लक्षण आचार विचार व्यवहार आदि से सवथा विपरीत है उसे गुरु मानना गुरू जसी उसकी भक्ति करना सेवा करना स्तुति करना पूजा करना उपासना करना आदि सब ससार समुद्र मे ही डब ने वाली क्रियायें हैं। जो स्वय ही उन्माग पर चल रहा है वह दूसरो को अपने भक्तो को कसे सन्मार्ग गामी बना सकता है। उसे सन्माग का भान नही ज्ञान नही श्रद्धान नही बल्कि सच्चे माग की बातो को सुनना भी जिसे इष्ट नही रुचिकर नही हितकर नही वह कसे गुरु हो सकता है। ऐसे अगुरू का गुरू समझ कर पूजना आदर करना प्रशसा करना आदि सब गुरू मूढता है। इसी का दूसरा नाम पाखण्डी मूढता भी है। ऐसा ही आचार्य समन्त भद्र स्वामी ने कहा है —

धवसिद्धि तित्थियरो चउणाण धरोवि करेइ तव परणा।
इति णाउण धुव कुञ्जा तब परणणाण जुत्तोवि॥

तात्पर्याथ यह है कि जो तीथङ्कर होते है उन्हे सिद्ध पद की प्राप्ति सुनिश्चित है। वे जन्मत मति श्रुत और अवधिरूप तीन ज्ञान के धारी होते है और जब वे दीक्षित होते हैं तब अन्तमु हूत मे ही उन्हे मन पयय ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। इस तरह से वे चार ज्ञान के धारक बन जाते है। लेकिन फिर भी उन्हे तपश्चरण करना ही पडता है। बिना तपस्या किये उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती और केवलज्ञान प्राप्त किये बिना उन्हे सिद्ध पद भी नही मिल सकता है। अत उन्हे भी बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के तप तपना ही पडते हैं। अगर वे यह सोच ले कि हम तो तीर्थंकर बनना ही है अर्थात् अनन्त चतुष्टय धारक होकर मोक्ष माग की प्रवृत्ति चलाना ही है फिर हमे तपस्या आदि की क्या आवश्यकता है यह तो सब अपने आप ही अपने उपादान मे हो ही जायेगा फिर नग्न दिगम्बर मुनि मुद्रा धारण करने की क्या जरूरत है तदनुरूप व्रताचरण तपश्चरण क्रिया काण्ड वगरह क्या किया जाय इत्यादि तो यह विचार तीर्थंकर नही बनने दगे। अत तीर्थंकर बनने के लिये तो सब तरह के बाह्य और आभ्यन्तर साधन साधना ही पडगा तभी तीर्थंकर पद प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नही।

यह सोचकर ज्ञानी पुरुषो को चाहिये कि वे भी ध्यान और तपश्चरण मे सलग्न हो। बिना ध्यान और तपश्चरण के अशुद्ध आत्मा शुद्ध नही हो सकता। आत्मा की अनादि अशुचिता बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के कारणो के एकत्रित होने पर ही दूर हो सकती है अन्य प्रकार से नही। लोक यवहार मे भी यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि मले कुचले वस्त्र को स्वच्छ करने के लिये मैल नाशक वस्तु का निमित्त मिलाना ही पडता है और वह निमित्त भी तभी कहलाता है जब उसके उपयोग मे लेने पर वस्त्र की अपनी निजी छिपी हुई स्वच्छता (निर्मलता) प्रगट हो जाती है।

छीजे सदा तन को जतन यह, एक सयम पालिये।
बहुरुल्यो नरक निगोद माही, बिषय कषायनि टालिये॥
शुभ करम जोग सुधार आया पार हो दिन जात है।
द्यानत धरम की नाव बठो, शिवपुरी कुशलात है॥

भो भव्य जीवो सद्गुरु नाविक पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि यदि इस जन्म मरणरूप भव समुद्र से पार होना चाहते हो तो शीघ्र ही धर्म नौका मे सवार हो क्योकि आयुरूपी सूर्य अस्त होने वाला है। यदि पीछे रह गया तो भव बन मे भटकता हुआ दुखो को ही प्राप्त होगा।

५६ सम्यग्दर्शन के आठ, मद एवं शकादि दोष

ज्ञान पूजा कुल जाति बलमृद्धि तपो बपु ।
अष्टा चाश्रित्य मानित्व स्मय मादुगत स्मयां ॥

१ ज्ञानमद

इस प्रकार उक्त आठ पदार्थों का आश्रय पाकर मद प्रादुर्भूत होता है। इन मदों को अज्ञानी जन ही धारण करते हैं ज्ञानी नही। ज्ञानी विचार करते है कि मैं किसका मद करू । मेरी निज वस्तु अर्थात् निजात्म का स्वभाव जो ज्ञान व दर्शन है वह अभी मुझे पूर्णरूप प्राप्त हुआ ही नही तो जब मेरी ही वस्तु मुझे पूरी प्राप्त नही तो मैं इन पर वस्तुओ को पाकर कसा मद करू । मेरा तो केवल एक ध्येय केवलज्ञान है। उस ज्ञान को ज्ञानावरणी कम ने आच्छादित कर दिया है और अब किंचित ज्ञानवरणी कम के क्षयोपशम मे किंचित ज्ञान प्राप्त हुआ तो मै किस बात के लिये मद करू । कभी मैने तिर्यंच गति मे जाकर जन्म लिया तब अज्ञान मे मग्न होकर आत्महित का विचार नही किया और कभी स्थावर मे जा उपजा तो अक्षर के अनन्तव भाग ज्ञान पाया। जब कुछ सुध-बुध ही नही तो आत्महित के विचार का क्या कहना। अब कुछ जडय साल्यवत (वस्तु) का स्वरूप कुछ तो समझ मे आव और कुछ न आव ऐसा सक्षेप ज्ञान पाकर मद करूगा तो पुन नरक निगोद मे भटक भटक कर अनन्तकाल पर्यन्त दु ख पाऊँगा। ऐसा विचार कर ज्ञानी ज्ञान का मद नही करते है। ये मद विष्णु आदि अन्य देवो मे पाये जाते है परन्तु ये दोष लोकालोक प्रकाशक सकल परमात्मा अहन्त के नही होते है। अत उन्हे मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

२ प्रतिष्ठा मद

इसे भी ज्ञानी जन नही करते हैं। ज्ञानी जन विचार करते है कि मेरी आत्मा शुद्धस्वरूपतीन जगत द्वारा पूज्य है और यह ही मेरा आत्मा विभावरूप मे परिणत होता हुआ अनेक बार स्थावर योनि मे अनेक पर्याय धारण कर पमा मे बिका हू। अत मै मद कसे करू । मेरा आत्मा तीन लोक का स्वामी है। अत जो अब मैं नामकम की प्रकृति के क्षयोपशम से इन मनुष्यो द्वारा आदर भाव को प्राप्त हो गया हू सो यह तो मेरा जब तक पुण्य प्रकृति का

है तब तक मेरा आदर सत्कार होता है। पुण्य क्षीण होते ही मेरे पास कोई नही आयगा और अब भी मैं मद करूँगा तो नरक निगोद में सड़कर बहुत दुख भोगना पड़गा। ऐसा विचार कर ज्ञानी ऐश्वर्य मद (प्रतिष्ठा मद) नही करता है।

३ कुलमद

ज्ञानी लोग अपने कुल का मद नही करते हैं। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि यह जो कुल है सो मेरा नही हैं। सब स्वार्थ के साथी हैं। मेरा तो निश्चित कुल चार अनन्त चतुष्टय ही है। वह तो मुझे प्राप्त नही हुआ है और जो कोई अब शुभ कर्म के उदय से उत्तम कुल पाया है जब तक मेरा शुभ कम उदय है तब तक ही यह है। तब मैं इस नाश्वान कुल का क्या मद करू। यदि मैं मद करू गा तो फिर नरक गति मे पडकर अनेक दु ख भोगना पडगा ऐसा समझ करके ज्ञानीजन कुल का मद नही करते हैं।

४ जातिमद

उमे ज्ञानी कभी नही करते हैं। कारण कि ज्ञानी विचार करते हैं कि मेरी जाति तो सिद्ध जाति है और ये जो उच्च जाति को अब मैं प्राप्त हो गया हू तो जब तक मरा शुभ कर्म का उदय है तब तक उच्च जाति म हू। अब जो मै इस जाति का मद करू गा तो फिर एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय इन नीच जातियो मे भटक २ कर दु ख भोगना पडगा। ऐसा विचार करक ज्ञानी कभी भी जाति मद नही करते है।

५ बलमद

ज्ञानी बलमद भी नही करते हैं। ज्ञानी विचार करता है कि यह बल मेरे अन्तराय कम के क्षयोपशम से प्राप्त हुआ है। सो अब यह जब तक मेरा पूव पुण्य है तब तक मेरे साथ रहेगा। जब तक चैतन्य आत्मा शरीर के अन्दर रहता है तब तक बल भी शरीर के अन्दर ठहरता है पीछे वह बल भी नष्ट हो जाता है। अब यह बल पाना तो मेरा तब सफलता को प्राप्त हो जब छ काय के जीवो की दया करू तब ही इस शरीर बल की सफलता है। इस विनाशिक बल का मद मैं कैसे करू। कारण कि यह बल तो रोग के आते ही घट जाता है। इसलिये मैं इस प्रकार शरीर बल की प्राप्ति के बारे मे कसे मद करू। दूसरे यह बल तो घी दूध फल भक्षण करने से ही प्राप्त होता है और घी दूध आदि पुष्ट कारक पदार्थों का भक्षण न करू तो शरीर का पराक्रम आदि सब नष्ट हो जाता है इसलिये विनाशीक बल का मद करना व्यर्थ है।

मरा बल तो अनन्त बल है। जब तक वह प्राप्त नही है तब तक मद कसा करू । ऐसा समझकर ज्ञानी बल का मद नही करते हैं।

६ ऋद्धिमद

अर्थात् ऐश्वयमद । उसका ज्ञानी लोग मद नही करते है। ज्ञानी लोग ऐसा विचार करते हैं कि यह ऐश्वय तो क्षण भगुर एव बिनाशिक है। यह तभी तक रहता है जब तक मरे शुभ कम का उदय है। पीछे अशुभ कम क उदय होने पर यह रुक कर देता है तथा अनेक प्रकार के दु ख उठाने पडते हैं। ऐसा जानकर ज्ञानीलोग ऐश्वर्य का मद नही करते हैं।

७ तपमद

ज्ञानी लोग अपने तप का भी मद नही करते है। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि मैं तप कहा करता हू। सम्यक्त्व तप तो मुझको अभी तक प्राप्त नही हुआ। जो प्राप्त हो जाता तो अब तक ससार मे ज म मरण को क्यो प्राप्त होता। इतना दु ख क्यो सहता। मरा तप करना तो तभी सफल हा सकता है जबकि मै दशनावरणीय आदि घातिया कर्मों का क्षय करके निज चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अन त सुख अनन्त वीर्य का प्राप्त हो जाऊँ। तब ही मरा तप करना सफल है और इस क्षुद्र तप का जो मद करूगा तो पुन ससार मे अनन्त काल तक नाना प्रकार के दु खा को मुझे भोगना पडगा। ऐसा विचार क के ज्ञानी जीव तप का मद नही करते है।

८ शरीरमद

शरीर के प्रति भी ज्ञानी लोग मद नही करते हैं। अज्ञानी अर्थात् बहिरात्मा जीव ही अपने शरीर का मद करते है। ज्ञानी इसके बारे मे ऐसा विचार करता है कि यह शरीर अस्थिर विनाशी सप्त धातु अर्थात् मास रस अस्थि रक्त म जा मद वीय और सात ही उपधातु अर्थात् बात पित्त कफ शिरा स्नायु चाम और जठराग्नि ऐसे सात से भरा हुए घरके समान हैं तब ऐसे शरीर का मैं कमे मद करू । यह जल के बुलबुले के समान चंचल और विनाशी है। ज्ञानीजन एसा विचार करते है कि यह शरीर महादुर्गन्धि मय घृणारूप है। जो प्रात काल के समय सुन्दर दिखता है और शाम को इस शरीर के अन्दर रोग प्रगट हो जाता है ऐसा रोगमयी शरीर के प्रति कैसा मद करू । शरीर कृतघ्नी सदृश है। जसे कृतघ्नी का पोषण करते-करते भी समय पर वह काम नही आता है इसी तरह से यह देह भी कृतघ्नी के समान घी दूध आदि उसम

उत्तम रस आदि ग्रहण करते रहने से भी दुर्बल हो जाता है और यह देह बहुत मूल्यवान सुगन्धवन्त पदार्थ के लगाते रहने से भी दुर्गन्ध रूप हो जाता है। अत ऐसे अवगुण से भरी देह का ज्ञानी लोग कभी भी मद नही करते हैं ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि मनुष्य देह मुझे बहुत दुलभता से प्राप्त हुई है सो यह मनुष्य जन्म और देह का पाना तब ही साथक होता है जब इससे मै तप करूगा और निज स्थान को पाऊंगा तब ही यह साथक है अन्यथा मैंने चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ यह शरीर अनेक बार पाया और जसे काग उड़ाने मे र न को फेंक देते हैं उसी प्रकार मैं अनादि काल मे इस शरीर रत्न को फेकता आ रहा हू। और मैंने विषय भोगो मे रत होकर दुलभ मनुष्य पर्याय को खोया परन्तु मैंने निज स्थान मोक्षपद को नही पाया। इसलिए अब भी मैं उपाय करके ससार से छूटने का यत्न नही करूगा तो बारम्बार मुझे ससार मे भटक भटककर अनेक प्रकार की नीच योनिया मे जाना पड़ेगा और अनेक प्रकार के दुख भोगने पडेंगे। ऐसा विचारकर ज्ञानी जीव रचमात्र भी मद नही करते हैं। ऐसा जो मद नाम दोष है वह अर्हन्त भगवान मे नही पाया जाता है। ऐसे अर्हन्त भगवान के चरण की भक्ति मेरे चित्त मे हमेशा बसी रहे।

— आठ शकादि दोष —

१ भगवान के वचनो मे शका करना शका दोष है।
२ धम करके सासारिक सुखो की इच्छा करना वाछा दोष है।
३ मुनि तपस्वियो का शरीर देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा दोष ह।
४ तत्त्व पदार्थों का विपरीत श्रद्धान करना मूढ़दृष्टि दोष ह।
५ दूसरे के दोषो को प्रगट करना परदोष भाषण दोष है।
६ धम से गिरते हुओ को और गिराना अस्थिति दोष ह।
७ सहधर्मियो के साथ झूठा बर्ताव करना वात्सल्य दोष है।
८ धम बढ़वारी नही होने देना अप्रभावना दोष ह।

५७ सम्यग्दर्शन के आठ अग

१ निशाकित

जो आत्मा कर्म बन्ध के कारण मोह के उत्पादक—मिथ्यात्व अविरति कषाय और योगरूप चारो को छेदता है वह नि शकगुण का धारक सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है ।

सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीण एक ज्ञायक भाव से तन्मय होने के कारण कमबन्ध की शंका करने वाले मिथ्या व आदि भावो का अभाव हो जाने से नि शक हैं । इसी स बन्ध नही हाता है प्रत्युत्त निजरा ही होती है । सम्यग्दृष्टि जीव के कम का उदय आता है परन्तु उसके आने पर यह उसका स्वामी नही बनता अत वह कर्म अपना रस देकर झड जाता है आसक्ति के अभाव से बन्ध का प्रयोजन नही होता है ।

२ नि काक्षित गुण

जो आत्मा कर्मों के फलो मे तथा समस्त धर्मों मे कांक्षा नही करता है वह नि काडक्ष गुण का धारक सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है । जो पञ्च िद्रयो के विषय सुख स्वरूप कर्म फलो तथा समस्त वस्तु धर्मों मे अभिलाषा को नही करता है ऐसा वह सम्यग्दृष्टि जीव ही नि कांक्षित अङ्ग का धारी होता है । जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव स्वभाव वाला है इसी स्वभाव के बल से उस सम्यग्दृष्टि जीव के सम्पूर्ण कमफलो मे और सम्पूर्ण वस्तुधर्मों म आकांक्षा का अभाव है । अतएव आकांक्षाकृत बन्ध उसके नही हैं प्रत्युत निर्जरा ही होती है । साता कर्म के उदय मे रति के सम्बन्ध से हर्ष होता है इसी मे यह प्राणी साता के उदय मे सुपुत्र कलत्रादि अनुकूल सामग्री के उदय म रतिकर्म के सम्ब ध से अपने को सुखी मानता है और निरन्तर इस भावना को भाता है कि यह सम्बन्ध इसी रूप से सदैव बना रहे विघट न जाये । और जब असाता का उदय आता है तब उसके साथ ही अरति का उदय रहने से विषाद मानता है अर्थात् असाता के उदय मे अनिष्ट पुत्र कलत्रादिक प्रतिकूल सामग्री के सद्भाव मे अरति कर्म के उदय से अपने को दुखी मानता है और निरन्तर यही भावना रखता है कि कब इन अनिष्ट पदार्थों का सम्बन्ध मिट जावे । परन्तु जिस जीव के सम्यग्दर्शन प्राप्त हो

जाता है वह इनके उदय मे हर्ष विषाद नही करता इन्हें कर्मकृत जान इनकी अभिलाषा नही करता इसी से उसके वाञ्छाकृत बन्ध भी नही होता ।

३ निर्विचिकित्सा अंग

जो आत्मा सम्पूर्ण वस्तु धर्मों मे ग्लानि नही करता है वह निश्चय कर विचिकित्सा ग्लानि दोष से रहित सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है । जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव के टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव से तन्मयपन है उसी से उसके सम्पूर्ण वस्तु धर्मों मे जुगुप्सा (ग्लानि) का अभाव होने से निर्जुगुप्सा अङ्ग है । इसीलिये इस जीव के ग्लानि से किया बन्ध नही होता किन्तु निर्जरा ही होती है । जब जुगुप्सा का उदय आता है तब मिथ्यादृष्टि जीव अपवित्र पदार्थों को देखकर ग्लानि करता है और सम्यग्ज्ञानी जीव वस्तु स्वरूप का वेत्ता होने के कारण समदर्शी होता हुआ ग्लानि से रहित रहता है ।

४ अमूढ़ दृष्टि अंग

जो जीव सम्पूर्ण पदार्थों मे असमूढ रहता है अर्थात् मूढता नही करता है किन्तु सदृष्टि रहता है अर्थात् समीचीन दृष्टि उन पदार्थों को जानता है वह निश्चय से अमूढ दृष्टि अङ्ग का धारक सम्यग्दृष्टि होता है । जिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक भाव से तन्मय होने के कारण निखिल पदार्थों मे मोहाभाव होने से अमूढदृष्टि रहता अर्थात् यथार्थ दृष्टि का धारक होता है इस कारण इसके मूढदृष्टि के द्वारा किया हुआ बन्ध नही है किन्तु निर्जरा ही है । सम्यग्ज्ञानी जीव सम्पूर्ण पदार्थों को यथार्थ जानता है । अत उसके विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता है । विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाने से मिथ्यात्व के साथ होने वाला रागद्वेष नही होता है । इसीलिये उसके अनन्त ससार का बन्ध नही होता । चारित्र मोह के उदय से बिना अभिप्राय के जो रागद्वेष होता है व ससार की अल्पस्थिति लिये होता है तथा उत्तम गति का कारण होता है । यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव के तिर्यंच और नरक आयु का बन्ध नही होता है ।

५ उपगूहन अंग

जो सिद्ध भक्ति से युक्त है और सम्पूर्ण धर्मों का गोपन करने वाला है वह जीव उपगूहन अङ्ग का धारी सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है ।

सम्यग्दृष्टि जीव के टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव का सद्भाव है । इसी से उसके सम्पूर्ण आत्म शक्तियो का विकास हो गया है । यही कारण है कि इस सम्यग्दृष्टि जीव के शक्ति की दुर्बलता प्रयुक्त बन्ध नहीं होता है किन्तु

निर्ज ा ही होती है । यहा पर सिद्धभगवान मे जब सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को लगाता है तब अन्य पदार्थों मे उपयोग के न जाने स स्वयमेव उसका उप योग निमल हो जाता है । इससे उसके विकास की वृद्धि होती है और इसी स इस गुण को उपवृ हण कहते हैं तथा ‐पगूहन नाम छिपाने का है सो जब अपना उपयोग सिद्ध भगवान के गुणो मे अनुरागी होता है तब अ‐यत्र से उस‐ा उपगूहण स्वयमेव हो जाता है इसी से उसमे निर्मलता आती है और उस निमलता क कारण ही शक्ति की दुबलता से होने वाला ब‐ध नही होता है ।

६ स्थितिकरण अङ्ग

जो जीव उ‐मार्ग मे चलते हुए अपने आत्मा को भी मार्ग मे थापित करता है वह ज्ञानी स्थितिकरण अङ्ग से सहित सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव से त‐मय होने के कारण मार्ग से च्युत हुए अपने आपको मार्ग मे ही स्थिर करता है । इसलिए वह स्थितिकरण अङ्ग का धारक होता ह और इसी से इसके माग‐यबनकृत ब ध नही होता है अर्थात् न च्युत होता है और न बन्ध होता है किन्तु निजरा ही होती है ।

यदि अपना आ‐मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक मोक्ष माग से यृत ‐ा जावे तो उसे फिर उसी मे स्थित करना इसी का नाम स्थितिकरण अग है । सम्यग्दृष्टि जीव इस अग का धारक होता ह इसी से इसके मार्ग स छुटने रूप ब‐ध नही होता किन्तु उदयागत कर्मों के स्वयमेव झड जाने से निज ा ही होती है ।

७ वात्सल्य अङ्ग

जो निश्चय से मोक्ष के माग के साधक सम्यग्दशन ज्ञान चारित्र मे वात्सल्य भाव करता है अथवा व्यवहार से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के आधार भूत आचार्य उपाध्याय और साधू महात्मा मे वात्सल्य भाव को करता है वह वात्सल्य अग का धारी सम्यग्दृष्टि जानने के योग्य है क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव से त‐मय रहता है इसलिए वह सम्यग्दशन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र को अपने आपसे अभिन्न देखता है । इसी से मार्ग वात्स‐य कहलाता है और इसी से इसके मार्ग के अनुपलम्भ प्रयुक्त ब‐ध नही होता है किन्तु निजरा ही होती है । वात्सल्य नाम प्रेमभाव का है सो जिनके मोक्षमार्ग का मुख्य साधनीभूत सम्यग्दर्शन हो गया उसके मार्ग मे स्वभाव से प्रम है । अत मार्ग के अभाव मे जो बन्ध होता है वह इसके नही होता ।

८ प्रभावना अंग

जो आत्मा विद्यारूपी रथ पर चढ़कर मनरूपी रथ के मार्ग मे भ्रमण करता है वह जिन भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानने योग्य है। क्योकि सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीण एक ज्ञायक स्वभाव से तन्मय है इसी से ज्ञान की सम्पूर्ण शक्ति के विकास द्वारा ज्ञान की प्रभावना का जनक है अतएव उसे प्रभावना अङ्ग का धारी कहा है और इसी से उसके ज्ञान के अपकष हुआ बन्ध नही होता किन्तु निर्जरा ही होती है। बाह्य मे प्रभावना जिन बिम्ब पच कल्याणक आदि सत्कार्यों से होती है और निश्चय प्रभावना सम्यग्ज्ञान के पूर्ण विकास से आत्मा की जो वास्तविक दशा की प्राप्ति है वही है।

५८ सम्यग्दृष्टि के बंध का अभाव

रुंधन् बन्ध नवमिति निज सगतोऽष्टाभिरङ्गैः –
प्राग्बद्धंतु क्षय मुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमति रसादादि मध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥१६२॥

अर्थ—इस प्रकार जो अपने आठ अङ्गो से सहित होता हुआ नवीन बंध को रोक रहा है और निर्जरा की वृद्धि जो पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय को प्राप्त करा रहा है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं स्वाभाविकरूप से आदि मध्य और अन्त मे रहित ज्ञानरूप होकर आकाश के विस्ताररूप रंग स्थल मे प्रवेश कर नृत्य कर रहा है।

भावार्थ सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्कितत्व आदि आठ अंगो के द्वारा आत्मा मे विशेष निर्मलता को प्राप्त होता है। उस निर्मलता के कारण उसके नवीन बंध रुक जाता है और गुण श्रेणी निर्जरा की प्राप्ति से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता जाता है। इस तरह संवर और निर्जरा के प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय कर वह स्वयं ही उस स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप हो जाता है जो आदि मध्य और अन्त से रहित है। आदि मध्य और अन्त से रहित ज्ञान केवलज्ञान है। यही ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान है। ज्ञानी जीव इसी केवलज्ञान स्वरूप होकर लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से द्विविधरूपता को प्राप्त अनन्त आकाशरूपी रङ्गभूमि मे प्रवेश कर अर्थात् लोकालोकगत ज्ञेयों को अपना विषय बनाकर परमानन्द मे निमग्न रहता है।

यहां सम्यग्दृष्टि जीव के जो नवीन कर्मों के बंध का अभाव बतलाया है वह उपशान्तमोह क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती जीवो की अपेक्षा है। चतुर्थादि गुणस्थानो मे जो बंध होता है वह मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी का अभाव हो जाने से अनन्त संसार का कारण नही इसलिए उसकी विवक्षा नही की गई है। इस संसार मे मूलभ्रमण का कारण मोहनीय कर्म है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इसी मोह के सद्भाव को पाकर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये भी आत्मा के ज्ञान दर्शन और वीर्य को घातते हैं। यद्यपि ज्ञानावरण कर्म के उदय मे आत्मा मे अज्ञान

भाव रहता है तथापि उसमे आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती किन्तु ज्ञाना वरण के क्षयोपशम से आत्मा के ज्ञान गुण का जो विकास हुआ है वह यदि दर्शन मोह के उदय से जन्य मिथ्यात्व का सहकार पा जावे तब एकादशाग का पाठी होकर भी मोक्ष मार्ग से च्युत रहता है। यद्यपि वह तत्वार्थ का निरुपण करता है मन्द कषाय के उदय से प्रबल से प्रबल उपसर्ग करने वालो से द्वेष नही करता है ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका कुछ भी मद नही करता अन्तराय के क्षयोपशम से जो शक्ति का उदय हुआ ह उसका भी कोई अभिमान नही करता साता आदि पुण्य प्रकृतियो के उदय से जो सुभगादि रूप आदि सामग्री का लाभ हुआ है उसमे कोई अहकार नही करता तथा बड-बड राजा आदि गुणो द्वारा आप पर मुग्ध हैं उसका भी कोई मद नही करता तथापि दर्शनमोह का उदय उसक अभिप्राय को ऐसा मलीमस करता रहता ह कि मोक्ष मार्ग मे उसका प्रवेश नही हो पाता। अतएव मोक्षमाग की प्राप्ति के लिए दर्शनमोह के उदय से जन्य अभि प्राय की मलिनता का त्याग करना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

५६ सप्तभय

सम्यग्दृष्टि जीव नि शङ्क होते हैं इसलिए निर्भय हैं और क्योंकि सप्त भय से निमुक्त हैं इसलिए नि शक हैं। जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही समस्त कर्मों के फल का अभिलाषा से रहित होते हुए कर्मों से अत्यन्त निरपेक्ष वतत हैं। इसलिये ही जान पडता है कि ये अत्यन्त नि शक तीव्र निश्चय रूप हाते हुये अत्यन्त निभय रहते हैं।

१ लोकभय

पर से भिन्न आत्मा का जो यह चैतन्य लोक है वह शाश्वत है एक है सब जीवो के प्रगट हैं। यह एक सम्यग्ज्ञानी जीव ही स्वय इस चतन्य लोक का अवलोकन करता है। वह विचारता है कि हे आत्मन् यह एक चतन्यलोक ही तेरा लाक है इससे भिन्न दूसरा कोई लोक तरा नही है तब तुझ उसका भय कस हो सकता है। ऐसा विचारकर ज्ञानी जीव निरन्तर निशकरूप से स्वाभाविक ज्ञान को स्वय ही प्राप्त होता है।

ज्ञानी को इस लोक तथा परलोक दोनो का भय नही होता है यह कहा गया है। इस लोक अर्थात वर्तमान पर्याय म मुझ क ट न भोगना पड एसा भय होना लाक का भय है। सा ज्ञानी जीव ऐसा विचार करता है मैं समस्त कम नो कम आदि से भिन्न पृथकद्र य हू चत य ही मेरा परलोक है मेरा यह चतन्य लोक शाश्वत है--कभी नष्ट होने वाला नही है इसलिये तुझ न इस लोक का भय है और न परलोक का भय है। शरीर अवश्य ही नाश को प्राप्त हाता है पर वह मेरा कब है। मैं चतन्य का पुञ्ज हू और यह शरार जड अर्थात् ज्ञान दशन से शू य पुद्गलद्रव्य है इसके नाश से मेरा कुछ नष्ट हाने वाला नही है। इसलिये ज्ञानी जीव सदा नि शक हाकर स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप को ही प्राप्त हाता है उसी प्रकार अनुभव करता है।

२ परलोक भय

ससार मे ये प्राणी निरन्तर भयभीत रहते हैं। न जाने ये लोक मेरी कैसी दुर्दशा करगे अत निरन्तर इनके अनुकूल रहने की प्रवृत्ति करता है। न जाने यह राजलोक मेरे ऊपर कौन सी आपत्ति ला पटकेगे अत निरन्तर

उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा में मग्न करता है। न जाने परलोक मे कहाँ जाऊंगा। भद्र जन्म हो तो अच्छा इसके अर्थ निरन्तर नाना प्रकार के दानादि कर परलोक मे नि शंक होने की चेष्टा करता है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि मेरा तो चेतना ही लोक है उसी का आत्मा के साथ नित्य तादात्म्य है जो किसी काल और किसी शक्ति के द्वारा पृथक नही किया जा सकता है। अत चाहे मैं यहां रहूं चाहे परलोक मे जाऊं। मेरा गुण मुझसे भिन्न नही हो सकता। अत सम्यग्ज्ञानी जीव को इस लोक और परलोक का भय नही है। तत्वदृष्टि से विचारो तो ज्ञान गुण की जो जानन क्रिया है वह कभी भी उसे छोडकर भिन्न नही हो सकती और परपदार्थ का उसमे प्रवेश नही हो सकता। मात्र ज्ञान की स्वच्छता ही एक ऐसी अनुपम है कि उसमे ज्ञेय प्रतिभासमान होते हैं। अथवा ज्ञेय क्या प्रतिभासमान होते हैं वह तो ज्ञान का ही परिणाम है। परन्तु हम व्यवहार से ऐसा मानते है कि हमने पर पदार्थ का जाना। जब ऐसा ज्ञान की सामर्थ्य ह कि उसमे परपदार्थ का प्रवेश नही तब न कोई पदार्थ सुख का कर्त्ता है और न कोई पदार्थ दु ख का कर्ता है।

३ वेदना भय

सम्यग्ज्ञानी जीवो के यही एक वेदना है कि वे सदा निराकुल रहकर अभेदरूप से उदित वेद्य वेदक भाव के बल से अविचल कभी नष्ट नही होने वाले ज्ञान का स्वय वेदन करते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। ज्ञानी के अन्य पदार्थ की वेदना नही है तब उसे वेदना का भय कैसे हो सकता है। वह तो सदा नि शंक होता हुआ स्वाभाविक ज्ञान को ही प्राप्त होता है उसका अनुभव करता है। सुख दुख का अनुभव करना सो वेदना है परन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव को ऐसा सुख दुख का अनुभव नही होता। यह सुख दुख का विकल्प स्वाभाविक न होकर मोह कर्म के उदय से जायमान अशुद्ध अनुभूति है। ज्ञानी जीव विचार करता है कि मोह कर्म के विपाक से जायमान सुख दुख मेरे स्वभाव नही है इसलिये मुझे तद्विषयक आकुलता से क्या प्रयोजन ? अत वह सदा निराकुल रहकर एक ज्ञान स्वभाव का ही वेदना करता है और वह भी अभेद वेद्य वेदक भाव की सामर्थ्य से अर्थात् वेदन करने वाला भी आत्मा है और जिसका वेदन करता है वह वेद्य भी आत्मा ही है। ज्ञातानुभूति के सिवाय कर्मोदय से आगत अन्य अनुभूति मेरा स्वभाव नही है तब मुझे उस विषय का भय ही कैसे हो सकता है। कर्म के उदय से जो सुख दु ख की अनुभूति होती है उसे मैं अपना स्वभाव नही मानता तब मुझे उन कल्पित अनुभूतियो से होने वाले सुख दुख की चिन्ता

ही क्या है। एक ज्ञान ही मेरा स्वभाव है इसलिये उसी का वेदन मैं करता हू ऐसा विचार कर सम्यग्ज्ञानी जीव सदा वेदना भय से रहित होता है।

४ अरक्षा भय

जो सत् स्वरूप है वह नाश को प्राप्त नही होता इस नियम से वस्तु की मर्यादा प्रकट है। ज्ञान सत्स्वरूप है इसलिये वह स्वय ही रक्षित है। इसके लिये दूसरे पदार्थों से क्या प्रयोजन है। इसकी अरक्षा किसी से नही हो सकती इसलिये ज्ञानी पुरुष को भय कैसे हो सकता है। वह ता निरन्तर नि शक रहता हुआ स्वय सहज स्वाभाविक ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है। उसी का अनुभव करता है। जो सत है उसका कभी नाश नही होता। ऐसी निश्चय से वस्तु मर्यादा है और ज्ञान जो है सो स्वय ही सत्स्वरूप है। इसलिये इसकी रक्षा के अर्थं अन्य की आवश्यकता नही है। इस ज्ञान की अरक्षा करने मे कोई भी वस्तु समर्थ नही है। अतएव ज्ञानी जीव को इस की रक्षा के अथ किसी से भी भय नही होता है। स्वय जो अपना सहज ज्ञान है उसी का अनुभव करता है ज्ञानी के ऐसा निश्चय है कि सत्पदाथ स्वय स्वरूप से ही रक्षित है कोई भी शक्ति इसका अभाव करने मे समथ नही है। अत इसी भाव को लेकर ज्ञानी को किसी का भय नही रहता है। निरन्तर जो अपना स्वाभाविक ज्ञान है उसी का अनुभव रहता है।

ज्ञानी जीव समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है उसको करने की सामर्थ्य किसी मे नही है। शरीरादिक परपदाथ है—पुद्गल द्रव्य की परिणतिया हैं। उनके नाश से मेरे ज्ञान स्वभाव का नाश नही होता इसलिए मुझ अरक्षा भय नही है।

५ अगुप्ति भय

निश्चय से वस्तु का जो स्वरूप है वह उसकी परम गुप्ति है क्योकि स्वरूप मे भी कोई परपदाथ प्रवेश करने के लिये समर्थ नही है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है इसलिए इसकी कोई भी अगुप्ति नही है। फिर ज्ञानी जीव का अगुप्ति का भय कैसे हो सकता है। वह तो निरन्तर नि शक रहता हुआ स्वय सहज ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है। उसी का अनुभव करता है। वस्तु का जो स्वरूप है वही परम गुप्ति है उसमे अन्य का प्रवेश नही हो सकता। पुरुष का स्वरूप ज्ञान है। इसकी अगुप्ति किसी के द्वारा नही हो सकती इसी से ज्ञानी जीव के किसी से भी कुछ भी भीति नही रहती है। यह तो नि शक होता हुआ निरन्तर अपने ज्ञान स्वरूप का अनुभव करता है। लोक मे मनुष्य

अपनी रक्षा के अर्थ गढ कोट परिखा आदि बनाते हैं जिसमे शत्रुओं का प्रवेश न हो और अपने धनादि की गुप्ति रहे परन्तु आत्मा का जो धन है वह ज्ञान है, उसमे अन्य पदार्थों का प्रवेश नही है वह स्वयं गुप्ति स्वरूप ही है। इसी से ज्ञानी जीव निरन्तर निर्भीक हाते हुए स्वात्म स्वरूप मे मग्न रहते हैं ऐसा नियम है। जो वस्तु जिस गुण अथवा द्रव्य मे वर्तती है वह अन्य द्रव्य मे सक्रमण नही करती अन्य द्रव्यरूप पलटकर नही वर्तती। जब वह अन्य द्रव्य रूप सक्रमण नही करती तब उसे अन्यरूप कसे परिणमा सकती है।

जब यह नियम ह तब ज्ञानी जीव परपदार्थ से अपना उपयोग हटाकर स्वकीय ज्ञानस्वरूप की ओर ही लगाता ह। ज्ञानी का ज्ञान स्वरूप कभी नष्ट नही हाता। इसलिये वह सदा अगुप्ति भय से दूर रहता ह। लोक में धनादि का नाश हाता है पर ज्ञानी उन्हें अपना नही मानता।

६ मरणभय

प्राणा क उच्छेद को मरण कहते हैं। निश्चय स इस आत्मा के प्राण ज्ञान ह। ज्ञान स्वयमेव शाश्वत है इसलिये कभी नष्ट नही होता। इसलिये ज्ञानी का कभी मरण नहा हाता फिर उसे मरण का भय कसे हो सकता है। वह तो निरन्तर नि शक रहता हुआ स्वय सहज ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता है। उसी का अनुभव करता ह। इस आत्मा का प्राण ज्ञान ह यह ज्ञान नित्य ह इसका कभी भी नाश नही होता। इससे जब इसका मरण ही नही तब सम्यग ज्ञानी का किसका भय वह तो निरन्तर स्वीय ज्ञान का ही अनुभव करता ह। लाक म इन्द्रियादिक प्राणो के वियोग को मरण कहते हैं। इन्ही को द्रव्य प्राण कहते हैं। यह जो द्रव्यप्राण है वे पुद्गल के निमित्त स जायमान होने के कारण पौद्गलिक है। वास्तव मे आत्मा के प्राण ज्ञानादिक हैं उन ज्ञानादिक प्राणो का कभी भी नाश नही होता। अतएव जो ज्ञानी जीव हैं उन्हे मरण का भय नही होता। वे तो निरन्तर अपने ज्ञान का ही अनुभव करते है।

७ आकस्मिक भय

आत्मा का जो ज्ञान ह वह एक ह अनादि अनन्त और अचल ह तथा स्वयसिद्ध ह। वह सर्वदा ही रहता है उसमे अन्य का उदय नही है। इसलिये इस ज्ञान मे कुछ भी आकस्मिक नही ह तब ज्ञानी जीव को उसका भय कसे हो सकता है। वह तो निरन्तर नि शक रहता हुआ स्वय सहज ज्ञान को ही सदा प्राप्त होता ह उसी का सदा अनुभव करता ह। जो अनुभव मे नही आया ऐसा कोई भय का कारण उपस्थित हो जावे उसे आकस्मिक भय कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानी जीव का ऐसा निर्मल विचार ह कि हमारा जो ज्ञान स्वभाव ह वह एक अनादि अनन्त अचल तथा स्वयसिद्ध है। उसमे अन्य का उदय नही हो सकता। अत भय के कारणो का अभाव होने से वह निरन्तर निर्भीक रहता हुआ अपने आत्म स्वरूप मे लीन रहता ह।

टाकी से उकेरे हुए के समान शाश्वत स्वभाव से युक्त ज्ञानरूपी सर्वस्व को प्राप्त जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसकी नि शंक तत्वादि लक्षण समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं। इसलिये इस ज्ञानरूप सर्वस्व के प्रकट होने पर सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म का थोडा भी ब ध नही होता है। किन्तु पूर्वोपार्जित कम का अनुभव करते हुए उसके निश्चित रूप से निर्जरा ही होती ह। टकोत्कीर्ण और स्वरस से भरे हुए ज्ञानरूप सबस्व का भोग करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव को जो नि शंकता आदि गुण हैं वे सब कर्मों का हनन करते हैं। इसके होने पर उसके फिर नवीन कर्मो का बन्ध नही होता। पूर्वोपार्जित कर्मों के विपाक का अनु भव करने वाला जो सम्यग्ज्ञानी जीव ह उसके राग का अभाव होने से निजरा ही होती है। नवीन बन्ध नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वो पार्जित भय आदि प्रकृतियों का उदय आने पर भी सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से ज्ञानी जीव के स्वरूप से विचलितता नही होती। अत वह निरन्तर नि शंक रहता ह। उसकी पूर्वबद्ध प्रकृतियाँ उदय देकर निर्जरा भाव को प्राप्त हो जाती हैं।

६० रत्न करण्ड श्रावकाचार पर उपदेश

नम श्री वर्द्धमानाय निर्द्धूत कलिलात्मने ।
सालोकाना त्रिलोकाना, यद्विद्या दर्पणायते ।।१।।

श्री वर्द्ध मान तीर्थंकर अर्थि हमारा नमस्कार होहू । श्री कहिये अन्त रग स्वाधीन जो अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य अनन्त सुख रूप अविनाशिक लक्ष्मी अर बहिरग इन्द्रादिक देवन करि वदनीक जो समवसरणा दिक लक्ष्मी तिसकर वृद्धिक प्राप्त होय सो श्री वर्द्ध मान कहिये । (भावार्थ) जाके केवलज्ञान विद्यारूप दर्पण विष अलोकाकाश सहित षट द्रव्यनि का समु दायरूप समस्त लोक अपनी भूत भविष्यत वतमान की समस्त अनन्तात पर्याय निकरि सहित प्रतिबिम्बत होय रहे है । ऐसा अर जाका आत्मा समस्त कर्म मल रहित भया ऐसा श्री वर्द्ध मान देवादि देव अन्तिम तीर्थंकर ताकू अपने आवरण कषाय आदि मल रहित सम्यग्ज्ञान प्रकाश के अर्थि नमस्कार किया । अब आगे धम के स्वरूप कू कहने की प्रतिज्ञा रुप सूत्र कहे हैं ।

देशयामि समीचीन, धम कम निवर्हणम् ।
ससार दु खत' सत्त्ववान्, यो धरत्युत मे सुखे ।।२।।

अर्थ—मैं जो ग्र थ कर्ता हू सो इस ग्र थ मे तिस धर्म का उपदेश करू हू । जो प्राणीनिने पच परिवर्तन रूप संसार के दु ख तै निकाले स्वर्ग मुक्ति के बाधा रहित उत्तम सुखनि मैं धारण करें । बहुरि कसेक धर्म कू कहुँ हू । जो समीचीन कहिये जामे बादी प्रतिवादी करि तथा प्रत्यक्ष अनुमानादिक करि बाधा नाही आव और जो कर्म बन्धन कूं नष्ट करने वाला है तिस धर्म क कहू हू ।

भावार्थ—ससार मे धर्म ऐसा नाम तौ समस्त लोक कहे हैं परन्तु शब्द का अर्थ तो ऐसा जो नरक तिर्यंचादिक गति मे परिभ्रमण रूप दुख तं आत्माक छुडाय उत्तम आत्मीक अविनाशी अतीन्द्रिय मोक्ष सुख मे धारण कर सो धर्म हैं । सो ऐसा धर्म मोल नहीं आवे जो धन खर्च दान सन्मादिक तें ग्रहण करिये तथा किसी का दिया नाहीं आव तथा मन्दिर पर्वत जल अग्नि देवमूर्ति तीर्थादिकन मे नाही धरया है जो वहां जाय ल्याइये तथा उपवास व्रतकाय

क्लेशादि तप मे नाहि है । शरीरादि कृश करने त हू नाही मिलै तथा देवाधि देव के मन्दिरनि मे उपकरण दान मण्डल पूजनादि करि तथा गृ छाड बन श्म शान मे बसने करि तथा परमेश्वर के नाम जाप्यादि करि नाही पाइय है । धर्म तो आत्मा का स्वभाव है जो पर मे आत्म बुद्धि छाड अपना ज्ञाता दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान अनुभव तथा ज्ञायक स्वभाव मे ही प्रवर्तन रुप जो आच ण सो धम है तथा उत्तम क्षमादि दशलक्षण रुप अपना आत्मा का परिणमन तथा रत्नत्रय रुप तथा जीवन की दयारुप आत्मा की परिणति होय तदि आत्मा आप ही धर्मरुप होयगा पर द्रव्य क्षेत्र कालादिक तो निमित्त मात्र है । जिस काल यह आत्मा रागादिरूप परणति छोड वीतराग रूप हुआ दखे है यदि मन्दिर प्रतिमा तीर्थ दान तप जप समस्त ही धर्मरूप है और अपना आत्मा उत्तम क्षमादि वीतराग रूप सम्यग्ज्ञानरूप नहीं होय तो कहां कही हू धर्म नही होय । शुभराग होय जदि पुण्य बन्ध होय है अर अशुभ राग द्वेष मोह होय तहां पाप बन्ध होय है । जहां श्रद्धान ज्ञान स्वरूपाचरण धर्म है तहां बन्ध का अभाव है । बन्ध अभाव भये ही उत्तम सुख होय है । अब ऐसा सुख का कारण जो आत्मा का स्वरूप धम तांकू प्रगट करने का सूत्र कहे है ।

सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्म-धर्मेश्वकरा विदु ।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धति ।।३।।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र इन तीना को धर्म के ईश्वर भगवान तीर्थङ्कर परमदेव धर्म कहे है । अर इन त प्रतिकूल जो मिथ्यादशन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र है ते ससार परिभ्रमण की परिपाटी होय है ।

जो आपका अर अन्य द्रव्यानि का सत्यार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरण सो तो ससार परिभ्रमण त छुड़ाय उत्तम सुख मे धारण करने वाला धर्म है । अर आपका अ अन्य द्रव्यनिका असत्यार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरण ससार के घोर अनन्त दु खनि में डबोवने वाले हैं ऐसे भगवान वीतराग कहे है हम हमारी रुचि विरचित नाही कहे हैं ।

श्रद्धान परमार्थानामाप्तागम तपो भृताम् ।
त्रिमूढा पोढ मष्टाङ्ग, सम्यग्दर्शन मस्मयम् ।।४।।

सत्यार्थ आप्त आगम गुरु का तीन मूढता रहित निशकतादि अष्ट अंग सहित अष्टमद रहित एव छ आयतन रहित श्रद्धान होय सम्यग्दर्शन है ।

लोकार्चितस्तऽपि कुल जोपि बहु श्रुतोपि ।
धर्म स्थितोपि विरतोपि शमनिवोतपि ।।
अक्षाथ पन्नग विषा कुलितो मनुष्य ।
स्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निद्यम ।।

कोई मानव लोगो से पुज्यनीक हो अत्यन्त कुलीन हो बहुत शास्त्र का पारगामी हो धम मे चलने वाला हो विरक्त हो व शान्त भाव सहित भी हो यदि उसके इन्द्रिविषय रूपी सर्प का विष चढ़ जावे तो वह आकुलित होकर ऐसा बावला हो जाता है कि वह कौन सा निन्दनीय कार्य है जिसे वह नही कर डालता है। वास्तव मे इन्द्रिय सुख मे आसक्ति मानव को धम भाव से गिराने वाली है।

आगे कहते हैं कि पर सम्पत्ति को अपना मानना अज्ञान है।

यहा आचार्य ने बताया है वह महामूर्ख है जो कम सयोग से प्राप्त पदार्थो को अपना मान लेता है। इस जीव के साथ कर्मों का संयोग नाना प्रकार के दु खो को उत्पन्न कराने वाला है। कर्मों के उदय से ही रोग शाक वियोग होता है। कर्मों के उदय से ही क्रोध मान माया लोभ का विकार होता है। कर्मों के निमित्त से शरीर की प्राप्ति होती है शरीर मैं इद्रिया होती हैं इद्रियो से इच्छापूर्वक विषय ग्रहण करता है विषयों को पाकर राग करता है उनके चले जाने पर शोक करता है। पुण्य के उदय से जब इसको मनोज्ञ स्त्री सुन्दर पुत्र व साताकारी मित्र प्राप्त होते ह तब उनमे राग करता है। जब यह नही रहते व उन पर कोई आपत्ति आती है तो इसे बडा खेद होता है। सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध व रक्षण आदि की विधि करते हुए महान संकटो को सहना पड़ता है। जो कोई मूर्ख कर्मों के उदय से प्राप्त चेतन व अचेतन सम्पदा को अपनी मानता है वह माना कर्ज लाकर पर की लक्ष्मी को अपनी मानता है। जो कर्ज लेकर व्याज सहित धन चुकाता नहीं है वह अन्त मे राज-दण्ड आदि पाता है। बुद्धिमान कर्ज के धन मे कभी ममत्व नही करते हैं वह उसको पर का ही मानते व शीघ्र ही उसको दे डालना चाहते हैं। इसी तरह कर्मों के उदय से प्राप्त पदार्थों को ज्ञानी जीव अपना कभी नही मानते हैं। वे कर्मों के छूटने पर छुट जाने वाले हैं। ज्ञानी अपनी आत्मिक ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य मई सम्पत्ति के सिवाय और किसी को अपनी नही मानता है। तत्वं ज्ञानी को यही भाव अपने मन में रख कर आत्म तत्व का मनन करना चाहिए ज्ञानी ऐसा विचारते हैं। जैसा स्वामी अमित गति ने कहा :—

जो ममुष्य ऐसा मन मे निश्चय करके कि इच्छा रहितपना ही सुख है तथा इच्छा रहितपना ही महान दु ख है परिग्रहो को छोडकर जिन धर्म को धारण करते हैं वह ही पुण्यात्मा हैं।

अब आचाय शुद्धात्मा की परणति रूप धम का वणन करते हैं

जिस प्रकार अमूर्तीक होने के कारण आकाश आदि किसी के देखने मे नही आ सकते उस ही प्रकार यद्यपि यह आत्मा किसी के दृष्टिगोचर नही है तो भी उस चतन्य स्वरूप आत्मा के स्वरूप को शास्त्र के बल से अथवा अपने अनुभव से मै वर्णन करता हू। इसलिए बुद्धिमानो को इसमे किसी प्रकार की दगाबाजी नही समझनी चाहिए। क्योकि समस्त कर्मों का राजा मोहनीय और अत्यन्त प्रबल अन्तराय रूपी शत्रु तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण अभी मेरे आ मा के साथ लगे हुवे हैं इसलिए वास्तविक स्वरूप के कहने मे मेरी बुद्धि कसे प्रवीण हो सकती है।

वास्तविक रीति से आत्मा के स्वरूप का वणन अर्हन्त ही कर सकते हैं। मैं अल्पज्ञानी हू इसलिए मेरा कथन सवज्ञ देव प्रणति शास्त्र के अनुसार होने के कारण तथा कुछ अनुभव होने के कारण विद्वानो को अवश्य मानना चाहिये। अपने को विद्वान मानकर शृङ्गरादि रस सहित नाना प्रकार के प्रमोदजनक व्याख्यानो को कहने वाले तथा सभा मे व्यथ वचनो के आडम्बर को धारण करने वाले और मनुष्यो को स मार्ग से भुलाने वाले पुरुष ससार मे प्रतिग्रह बहुत से मिलगे। परन्तु जो परमा म तत्त्व के ज्ञान के देने वाले हैं ऐसे मनुष्य बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।

सभी मनुष्यो के चितो मे नाना प्रकार के दु ख देने वाले ऐसे राग द्व ष माया क्रोध लोभ आदि दोष स्वभाव से ही रहे आते है। इसलिए जो कवि का काव्य उनको मूल मे उडा देता है तथा सम्यग्ज्ञान का उत्पन्न करने वाला होता है वास्तव मे वही कार्यकारी समझना चाहिए अर्थात् जिसमे वीतराग पने का वर्णन होवे वही काव्य फल के देने वाला है और शृङ्गादि रस तो समस्त जगत को मोह के उत्पन्न करने वाले तथा दु ख के देने वाले है इसलिए भव्यो का चाहिये कि वे वीतराग भाव को दर्शाने वाले शास्त्रो का ही अभ्यास करें। अनादि काल से फले हुवे मोहरूपी महान अन्धकार से व्याप्त इस जगत मे विचारे मोही जीव एक तो स्वयमेव ही श्रेष्ठ मार्ग को नही देख सकते हैं यदि किसी रीति से देख भी सकें तो दुष्ट पुरुष और भी उनकी आखो मे शृङ्गारादि शास्त्र सुनाकर धूलि डालते हैं इसलिए कहा तक ये जीव खोटे मार्ग मे गमन नही कर सकते ? जिस प्रकार जघन्य पुरुष को एक तो स्वयमे ही

मार्ग नहीं सूझता किन्तु उसकी आंखो मे यदि धूलि डाल दी जावे तो और भी वह घबडाकर खोटे मार्ग मे गिर पडता है उस ही प्रकार ससार मे भ्रमण करते हुवे प्राणियों को एक तो मोह के उदय से स्वयं मार्ग नही सूझता परन्तु शृङ्गारादि रसो के सुनने से वे और भी खोटे मार्गों में गिरते हैं। इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे कदापि शृङ्गारादि रूप शास्त्रो को न सुने जिससे उनको खोटे मार्ग मे न गिरना पड़े।

६१ बारह अनुप्रेक्षा

१ अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति हथियन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार ॥

स्त्री पुत्र धन आदि ससार के सारे पदाथ नष्ट होने वाले हैं। जब देवी देवता और स्वर्ग के इन्द्र तथा चक्रवर्ती सम्राट सदा नही रह सके तो मेरा शरीर कसे रह सकता है। कवल आत्मा ही सदा से है और सदा रहने वाली है। इसके अलावा जितने भी ससार के पदाथ है वे सब अनित्य है आत्मा से भिन्न है। एक दिन उनसे अलग होना है। पुण्य के प्रताप स संसारी पदाथ स्वय मिल जात है और अशुभ कम आने पर स्वय नष्ट हो जाते हैं तो फिर उनका मोह ममता करके कर्मों के आस्रव द्वारा अपनी आत्मा को मलीन करने से क्या लाभ है।

२ अशरण भावना

दल बल देवी देवता माता पिता परिवार।
मरती विरिया जीव को कोई न राखन हार ॥

इस जीव को समस्त संसार मे कोई शरण देने वाला नही है। जब पाप कम का उदय होता है तो शरीर के कपडे भी शत्रु बन जाते हैं। जब प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को निरन्तर छ माह तक आहार नही हुआ तो उनके जन्मोपलक्ष मे १५ मास तक साढ़े तीन करोड रत्न प्रतिदिन बरसाने वाले देव कहा चले गये थे? सीता जी के अग्निकुण्ड को जलमयी बनाने वाले देव रावण के द्वारा सीता जी को चुराते समय कहां सो गये थे? हजारो योद्धाओ के प्राणो को नष्ट करके रावण के बन्धन से सीताजी को छुडाकर लाने और वृक्षो तक से उनका पता पूछने वाले श्री रामचन्द्र जी का प्रम गर्भवती सीताजी को वनो मे निकालते समय कहा भाग गया था? देव देवता यन्त्र मन्त्र माता पिता पुत्र मित्र आदि किसी की भी सारे संसार मे कोई शरण नही हैं। यदि पुण्य का प्रताप है तो शत्रु तक मित्र बन जाते हैं। पुण्यहीन को सगे और मित्र तक जवाब दे देते हैं।

सारे ससार मे यदि शरण है तो आत्मा हीहै। जसी आत्मा अर्हन्त भगवान की है वसी आत्मा हमारी है। जो गुण अर्हन्त भगवान की आत्मा मे प्रकट हैं वे ही गुण हमारी आत्मा मे छिपे हुए हैं। अर्हन्त होने से पहले उनकी आत्मा भी हमारे समान कर्मों द्वारा मलीन और ससारी थी और हम संसारी जीव भी यदि अपनी आत्मा के कर्मरूपी मल को उनके समान दूर कर द तो हमारी आत्मा के गुण प्रगट होकर हमारी पर्याय भी शुद्ध होकर अर्हन्त भगवान के समान सर्वज्ञ हो जावे। इसलिये जो अर्हन्त भगवान को द्रव्यरूप से गुणरूप से जानता है वह अपनी आत्मा और इसके गुणो को अवश्य जानता है और जो अपनी आत्मा को जानता है वह निज परके भेद को जानता है और जो इस भेद विज्ञान को जानता है उसका मोह ससार पदार्थों से अवश्य छूट जाता है और उसकी लालसा अथवा रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। उसका मिथ्यात्व अवश्य जाता रहता है और जिसका मिथ्यात्व दूर हो गया उसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यक्ज्ञान और उसका चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। इन तीनो रत्नो की एकता मोक्ष मार्ग है जो अविनाशक सुखो और सच्ची शान्ति का स्थान है। इसलिये सदा आनन्द ही आनन्द प्राप्त करने के हेतु सारे संसार में व्यवहाररूप से केवल अर्हन्त भगवान की शरण है।

३ ससार भावना

दाम बिना निरधन दुःखी तृष्णावश धनवान।
कहूं न सुख ससार मे सब जग देखो छान॥

यह ससार दुखो की खान है। ससारी सुख खाड मे लिपटा हुआ जहर है तलवार की धार पर लगा हुआ मधु है। इनसे सच्चे सुख की प्राप्ति मानना ऐसा है जसा विषधर के मुख से अमृत झडने की आशा करना। जिस प्रकार हिरण यह भूलकर कि कस्तूरी इसकी अपनी नाभि मे है उसकी खोज मे मारा मारा फिरता है इस प्रकार जीव यह भूलकर कि अविनाशक सुख तो इसका अपनी निज आत्मा का स्वाभाविक गुण है सुख और शान्ति की खोज ससारी पदार्थों मे करता है। यदि ससार मे सुख होता तो छयानवे म हजार स्त्रियो को भोगने वाला बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओ का सम्राट जिनकी रक्षा देव करते हैं ऐसे नौ निधि और चौदह रत्नो का स्वामी छ खण्ड का स्वामी ससार का प्रजापति चक्रवर्ती राज सुखो को लात मारकर संसार को क्यों त्यागते। जब ससार के पदार्थों मे सच्चा आनन्द नही तो इनकी इच्छा और मोह ममता क्या ?

४ एकत्व भावना

आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय।
यो कबहूं इस जीव का साथी सगा न कोय ॥

मेरा आत्म अकेला है अकेले ही करम करता है अकेले ही कम का फल भोगता है। स्त्री पुत्र मित्र आदि हमारे दु खो को देखकर चाहे जितना खेद करें पर तु जो दु ख हमको हो रहा है उसम कदाचित कमी नही कर सकते। जब साता कम का उदय हागा तभी दु खो मे कमी हागी। चारो घातिया कर्मों का सवर तथा निर्जरा भी आत्मा अकेला ही करक अह त अथवा अघातिया कर्मों को भी काटकर सिद्ध होकर अविनाशी सुखो का अकेला ही आन द लूटता है। जब आत्मा का कोई दूसरा साथी सगी नही है तो ससारी पदार्थों कषायो और परिग्रहो को अपनाकर अपनी आत्मा को मलीन करके ससारी बन्धन दृढ करने से क्या लाभ ?

५ अ यत्व भावना

जहा देह अपनी नहीं तहा न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट ये पर है परिजन लोय ॥

जिस प्रकार म्यान मे रहने वाली तलवार म्यान से अलग है उसी प्रकार शरीर मे रहने वाली आत्मा श ीर से भि न है। आत्मा अलग है शरीर अलग है। आत्मा अमूर्तीक है शरीर मूर्तिवान आत्मा जीव चेतन शरीर अजीव अचेतन आ मा स्वाधीन है और शरीर इ द्रियो द्वारा पराधीन है आत्मा निज है शरीर पर है। आत्मा राग द्व ष क्रोध मान भय-खेद रहित है शरीर को सर्दी गर्मी भूख-प्यास आदि हजारो दु ख लगे है। इस ज म से पहिले भी यहीं आत्मा थी और इस ज म के बाद नरक स्वग अर्हंत अथवा मोक्ष प्राप्त करने मे भी यही आत्मा रहेगी। आ मा नित्य है शरीर नष्ट होने वाला है। आत्मा के चोला बदलने पर यही शरीर यही पडा रह जाता है। जब प्रत्यक्ष मे अपना दिखाई देने वाला यह शरीर ही अपना नही तो स्पष्ट अलहदा दिखाई देने वाले स्त्री पुत्र धन सम्पत्ति आदि कसे अपने हो सकते हैं। जब उनका संयोग सदा नही रहता तो इनकी मोह ममता क्या ? जिस प्रकार किरायेदार मकान से मोह न रखकर किराये के मकान मे रहता है उसी प्रकार जीव को शरीर का दास न बनकर शरीर मे जप तप करके अपनी आत्मा की मलीनता दूर करके शुद्ध चित्तरूप होना ही उचित है।

६ अशुचि भावना

दिप चाम चादर मढ़ी हाड पिंजरा देह।
भीतर या सम जगत मे और नहीं घिन गेह ॥

आत्मा निमल है इसका स्वभाव परम पवित्र है। क्रोध मान माया लोभ राग-द्व ष चिन्ता भय खेद आदि १४ अन्तरग तथा स्त्री-पुत्र-दास-दासी धन सम्पत्ति आदि दस प्रकार के बहिरग परिग्रहा से शुद्ध हैं। शरीर महामलीन है इसका रवभाव ही अपवित्र है इसके ६ द्वारो से हर समय मल मूत्र खून पीप आदि टपकते रहते है। अनादि काल से अनेक बार शरीर को खूब धाया परन्तु क्या कोयले को धोने से उसकी कालिमा नष्ट हो जाती है। यदि मैंने अपनी आत्मा को कषायो और परिग्रहो से रहित होकर शुद्ध कर लिया होता तो कम रूपी मल को दूर करके हमेशा के लिए शुद्ध चित्त रूप हो जाता।

जिन्होने अपनी आत्मा को सासारिक पदार्थों का मोह ममता से रहित होकर शुद्ध कर लिया है वे अजर अमर हो गये। मोक्ष प्राप्त कर लिया आवागमन के फँदे से मुक्त हो गये। यदि मैं भी पर पदार्थों की लालसा छोड द तो आठो कम नष्ट होकर सहज मे अविनाशक सुखो के स्थान मोक्ष को अवश्य प्राप्त कर सकता हू।

७ आस्रव भावना

मोह नींद के जोर, जगवासी धूमै सदा।
कमचोर चहुँ ओर सरबस लूट सुध नहीं ॥

सारे ससार मे मेरा कोई बुरा या भला नही कर सकता और न मैं ही किसी दूसरे का बुरा या भला कर सकता हू। दूसरे का बुरा तब होगा जब उसके पाप (कर्म) उदय में आवगे केवल मेरे चाहने से उसका बुरा नही हो सकता। हा किसी का बुरा चाहने से मेरे कर्मों का आस्रव होकर मेरी आत्मा मलीन हो जायेगी और इस प्रकार मै स्वय अपना बुरा कर लेता हू। इस प्रकार जब मेरे अशुभ कम आवेगे तो दूसरे के मेरा बुरा न चाहने पर भी मुझे हानि होगी और शुभ कर्मों के समय दूसरो के बुरा करने पर भी मुझे लाभ होगा। जब कोई मेरी आत्मा का बुरा नही कर सकता तो शत्रु कौन ? और जब किसी दूसरे से मरा आत्मा का कल्याण नही हो सकता तो मित्र कौन ?

मैं स्वय पाच प्रकार के मिथ्यात्व (विपरीत एकात विनय सशय अज्ञान) बारह प्रकार क असयम छ काय जीवो की अरक्षा पाच इन्द्रिय छटा मन को काबू मे न करना २५ प्रकार के कषाय और पन्द्रह प्रकार का योग इस प्रकार कुल सत्तावन द्वारो से स्वय कर्मों का आस्रव करक अपना आत्मा के स्वाभाविक गुण अविनाशक सुख व शान्ति की प्राप्ति मे रोडा अटकाने के कारण स्वय अपना शत्रु बन जाता हू ।

८ सवर भावना

पच महाव्रत सचरण समिति पच प्रकार ।
प्रबल पच इन्द्री, विजय धार निजरा सार ॥

पाच महाव्रत दस धर्म पांच समिति तीन गुप्ती बारह भावना बाईस परिषह जय रूपी सत्तावन द्वारो मे स्वयं आस्रव (कर्मों का आना) का सवर (रोकथाम) कर सकता हू और इस प्रकार अपनी आत्मा को कम रूपी मल से मलीन हाने से बचा सकता हू । दूसरा मेरी आत्मा का भला बुरा करन वाला सारे ससार म कोई शत्र या मित्र नही ।

९ निजरा भावना

ज्ञान दीप तप तेल भर-घर सोधे भ्रम छोर ।
या विध बिन निकसें नहीं बठे पूरब चोर ॥

जिस प्रकार एक चतुर पोत संचालक छेद हो जाने से जहाज मे पानी घुस आने पर पहले छेदो को बन्द करता है और फिर जहाज से भरे हुये पानी को बाहर फेककर जहाज को हल्का करता है जिससे उसका जहाज बिना किसी भय के सागर से पार हो सके उसी प्रकार ज्ञानी जीव पहले अ स्रवरुपी छेदो को सवर रूपी डाटों से बन्द करके कर्म रूपी जल को आने से रोक देता है फिर तप रूपी अग्नि से सुखाकर निर्जरा (नष्ट) कर देता है जिसम आत्मा रूपी जहाज ससार रूपी सागर को बिना किसी भय के पार कर सके । बारह प्रकार के तप छ बाह्य छ अन्तरग (छ बाह्य=अनशन उनोदरये वृतपर संख्या रस परित्याग एकान्त काय क्लेश) (छ अन्तरग=प्रायश्चित-विनय वयावृत स्वाध्याय ध्यान कायोत्सर) के द्वारा कर्मों की निजरा करनी चाहिये ।

१० लोक भावना

चौदह राजू उतंग नभ लोक पुरुष सठान—
तामे जीव अनादि तै—भरमत हैं बिन ज्ञान ।।

यह लाक जीव–अजीव–धर्म–अधर्म–काल–आकाश–छ द्रव्यो का समुदाय है। य सब द्रव्य सत रूप नित्य हैं। इसलिए जगत भी सत रूप नि य अनादि और अकृत्रिम है जिसमे ये जीव देव–मनुष्य–पशु–नरक चारो गतियो मे क्रमानुसार भ्रमण करता हुआ अनादि काल से आवागमन के चक्कर मे फस कर ज म–मरण के दु खो को भोग रहा है। जिस प्रकार धान से छिलका उतर जाने पर उसमे उगने की शक्ति नही रहती उसी प्रकार जीवात्मा से कम रूपी छिलका उतर जाने पर आत्मा चावल के समान शुद्ध हो जाता है उसमे फिर ज म लेने की शक्ति नही रहती और जब ज म नही तो मरण और आवागमन कहा ? कर्मों का फल भागने के लिए ही ता जीव ससार सागर मे रुल रहा है। जब शुभ अशुभ दोनो प्रकार के कर्मों की निर्जरा हो गई तो फल किसका भोगेगा। इसलिए संसार के अनादि भ्रमण से मुक्त होने के लिए निजरा से भिन्न और कोई उपाय नही।

११ बोध–दुर्लभ भावना

धन कन कचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान।
दुलभ है ससार में एक जथारथ ज्ञान ।।

इस जीव को स्त्री–पुत्र–धन–शक्ति आदि तो अनादि काल से न मालूम कितनी बार प्राप्त हुये। चक्रवर्ती के उत्तम भोग भी अनेक बार प्राप्त हुए। परन्तु सच्चा सम्यक ज्ञान न मिलने के कारण आज तक ससार मे रुल रहा है। मैंने पर पदार्थों को तो खूब जाना परन्तु अपनी निज आत्मा को न समझा कि मै कौन हू ? बार–बार ज म–मरण करके संसार मे क्यो भ्रमण कर रहा हू ? इससे मुक्त हाने और सच्चा सुख प्राप्त करने का क्या उपाय है ? जब ससारी पदार्थों की लालसा मे फंस कर उनसे मुक्त होने की विधि पर कभी विचार ही नही किया तो फिर मुक्ति कसे प्राप्त हो ? इसलिए संसार के दु खो से छूटने के लिए और सच्ची सुखी शान्ति प्राप्ति करने के लिए निज पर के भेद–विज्ञान को श्रद्धापूर्वक जानने की आवश्यकता है।

१२ धर्म भावना

जांचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन ।।

अपनी आत्मा का स्वाभाविक गुण ही आत्मा का धर्म है। आत्मा के स्वाभाविक गुण तीनो लोक तीनो काल मे समस्त पदार्थों को एक साथ जानना सारे पदार्थों को एक साथ देखना अनन्तानन्त शक्ति और अनन्ता सुख को अनुभव करना है। वह धर्म सम्यक दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक चारित्र रत्नत्रय रूपी हैं अहिंसामयी हैं दस लक्षण स्वरूप हैं। इनको प्राप्त करने से यह जीव आठो कर्मों को काटकर मोक्ष प्राप्त करके सच्चा सुख और आत्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है।

६२ सम्यग्श्रद्धा

जीव–अजीव की सम्यक श्रद्धा व उनका भेद ज्ञान होने पर शरीर मे अहबुद्धि मिट जाती है और अपने अनादि–अनन्त चतन्य द्रव्य मे ही अहबुद्धि होती है। अत उसको मृत्यु का भय नही रहता है और ऐसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान पूर्वक वीतराग भाव प्रगट करने से सिद्ध प्रगट होकर जन्म–मरणादि सर्व दु खो का अभाव हो जाता है।

पर–द्रव्यनित भिन्न आप मे, रुचि सम्यक्त भला है।

शुद्धात्म तत्त्व की उपासना का मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है क्योकि यथाथ वस्तु का परिज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है। जिन जीवो को सम्यग दशन हो गया है उन्हे साता–असाता का उदय चञ्चल नही करता। श्रद्धा की निर्मलता ही मोक्ष का कारण है। मुख्यतया स्वाध्याय मे भी हमारी दृढ़ श्रद्धा ही शिक्षक का कार्य करती है। केवल श्रद्धा–गुण के विकास से कल्याण उदय मे आता है। इसके हाने पर अन्य गुणो का विकास अनायास हो जाता है। कुछ भी करो श्रद्धा न छोडो। श्रद्धा ही ससारातीत अवस्था की प्राप्ति मे सहायक है। श्रद्धा के बिना आत्म तत्त्व की उपलब्धि नही होती। श्रद्धा से जो शान्ति मिलती है उसका आस्वाद लेकर सन्तोष करो। जिन्हे दीघ ससार से भय है उन्हे श्रद्धा गुण को कलकित नही करना चाहिए। यह स्पष्ट है कि जिस मे दृढ श्रद्धा की न्यूनता है वे देवादि का समागम पाकर भी आत्म–सुख से वंचित रहते हैं। अत सर्व प्रथम हमारा मुख्य लक्ष्य सम्यक श्रद्धा की ओर होना चाहिए कल्याण का मार्ग सम्मति मे है अन्यथा मानव धर्म का दुरुपयोग है। कल्याण का पथ निर्मल अभिप्राय है। इस आत्मा ने अनादि काल से अपनी सेवा नही की केवल पर पदार्थों के संग्रह मे ही अपने प्रिय जीवन को भुला दिया। भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ का उपदेश है कि यदि अपना कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से आत्मीयता छोडो। अभिप्राय की निर्मलता के अभाव मे अनेक जन्म द्रव्य लिंग धारण करके भी मोक्ष मार्ग का पथिक नही बना और अभिप्राय के शुद्ध होने पर व्रत धारण के बिना भी मोक्ष मार्ग का पथिक बन गया। जिनके अभिप्राय स्वच्छ हैं वे गृहस्थावस्था मे भी श्री रामचन्द्र जी की तरह व्यग्र होते हुए भी समय पाकर कर्म शत्रु का विनाश करने मे और सुकुमाल की तरह आत्मशक्ति का सदुपयोग करने मे नही चूकते। अभिप्राय यदि निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण मे बाधक और साधक कुछ

भी नही । साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति हैं । आत्म निमलता का सम्ब-ध भीतर से है क्योकि स्वय आत्मा ही उसका मूल हेतु है । यदि ऐसा न हा तो किसी भी आत्मा का उद्धार नही हो सकता । अन्तरग की विशुद्धि मे ही कर्मों का नाश सम्भव है अ-यथा नही । केवल शास्त्र का अध्ययन ससार ब धन से मुक्त करने का मार्ग नही । बहुत शास्त्र का बोध होने पर भी जिस ने अपने हृदय को निर्मल नही बनाया उससे जगत का कोई कल्याण नही हो सकता । अ-तरग शुद्धि के बिना बहिरग सामग्री हितकर नही । अत प्राणी को प्रथम चित्त शुद्धि करना आवश्यक है । आवश्यकता इस बात की है कि आत्मीय भाव निमल बनाया जाय और उसकी बाधक कषाय परिणति को मिटाने का प्रयास किया जाय । आत्म निमलता के लिए अन्य बाह्य कारणो को जुटाने का जो प्रयास है वह आकाश तोडने के सदृश है । जो कुछ करना है आ-म निमलता से करो ।

—आत्म विश्वास—

आत्मशक्ति पर विश्वास ही माक्ष महल की नीव है । इसके बिना मोक्ष महल पर आरोहण करना दुलभ है । बड बड महत्वपूण काय जिन पर ससार आश्चय करता है, आत्म विश्वास के बिना नही हा सकते । आ-मा के लिये कोई भी कार्य असाध्य नही । सारे जगत के पदार्थों का अनुभव करने वाले हम है इन्द्रिया और मन नही क्योकि वे जड हैं । जब ऐसा दृढ विश्वास आत्मा मे आ जाता है तब अशक्य से अशक्य कार्य भी वह क्षणमात्र मे कर डालता है । आत्म विश्वास एक ऐसा प्रभावशाली पवित्र गुण है कि जिससे नर को नारायण होने मे काई विलम्ब नही लगता । जिस मनुष्य को आत्म त-व मे दृढ श्रद्धान है वही ससार भरके प्राणियो के उत्कृष्ट है । जिस काय को एक मनुष्य कर सकता है उसी को दूसरा न कर सके तो समझो कि उसमे आ-मविश्वास की कमी है । जि-हे अपने आत्म बल पर विश्वास नही उ-हे ससार सागर की तो बात जाने दा गाव की मेढक तरण तलया भी गहरी है । जिस मनुष्य को आत्मा मे विश्वास नही वे मनुष्य धम के उ-चतम शिखर पर चढने के अधिकारी नही । जो मनुष्य सिंह के बच्चे होकर भी अपने को भेड तुल्य तु-छ समझते है जि-हे अपने अनन्त आ-मबल पर विश्वास नही वही दु ख के पात्र होते है । मुझसे क्या हो सकता है मैं क्या कर सकता हू मैं अस मथ हू दीन हू ऐस कुत्सित बिचार करने वाले मनुष्य आत्मविश्वास के अभाव म कदापि सफल नही हो सकते ।

卐

६३ आत्म-निर्भरता

किसी पर विश्वास मत करो जो आत्मा माने उसी पर विश्वास करो। अपनी दृष्टि निर्मल होना आवश्यक है। कोई कुछ भी कहे उस पर अन्तरात्मा से परामर्श करके ही निर्णय दो। शान्त परिणामों की ओर लक्ष्य दो जो आपका आत्मा कहे उसी के अनुसार कार्य करो। पराये कहने पर यदि अनुभव न माने तो कदापि न चलो। जो वस्तु तुम्हारे ज्ञान में न आवे उसे सहसा अंगीकार मत करो। जिस कार्य के लिये हृदय सहमत हो यदि वहां शुभ कार्य है तो अवश्य करो। प्रतिज्ञा के विकल्प मत करो प्रयोजन पड़े तब वचन बोलो प्रयोजन पड़े तब चलो और जब प्रयोजन पड़े तब मन का व्यापार करो। इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता न हो ऐसा व्यवहार उनके साथ रक्खो। यदि अवसर आवे तो उनको एकदम रोको। बिना विचारे कोई काम मत करो। जिस कार्य का आरम्भ करो उसका अन्त तक निर्वाह करो। यदि वह कार्य अयोग्य सिद्ध हो तथा अनुभव भी साक्षी न दे तो शीघ्र ही त्याग दो। जो कार्य उत्तम जचे और सुखकर प्रतीत हो उसे ही यत्नपूर्वक करो। किसी की बातों में आकर मत फंस जाओ। जो काम करो निर्भीकता से करो परन्तु निर्भीकता में सत्यता की पुट होनी चाहिये। मन के अनुकूल होने पर भी प्रकृति के प्रतिकूल कोई भी कार्य मत करो। जिस कार्य से आत्मा में आकुलता न हो उस कार्य को ही कर्तव्य पथ में लाने का यत्न करो। त्याग धर्म में कायरता का स्थान नहीं। कर्म शत्रु की विजय शूरों से होती है कायरों से नहीं। कायरता से शत्रु के बल की वृद्धि होती है और अपनी शक्ति का ह्रास होता है अतः जहां तक बने कायरता को अपने पास न फटकने दो। दुःखमय संसार उसी का है जो अपनी आत्मा को हीन और कायर समझता है। जो शूर है उसे कुछ दुःख नहीं। कायरता संसार की जननी है। पर से न कुछ होता है न जाता है। आप ही से मोक्ष और आप ही से संसार दोनों पर्यायों का उदय होता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम संसार में भ्रमण कराने वाली कायरता को दूर करें। संसार असार है इस वाक्य के वास्तविक अर्थ को न समझकर लोग अर्थ का अनर्थ करते हैं। परिणाम यह होता है कि भोला मानव और समाज कायर बन जाता है और कर्तव्य पथ से च्युत होकर त्यागी साधु उदासीन आदि अनेक भेषों को धारण कर भूतल का भारभूत हो जाता है। ऐसे ईश्वर को मान कर हम क्या करें जिससे हमें कायरता की शिक्षा मिलती है। क्यों न हम उस तत्व को स्वीकार करें जो व्यक्ति स्वातन्त्र्य और उसकी

परिपूणता का सूचक है। यह मानना कि हम कुछ नही कर सकते सबसे बडी कायरता है। इसे ऱ्यागो। आत्म पुरुषाथ को जागृत करो। फिर देखोगे कि तुम्हारी उन्नति तुम्हारे हाथ है।

ज्ञानार्जन का उद्दश्य एव फल स्वा म परिणति मे कलुषता की क्षीणता होना ही उचित है। हमारी भावना इतनी मलिन हो रही है कि हम कवल लोक प्रतिष्ठा के अर्थ ही दान स्वध्याय ज्ञानादि अर्जन करने मे सलग्न रहते है न तो इन कृ यो से आ म लाभ होता है और न पर को ही लाभ हो सकता। जिस परिणाम मे कलुषता मात्र है वह स्वय आ मा की पीडक है अ य को कसे सुखकर होगा। रागादिक से ब ध होता है। साम्यभाव वाले योगी ने एक क्षण मे जितने कर्मों को काट लिया है उतने कर्मो को मिथ्यादृष्टि जीव कोटि वर्षों मे नही काट सकता है।

६४ सम्यग्ज्ञान

आत्महित का कारण ज्ञान है। हमलोग केवल ऊपरी बात देखते हैं जिसमे आभ्यन्तर का पता नही लगता। आभ्यन्तर के ज्ञान बिना अज्ञान दूर हो ही नही सकता। यदि कल्याण चाहो तो ज्ञान को उतना ही आवश्यक समझो जितना कि भोजन को आवश्यक समझते हो। जितना समय संसारी कामो मे लगाते हो उसका दशांश भी यदि आगमभ्यास मे लगाओ तो अनायास ही भेद ज्ञान हो सकता है। सम्यक्ज्ञान शून्य जीवन सार शून्य तरुवत निरर्थक है। यदि ज्ञान नही है तो व्रत नियम शील और जपतप के होने पर भी अज्ञानी जीवो का मोक्ष लाभ नही हो सकता। आगमाभ्यास भी उतना ही सुखद है जितना आत्मा धारण कर सके। जैसे जठराग्नि के बिना गरिष्ठ भोजन लाभदायक नही वैसे ही बहुत अभ्यास यदि शक्ति से पर है तो यह लाभदायक नही प्रत्युत हानिकारक है। शिक्षा का उद्देश्य शान्ति है। उसका कारण आध्यात्मिक शिक्षा है। आध्यात्मिक शिक्षा से ही मनुष्य ऐहिक एव पारलौकिक शान्ति का भाजन हो सकता है।

स्वाध्याय के समान तप नही। इसका अर्थ यह है कि आत्मा जब वस्तु स्वरूप का विचार करता है तब चित्त वृत्ति सब तरफ से रुक जाती है। केवल तत्व विचार मे लीन हो जाती है। उस समय अन्य चिन्ताओ के अभाव मे स्वयमेव (वह) शान्त भाव को प्राप्त हो जाती है। परिणामो का कलुषित मत करो। यही तो शास्त्र को पढने का फल है। सानन्द स्वाध्याय कीजिये परन्तु उसके फलस्वरूप रागादि मूर्छा की न्यूनता पर निरन्तर दृष्टि रखिये। स्वाध्याय का फल केवल ज्ञान की वृद्धि मे नही है किन्तु स्वात्म तत्त्व को स्वावलम्बन देकर शान्ति मार्ग मे जाना मुख्य ध्येय है। ज्ञानार्जन से ससार मे हम अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं ससार से मुक्त होना नही चाहते। अन्य को तुच्छ और अपने को महान बनाने के लिए ज्ञान का उपयोग करते हैं। जिस प्रकार व्यापार का प्रयोजन आर्थिक लाभ है उसी प्रकार स्वाध्याय का प्रयोजन शान्ति लाभ है। यदि वर्तमान मे आप वीतराग की अविनाभाविनी शान्ति चाहे तो असम्भव है क्योकि इस काल मे परम वीतरागता प्राप्ति होना दुर्लभ है। अत जहा तक बने स्वाध्याय व तत्त्व चर्चा कीजिए। शारीरिक व्याधियो की चिकित्सा डाक्टर और वैद्य कर सकते हैं लेकिन सासारिक व्याधियो की रामबाण चिकित्सा केवल श्री वीतराग भगवान की विशुद्ध वाणी ही कर

सकती है। स्वाध्याय का मर्म जानकर आकुलता मोक्ष मार्ग मे साधक नही साधक तो नि ाकुलता है। जो सिद्धान्तवेत्ता है वे अपथ पर नही जाते। सिद्धा तवत्ता वही कहलात हैं जि हे स्वपर ज्ञान है तथा व ही सच्चे वीर व आ म सवी है। शास्त्र ज्ञान और बात है और भेदनान और बात है। स स मागम से भा स्वाध्याय विशेष हितकर है। स समागम म प्रकृति विरुद्ध भी मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय मे इसकी भा सम्भावना नही।

विचारो को उत्तम रखने का का ण अन्त करण की शुद्धि है। वह शुद्धि बिना विवेक क नही हो सकती। व विवक भेद विज्ञान के बिना नही हो सकता और वह भेद विज्ञान बिना सत्समागम के नही हो सकता सत्स मागम उत्तम होता है परन्तु धम के अनुकूल हो तभी अ यथा ससार गत मे पडने का कारण हा जाता है। सत्समागम उम कहत है जिसक कारण कष य उत्पन्न न हो। आवश्यकता इस बात की है कि कपटी पुरुषा की सगति मत करो। ऐसे समागम स अपने को रक्षित रखो जो स्वार्थ प्रमा है कुपथगामी है। प्रत्यक उदासीन यक्ति का सत्समागम मे रहना चाहिये। सत्समागम से यह अर्थ लेना चाहिय कि जो मनुष्य ससार स विरक्त हा ष आयु माक्ष मार्ग मे बिताना चाहते हा उ ही का समागम कर। साधु समागम माक्षमाग म बाह्य निमित्त है। जिस तरह दीपक स दीपक जलाया जाता है उसी तरह महा माआ से महात्मा बनते है। अत महा माआ क सम्पक से (साधु समागम से) एक दिन स्वय महात्मा हा जाआगे। विक पो का अभाव कषाय के अभाव मे है कषायो का अभाव तत्त्व ज्ञान क सद्भाव मे है औ तत्त्व ज्ञान सद्भाव साधु समागम से होता है सत्सगति का अथ यही है। निजात्मा बाह्य पदार्थो से भिन्न भावना के अभ्यास से कवल्य पद पात्र हा जाता है। स सग का लाभ पुण्योदय से होता है और पुण्योदय म द कषाय से होता है। वतमान मे नि कपट समागम का मिलना बहुत दुलभ है। अत सर्वोत्तम समागम तो अपनी रागादि परिणति का घटाना ही है

६५ सच्चा वैराग्य–आत्म स्वतन्त्रता

जहा तक बने पर की पराधीनता त्यागो यह कल्याण मार्ग है। स्वतन्त्रता ही सुख की जननी है। सुख का साधन एकाकी होता है। अनेको के साथ सम्बन्ध होना यही महा संकट है। जिसके अनेक सम्बन्ध होगे उसका उपयोग निरन्तर झंझटो मे उलझा रहेगा। सद्गुरु और सतशास्त्र के अलावा और किसी का सहारा लेना उत्तम नही है। सहारा तो निज का ही कल्याण करने वाला है। पञ्चास्तिकाय मे कुन्द–कुन्द महाराज ने तो यहा तक लिखा है कि हे आत्मन्! यदि तू ससार–बन्धन से छूटना चाहता है तो जिनेन्द्र की भक्ति का भी त्याग कर। क्योकि वह भी पुण्य बन्ध अर्थात् संसार का ही कारण है। मेरे मन मे तो अटल श्रद्धा है कि शान्ति का मार्ग न तो पुस्तको मे है न तीर्थ–यात्रादि म है न सत्समागमादि मे है और न केवल दिखावा के योग निरोध मे है किन्तु कषाय निग्रह पूर्वक सब अवस्था मे है। सर्वोत्तम बात यह है कि किसी के चक्र मे न आवे। जिन्हे ससार बन्धन का उच्छेद करना है उन्हे उचित है कि वे पर की चिन्ता त्यागे–पर की चिन्ता करना मोही जीव का कर्तव्य है। भृत्य का अभ्यास छोडो। आत्मीय कार्य का पर के ऊपर मत डालो। त्याग का अर्थ यह नही कि अन्य समाज को भारभूत बनो। तुम त्यागी न होते तो निर्वाह के अर्थ कुछ व्यापार आदि करते। उसमे तुम्हारा काल जाता। अत जो तुम्हारा भोजनादि द्वारा उपकार करे उसका ज्ञानादि द्वारा उपकार कर उसस उऋण होना चाहिये। लोग शान्ति शान्ति चिल्लाते है और मै भी निरन्तर उसी की खोज मे रहता हू। पर उसका पता नही चलता। परमार्थता से शान्ति तो तब आये जब कषाय का कुछ भी उपद्रव न रहे।

कषायातुर प्राणी निरन्तर पर निन्दा के श्रवण मे आनन्द मानता है। जिसे पर की निन्दा मे प्रसन्नता होती है उसे आत्म निन्दा मे स्वयमेव विषाद होता है। जिसके निरन्तर हर्ष विषाद रहते हो वह सम्यग्ज्ञानी कैसा? अत स्वरुप मे लीन रहना ही उत्तम बात है। अपना उपयोग बाहर भ्रमाया तो फसे। पाठ करना अन्य बात है हृदय मे शान्ति का आना अन्य बात है। शान्ति का लाभ कषाय के अभाव मे है। शान्ति का पाठ पढना प्रत्येक व्यक्ति को आता है किन्तु भीतर से शान्ति का होना कठिन है। पर से न शान्ति मिलती है और न मिलने की सम्भावना है। जहाँ तक विचार से काम लेते हैं यही समझ में आता है कि अनादि कलुषता के प्रचुर प्रभाव मे कुछ सुध बुध

नही रहती केवल ऊप ी वेष रह जाते है। इस भवाटवी मे मार्ग प्रा त अ यन्त दुलभ हैं। मोह राजा की य८ अटवी है। इसके रक्षक राग ष हैं। इनमे यह नि न्तर रक्षित रहती है। जीवो का इसम निकलना अति कठिन है। जिन महापुरुषो ने अपने को पहिचाना वे ही इसस निकल सकत है। पराधीनता तो मोक्ष मे बाधक है। स्वाधानता भी एक एसा अमोघ म त्र है जिससे हम सदा खुशी रह सकते है क्योकि यह पर धीनता तो एसा प्रबल रोग है जो ससार से मुक्त होने नही देता। अत चाहे भले ही वन मे रहा यदि इसके वश म हो तब तो कुछ सार नही। यदि इस पर विजय प्राप्त कर ली तब कही भी रहो पौबारा है। स्वाधीनता पूवक थोडा भी धम सा न करना पराधीनता पूर्वक किये गये अधिक धर्म साधन से लाख गुणा अच्छा है। स्वाधीन कुटिया से पराधीन का वर्ग भी अच्छा नही। यदि हमका स्वत त्रता रुचने लगी तब समझना चाहिये अब हमारा क याण का माग दू नही। यदि आत्मा को ससार मे रखने वाली काई शक्ति है तो पराधीनता ही है और क याण करने वाली कोई शक्ति है तो वह स्वाधीनता ही है। शा ति का आविर्भाव आत्मा म ही होता है और आत्मा ही से होता है। आत्मा की शक्ति द्वारा आ मा ही उस आत्म भाव को अपने द्वारा अपने ही लिये अपने मे अनुभव क ता है। लोक नि न्त परात्मबुद्धि हैं अत पर मे ही अ वेषण करने का उद्यम क ते है। कितनी मू वता की बात है कि पर के द्वारा आ म कल्याण चाहते हैं। आज इस क ल मे देवी देवत ओ को भी लालच और घूस देने का चेष्टा करते है। पेट भरने का साधन बना रखा है। यह सब पराधानता का विलास है। इसे त्यागो और शू वीर बनो तभी क याण होगा। भूल की खान तुम स्वय हो। निमित्त कारणो पर आराप करना अपने का गत मे पटकना ह। पर से मम व करना अपने को कारागार म डालना ह। वे ी पार हा सकते हैं जो पराये दास नही बनते। हम लोग पर की ममता स ही घूम रहे है। आत्मा सवदा एकाकी रहता ह अत पर की पराधीनता से न कुछ आता है और न कुछ जाता है। पर की सहायता परमात्मपद की बाधक है। पराधीनता से बढकर कोई पाप नही। जो आत्म पराधीन होकर कल्याण चाहेगा वह कल्याण से बञ्चित हेगा। अपने स्वरूप को देखो ज्ञाता द्रष्टा होकर प्रवृत्ति करो। चाहे भगव पूजा करो चाहे विषयोपभोग मे उपयुक्त होओ उभयत्र अनात्म धम जानरत और अरत न होओ। पराधीनता को त्याग कर अरह त परमात्मा व ज्ञायक स्वरूप आत्मा पर ही लक्ष्य रखो। पास होते हुए भी कस्तूरी के अथ कस्तूरी मृग की तरह स्थान्तर मे भ्रमण कर आत्म शुद्धि की चेष्टा न करो। हमलाग अति कायर है जा अपने को पराधीनता के जाल मे अर्पित कर चुके हैं। इसी से ससार यातनाओ के पात्र हो रहे हैं।

★

६६ परोपदेश-परोपकार

जन धर्म का जो सिद्धान्त था उमे गृ॒स्थो ने लुप्त कर दिया है। यागी वर्ग भी अपने कर्तव्य से च्युत है। पठन पाठन करने का अवसर नही लोक प्रशसा के अथ ही मनुष्यो की चेष्टाय र ती है। हमलोग अपने को नही संभालत ससार को उपदेश देते है। पररक्षा वही कर सकता है जो स्वय क्षित है। जो स्वयं अ नी र ा क ने का असमर्थ है वह पर का कल्याण कमे कर सकता है। अ त ङ्ग मे विचार किया तो यही ध्वनि निकली कि पर की समालोचना त्यागो अपनी समालोचना करो। जा मनुष्य आत्म कल्याण से बञ्चित हैं वे ही संसार के कल्याण मे प्रयत्न करते है। जगत को सुलझाने की चेष्टा है उसे त्यागो और अपने आपको सुलझाने का प्रय न करो। जब हम स्वय आगमानुकूल चलने मे (व्यवहारचर्या करने म) असमर्थ है तब अ य को उपदेश क्या देवगे गर्जने वाले मेघ और निरथक उपदेश देने वाले वक्ता सवत्र सुलभ हैं। ये वृथा ही सामने आत है। परन्तु जिनका अन्तरङ्ग आद्र ह तथा जो जगत का उद्धार करना चाहते हैं ऐसे मेघरूपी उपदेशक दुलभ है। यदि वक्ता चाहता है कि हमारे वचना का प्रभाव लोगो पर पड तो उस कार्य को उसे स्वय करना चाहिये। न जाने क्या कारण है कि वर्तमान युग मे पर का क याण करने की भावना तो प्राय सबमे रहती है परन्तु हमारा कल्याण हो इसका ध्यान नही रहता। माह की भ्रान्ति छोडो। बहुत बोलना दु ख का मूल है। शान्ति का मार्ग व ी है ज ा निवृत्ति है। बहुत आदमी जिससे प्रसन्न हो उसी मे प्रसन्नता मानना हमारा कार्य रह गया है। परन्तु धम का स्वरूप तो निमल आत्मा की परणति है। वाह-वाह मे ससार लुट रहा है। आप स्वय निज स्वरूप से च्युत है और ससार को स स्वरूप मे लगाना चाहता है। यह सर्वथा उचित न ी है। जा मनुष्य जगत के कल्याण की चेष्टा कर ा है उनका स्वय अपनी ओर लक्ष्य नही। बडे बड पुरुष हो ग्य व भा ससार का गु थी को सुलझा न सक तब अ पज्ञानी इसकी चेष्टा कर थ महती दु ों धता है। आज कल तत्वज्ञान का आदर नही केवल ऊपरी बातो मे लाक का रञ्जन करना ही व्याख्यान का विषय रहता है।

मेरे द्वारा प्राणियो का कल्याण हो ऐसी चिन्ता करनी भी महती अभानता है। हमसे परोपकार हाता ह यह धारणा गलत ह। काई किसी का उपकार या अपकार करने वाला नही। आत्मीय परिणाम ही उपकार और

अनुपकार के करने वाले है। अन्तानन्त तीर्थंङ्कर हो गये वे भी सारे संसार का उद्धार नही कर पाये तब हम शक्तिहीन अल्पज्ञानी क्या कर सकते हैं? ससार म जहा स्वार्थ ह वहा उसमे परोपकार हाना असम्भव है। जो मिला सो स्वार्थी मिला इसका अथ यह ह कि हम स्वय स्वार्थी हैं। इसी से हमारी दृष्टि मे परार्थ नही दिखता। दूसरो की भलाई की चेष्टा के पहले अपनी शक्ति का विकास करो केवल गल्पवाद से भलाई नही हो सकती। बातो से न स्वपकार होता ह न परोपकार होता ह। ससार मे मनुष्यो की दृष्टि स्वात्मोपकार की ओर रहनी चाहिये उसस ससार का उपकार हो जावे यह अन्य बात ह। जगत के उपकार की चेष्टा करना प्राय व्यर्थ ह। आत्मोपकार की भावना मे प्राय जगत का उपकार हो जाता है जगत के उपकार से आत्मा का उपकार नही हो सकता केवल कल्पना है। जिन्होने जो भी परोपकार किया उसका अथ यह है कि जो कुछ कार्य जीव करता है वह अपनी कषाय जन्य पीडा शमन के अथ करता है फिर चाहे यह काय पर के उपकार का हो या अपकार का हो। परोपकार की अपेक्षा स्वोपकार करने वाला व्यक्ति जगत का अधिक उपकार कर सकता है। परोपकार से बढकर पुण्य नही इसका यही अथ है कि निजत्व की रक्षा करो। परोपकार के लिये उत्सग आवश्यक है और उदारता के लिये ससार से भीरुता आवश्यक है। कोई किसी का उपकार नही कर सकता। अत उपकार के भाव रखो परन्तु उपकारी कहलाने की अभिलाषा मत करो।

६८ कषाय-निग्रह

कही भी जाओ कषाय की प्रचुरता नष्ट हुए बिना शक्ति नही मिल सकती। अनेक यत्न करने पर भी मन की चञ्चलता का निग्रह नही होता। अभ्यन्तर कषाय का निग्रह कितना विषम है। बाह्य कारणो का अभाव होने पर भी उसका अभाव होना अति दुष्कर है। विकल्पो का अभाव कषाय के अभाव मे ही होता है। जब तक कषाय की वासना का निरोध न हो तब तक वचनयोग और मनोयोग निरोध असम्भव है। मन वचनकाय के व्यापार तो कषाय के साथ ही बन्ध के जनक होते हैं। यदि कषाय न हो तो वे कुछ भी बन्ध के कारण नही। ससार का मूल कारण तो कषाय है उसे ही न होने दो इसी मे आत्म कल्याण हैं। जिस त्याग मे कषाय है वह शान्ति का मार्ग नही। शान्ति न आने का कारण कषाय का सद्भाव है और शान्ति का कारण कषाय का अभाव है। कषाय कलुषता की कालिमा से जिनका आत्मा मलिन हो रहा है भला उनके ऊपर धर्म का रग कैसे चढ सकता है मोक्ष मार्ग का लाभ उसी आत्मा को होता है जो कषाय की वासना से परे रहता है। जिसने कषाय पर विजय पा ली या विजय पाने के सन्मुख है वही धन्य हैं और वही सच्चा सन्मार्ग गामी हैं। वीर वही है जो कषायो पर विजय प्राप्त करता है। जितने भी विकल्प है सब कषायो के आधीन हैं। कषाय की निवृत्ति ही धर्म है। जहा तक बने उसे हटाने का प्रयत्न करो। श्रेयोमार्ग तो आन्तरिक कलुषता के अभाव मे है। कषाय दूर करने के लिये जन-ससर्ग विषयो की प्रचुरता और विशेषतया जीभ की लौलुपता का त्याग आवश्यक है।

मीठा विष लोकेषणा सबसे बडा दोष यदि हममे है तो यह है कि हम सबको खुश करना चाहते हैं और इसका मूल कारण यह भाव है कि सब हमको अच्छी दृष्टि से देखे। अर्थात् यह कहे कि देखो कैसा शुद्ध आदमी है। इस लोकषणा ने ही हमे पतित कर रखा है। जिस दिन इस कलक का प्रक्षालन हो जायेगा उसी दिन आनन्द की भेरी बजने लगेगी। लोक रजना के चक्कर मे पडे मानव उन शब्दो का व्यवहार करते हैं जिनसे लोग समझे कि यह बडा विरक्त है। परन्तु उनमे विरक्तता का अश भी नही। यदि विरक्तता का अश होता तो स्व प्रतिष्ठा के भाव ही न होते। सबको प्रसन्न करने की चेष्टा अग्नि मे कमल उत्पन्न करने की चेष्टा है। परमार्थ से यह हमारे हृदय की बहुत बडी दुर्बलता है। प्राय जितने आदमी मिलते है सर्व

प्रशसा द्वारा साधु को उत्तम रूप देना चाहते हैं। मेरा यह अनुभव है कि प्रशसा से आदमी की गुरुता लघुता म परिणत हो जाती है। जहा प्रशसा हुई वहा उसे कर आदमी प्रसन्न हो जाता है और जहा निन्दा हुई वहा दुखी हो उठता है। वस्तुत प्रशसा और नि दा दोनो ही विकृत रूप है। माया क निमम कटाक्षा के बधने से आत्म-ज्ञान पराड्मुख होकर व्यक्ति अनन्त ससार की यातनाओ के पात्र होते हैं। झूठी प्रशसा कर दूसरो को प्रसन्न करने का तात्पय कवल स्वात्म प्रशसा है। हमारा व्रत तप ज्ञान दान सभी का प्रयाजन केवल स्वात्म प्रशसा की ओर रहता है। यही अशान्ति का कारण है। यह मूढ जीव बाह्य प्रशंसा मे आत्म गौरव को खो बठता है। आत्मा न तो गौरवशाली है न लाघवशाली है जसा है वसा ही है। यह गौरव लाघव विचार कषाय के सद्भाव असद्भाव से होता है। प्रत्येक मनुष्य के यह भाव होते हैं कि लोक मे मेरी प्रतिष्ठा हो। यद्यपि इससे कोई लाभ नही फिर भी न जाने लोकेषण क्यो होती है। लौकिक प्रतिष्ठा पतन का कारण है जिन्हे उसके द्वारा हर्ष होता है वे तत्वज्ञान से पराड्मुख है। मनुष्य को माया और कीर्ति कामिनी से सदा बचते रहना चाहिये। मनुष्य मे सबसे बडा अवगुण अपनी प्रतिष्ठा का है। लोकेषणा की मूर्च्छा ही लाक म काय करने मे प्रवृत्ति कराती है काय स जो बचता है उसमे भी यही लोकेषणा का कारण है। एक ओर ता यह कहन है कि हमने कुछ नही किया परन्तु दूसरी ओर प्रशसा की अन्तरग वासना स्थान बनाये अपना काम कर रही है। यदि तुम्हारे कत्तव्य भाव न था तो फल की इच्छा कसी। ससार मे प्रति ठा पान क लिये धम का आचरण अधोगतिका कारण है। लौकिक प्रतिष्ठा क लिय यदि तुम ज्ञानादि का अजन करते हा ता अजन करना न करने क ही बराबर है। ससार म जो मनुष्य नाम के लोभ से दान देन है मेरी समझ मे ता उनका पुण्य व ध भी नहा होता। पहल नाभ कषाय स ग्रहण किया था अब मान कषाय से त्याग रहे है कषाय म पिण्ड न छूटा पर हा इतना हुआ कि दानी कहलाने लगे। ससार म प्रतिष्ठा काई वस्तु नही इसकी इच्छा ही मिथ्या है। जो मनुष्य ससार-बन्धन को छाडना चाहते हैं वे लोक प्रतिष्ठा को कार्ड वस्तु नही समझते। लोक प्रतिष्ठा की लिप्सा ने इस आत्मा को इतना मलिन कर रखा है कि वह आत्म गौरव पाने की चेष्टा ही नही कर पाता। लोक प्रतिष्ठा का लोभी आत्म प्रतिष्ठा का अधिकारी नही। लोक मे प्रतिष्ठा उसी की होती है जो अहकार एव ममकार से मुक्त है।

☆

६६ पर निन्दा-आत्म प्रशसा

पर की प्रशंसा या निन्दा से स्वरूप पराङमुखता न हो जाये इस ओर निरन्तर सतर्क रहो। किसी की मिथ्या प्रशसा करना अपने को गिराना है। जहा पर पराई निन्दा और अपनी प्रशसा होती हो वहा बहरे बन कर रहो। अन्य प्राणी की प्रशंसात्मक कथा से आत्मा का हित भी होता है और अहित भा होता है। किन्तु जहा पर केवल अपनी प्रशसा के अर्थ पर की कथा की जाती है वहा केवल पाप सञ्चय कराने वाला भाव ही होता है। अभिप्राय मे जो अपनी प्रशंसा की इच्छा है वह मान कषाय की परिचाय की ही है। अपनी गलतियो को छिपाने के अभिप्राय से ही मनुष्य आत्म प्रशसा और पर नि दा कर दुगति के पात्र बनते हैं। जहां प्रशसा हुइ वहा प्रसन्नता और जहा नि दा हुई वहा अप्रसन्नता का अनुभव करते हैं अत जहा पर यह व्यवस्था है वहा शान्त रस का आस्वादन तो दूर रहे उसकी ग ध भी नही आ सकती। स्वात्म प्रशसा के लिये ही मनुष्य ज्ञानाजन करते हैं धनाजन करते है पर निन्दा तथा स्वात्म प्रशसा करते हैं पर मिलता जुलता कुछ नही। जब तक हमारी यह भावना है कि लोग हमे उत्तम कहे और हमे अपनी प्रशसा सुहावे तब तक हम से मोक्ष मार्ग अति दूर है। जो अपनी प्रशस्ति चाहता है वह माक्ष मार्ग मे कण्टक बिछाता है। आत्म श्लाघा मे प्रसन्न होना ससारी जीवो की चेष्टा है। जो मुमुक्षु हैं वे इन विजातीय भावो से अपनी आत्मा की रक्षा करते हैं उन्नत होने के लिये आत्म प्रशसा की आवश्यकता नही आवश्यकता सद्गुणो के विकास की है।

दूसरो की आलोचना करना सरल है किन्तु अपनी त्रुटि देखना विवेकी मनुष्यो का कतव्य है। परकी आलोचना से आत्महित होना दुलभ है अपने उत्कष को व्यक्त करने की जो अभिलाषा है उसे पूर्ण करने के लिये मनुष्य जब पर की आलोचना करता है तब उसका ही कलुषित परिणाम उसके सुगुणो का घातक बन बठता है। दूसरो की कथा कहने मे सार नही। अपने अपने परिणामो के अनुकूल कार्य करो यही सम्यग्ज्ञान है। सब जाव अपने अपने प्रयोजन को देखते हैं अत किसी को अपराधी मानना मूर्खता है। हम कहते हैं कि संसार स्वार्थी है। तब क्या इसका यह अर्थ है कि हम स्वार्थी नही। अपने दोषो को कोई नही कहना चाहता। निरन्तर महान बनने की चेष्टा करता है भले ही काम अ यथा करे। यही तो भूल है अपने आपकी

समालोचना ससार ब धन से मुक्ति का प्रधान कारण है। आत्मागत दोषो को पृथक करने की चेष्टा ही श्रेयस्कर है। अन्य की समालोचना केवल पर्यवसान म दु सस्कार का हेतु है। जो अपनी समालोचना में नही घबराते अ त म वे ही विजयी होते हैं। दूसरे के द्वारा की गई समालोचना को धर्यपूर्वक सुनने की आदत डालो और उससे लाभ उठाओ। अन्तरग की बात क ने म भी लाभ नही क्योकि उसमे भी यह भाव रहता है कि देखो हमारी परिणति इतनी सरल है कि अपनी भावना को यक्त कर दिया अत उत्तम माग तो यह है कि निरन्तर अपने भावो को शुभ और अशुभ के कलङ्क से र्ति रखे।

७० कर्त्तव्यपथ-कहनी नही करनी

कल्याण की प्राप्ति मे ज्ञान ही कारण है यह तो मेरी समझ मे नहा आता। ज्ञान से पदार्थों का जानना होता है और कवल जानना कल्याण म सहायक होता नही। अत उत्तम तो यही है कि ज्ञान के द्वारा जान कर जा परिणाम ब ध के कारण हो रहे हैं उ हे यागना चाहिये। इसा स क याण गा। अन्तरग रागद्व ष को जीतने म केवल कथा और शास्त्र स्वाध्याय ही कारण नही ह अपितु पर-पदार्थों मे जो इष्टानि ट कल्पना होती है उसे न होने देने का पुरुषाथ करना भी आवश्यक है। तात्त्विक विचार का यही महिमा है कि यथाथ मार्ग पर चले। स्वाध्याय का फल केवल ज्ञान की वृद्धि नही है किन्तु स्वा मतत्त्व को स्वावलम्बन देकर शान्ति माग मे जाना मुख्य ध्यय है। ज्ञानाजन स हम ससार म अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं संसार स मुक्त होना न ा चाहते अ य को तुच्छ और अपने को महान बनाने के लिय उस ज्ञान का उपयोग करते है। जिस ज्ञान से भेद ज्ञान का लाभ था आज उसस हम मान कषाय बढाना चाहते है।

शास्त्र प्रवचन और बात है। अन्तरङ्ग की श्रद्धा और बात है। श्रद्धा के अनुकूल प्रवृत्ति हर एक का नही होती। उपर के बगुला भगत हस न ी हो सकते। कहने स करने म महान अन्तर है सभी कहत है कि रागादिक परम दु ख के कारण है गीत पाठ पढ लेते है प न्तु कर्त्त य पथ म प्राय वचित रहते है। ब त कहने मे कुछ भी न ा लगता परन्तु तद्र प होना कठिन है। बडा कलङ्क यह है कि तुम (वचन द ता) जो कहते हो उस पर अमल नही करते। कहने की प्रकृति छोडो क ने का अभ्यास करो। जीवन उसी का अच्छा है जो परम हित मे रत रहता है। गल्पवाद की अपेक्षा कर्त्तव्यपथ मे विचरण उत्तम है। अति चर्चा द्वारा श्रयामाग की प्राप्ति अति दुलभ हो जाती है। कल्याण का माग तो निर्मल परिणामो मे होता है। कोई किसी का नही इस बात को केवल कहने मात्र की न रखकर अमल मे लाओ। बहुत जल्दबाद दम्भ मे परिणत हो जाता है। बात कहने की अपेक्षा एक काम करना श्रयस्कर है। उपदेश उतना दो जितना अमल मे आ सके। कार्य करने की आन्तरिक इच्छा होनी चाहिये तभी उस ओर उद्योगशील हुआ जा सकता है। केवल लेख लिख देने भाषण

दे डालने या विवाद प्रतियोगिता मे भाग ले लेने मात्र से कुछ नही होता। मनुष्य को यह उचित है कि वह अपना लक्ष्य स्थिर कर उसी के अनुकूल प्रवृत्ति करे। शास्त्र पढना उसी का हितकर होता है जो स्वय उस पथ पर चलता हो । परिणामो को पवित्र करो यही तो शास्त्र को पढने का फल है।

७१ निवृत्ति मार्ग—वृत धरणा

त्याग की भावना इसी मे है कि वह आकुलता से दुषित न हो। जितना भी भीतर से त्यागोगे उतना ही सुख पाओगे जितनी ही कषाय का उपशम होता है उतना ही त्याग होता है। हम लोग केवल शास्त्रीय परिभाषाओ के आधार से त्याग करने के व्यसनी हैं। किन्तु जब तक आत्म गत विचार से त्याग नही होता तब तक त्याग त्याग नही कहला सकता। बाह्य वस्तु का त्याग करना कठिन नही। अभ्यन्तर कषायो की निवृत्ति ही कठिन है। बाह्य त्याग की वही तक मर्यादा है जहा तक वह आत्म परिणामो की निमलता का साधक हो प्राणिमात्र का कल्याण राग त्यागने मे है त्याग की ऐसी महिमा का गान करते हैं। परन्तु राग त्याग की ओर अणुमात्र भी लक्ष्य नही। राग छोडो वस्तु को छोडने की आवश्यकता नही। वस्तु तो राग क अभाव मे स्वय छूट जायेगी रोटी खाने से पेट तो खुद भर जायेगा। केवल द्र य लिंग ग्रहण मत करो आत्मा को नग्न करो। त्यागी वही प्रशसा का पात्र है जा जिते द्रय है। हम लोग मोही है। एक घर छोडकर ससार को अपना घर बनाने की चेष्टा करते हैं। व्रत त्यागी के लेते हैं परन्तु त्याग के महत्व का नही समझत। यही कारण है कि श्रावको के स्नेही है और यही स्नेह नरक का कारण होगा। अपने कार्य के लिये अ य पर निर्भर मत रहो। त्याग का अर्थ यह नही कि समाज के लिये भार बनो। यदि तुम त्यागी न हाते तब निर्वाह के अर्थ कुछ व्यापार आदि करते। उसमे तुम्हारा कुछ समय जाता। अत तुम्हारा जो भोजनादि द्वारा उपकार करे उसका ज्ञानादि द्वारा तुम्ह भी प्र युपकार कर उऋण होना चाहिये। त्यागी लोग संयम की आर द ि ट रख तो यह निन्द अवस्था क्यो हो।

अन्तरग की वृत्ति मे जब तक परिवर्तन न होगा बाह्य त्याग दम्भ है। व्रत उत्तम वस्तु है परन्तु यह काल व्रतियो के प्रतिकूल है इसलिये व्रत का निर्वाह होना कठिन है। कोई घर ऐसा नही जिसमे अशुद्ध औषधि प्रयोग म न लाई जाती हो। व्रत के माने तो यह है कि आगम के विरुद्ध प्रवृत्ति न होनी चाहिये। तथा ऐसा करना प्रायश्चित से भी शुद्ध नही हो सकता। जानकर अपराध करना अत्यन्त अन्याय है।

विवेकहीन व्रत ससार का कारण है। विवेक का अर्थ चरणानुयोग की पद्धति के ज्ञान से है। आवेग में आकर व्रत ग्रहण मत करो। व्रत ग्रहण

का फल निवृत्ति मार्ग की प्राप्ति मे है बाह्य-व्रत का उपयोग पूर्वोक्त चरित्र क अथ है। यदि व न हुआ तो जसा व्रती वसा अव्रती। मन्द-कषाय व्रत का फल नही वर तो मिथ्यात्व-गुण स्थान म भी हो जाता है। व्रत का फल ता वास्तव मे चरित्र है। उसी से आ मा म पूर्ण शान्ति का लाभ हाता है जो नियम करो पूर्वा पर परामश करक करो। यदि कोई विवेकी बुद्धिमान "मे अनावश्यक बतलावे तो उसे याग दा अपने परिणाम निर्मल रहे इसलिये व्रत पाल जो व्रत लिया है उस सद्भावना स पालो। किसी से पुजवाने का अभिप्राय मत करो। किसी का तुच्छ मत मानो। लाकनिन्दा क भय मे व्रत का पालना कोई लाभप्रद नहा। आतमा को जो भयादि परिणति है। उस दूर करने की चेष्टा करो। व्रत धारण करना सहज है परन्तु उसका निर्वाह करना बहुत कठिन है। जिसन निर्वाह किया वही व्रती है। (शुद्ध परिणामो स किया गया व्रत ही व्रत हाता है। अ यथा कष्ट हागा।) मूर्छा याग ही व्रत है। व्रत वस्तु भीतर की है। यो तो सहस्रो व्रती है। परन्तु प माथ स बि ला ही व्रती होगा। कषाय के उदय मे कार्य ह ता है महाव्रती भी व्रत न ा क ता। महाव्रत हात है जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि विषय भाग नहा चाहता परन्तु व हात है।

दम्भ निषेध —नि कपट होकर जा काम करता है वही माक्ष माग का पात्र हाता है। भाजन करने मे प्राय सादगी नही त्याग का कवल बहाना है अ तरङ्ग याग की आर लक्ष्य नही। केवल बाह्य याग स लागा की दृष्टि म चमत्कार है। आभ्य तर याग से अभी हम लाग बहुत दूर हैं। मिथ्या स तोष मत करा सत्य सन्ताष वह पदाथ है कि जिसमे अन्तरग मे पर वस्तु की इच्छा ही नही होती अन्तरग म यदि इच्छा की प्रचु ता है और ऊपर स लोक प्रतिष्ठा के लिये त्यागी बनत है ता वह त्याग त्याग नही दम्भ है दम्भ ही नही आलस्य का पोषण है दूसरा को धोखा दना और आत्मवञ्चना है। जहा ये तीनो पाप है वहा आतमोत्थान की आशा ही व्यथ है। कषाय के कारण जब अन्तरग म और बाह्य प्रवृत्ति म कुछ और ही यवहार होता है तब उस अभद्र तथा अपवित्र व्यवहार कहा जाता है उसे ही दम्भाचार भी क ते है। ऐसे आचरण वाला व्यक्ति माक्ष मार्ग का पथिक नही हो सकता। ससार मे ऐसी प्रवृत्ति मत करो जो अभ्यन्तर से कुछ और हो और बाह्य से कुछ और। इससे तुम स्वय अपने को ठग रहे हो। धम के नाम पर जगत ठगाया जाता है प्रत्यक्ष ठग स धम ठग भयकर होता है धम रत्नत्रय रूप है उसमे बञ्चना के लिये स्थान नही है। आत्मीय रागादि की निवृत्ति जब तक नही है तब तक यह (चरित्र) दम्भ है। यदि आतम-कल्याण करना चाहते हो तो इन बाह्याडम्बरो का प्रभुत्व देख इनसे पृथक होने की चेष्टा

करगे। यर्थ की पशंसा मे पडकर आत्मा को वञ्चत करने का ढग मत बनो काई काय करो आत्मा को धोखा मत दो कोई मीमांसा करे चाहे न करे परन्तु तुम अपनी प्रवृत्ति आत्मा के अनुरूप करो। ससार की प्रसन्नता या अप्रसन्नता से न तो लाभ है और न अलाभ। घर को त्याग कर जो मनुष्य जितना दम्भ करता है वह अपने का प्राय उतने ही जघन्य मार्ग मे ले जाता है। मनुष्य का सन्तोष करना उचित है। कार्य करने का पुरुषार्थ करना उचित है कार्य होना न होना भाग्य के आधीन है। इच्छा या अभिलाषा के शान्त हुए बिना ऊपरी त्याग की कई महिमा नहीं है।

जो विषयों से विरक्त है वह नरक की भारी वदना को दूर हटा देता है तथा अरहन्त पद को प्राप्त करता है ऐसा वर्धमान जिनेन्द्र ने कहा है।

—

७२ यथार्थ धम दिग्दर्शन

आजकल लोगो ने धर्मात्मा बनने के बहुत सीधे और सरल उपाय निकाल लिये हैं थोडा स्वाध्याय कर लिया आसम जमाकर आँख मीचकर एक घण्टा माला फेरने की प्रथा निभा दी दस व्यक्तियो के समुदाय मे ससार असार है कथा कह डाली न्याय मार्ग की शब्दो से पुष्टि करदी बहुत हुआ तो पर्व के दिन व्रत उपवास कर लिया और भी विशेष काम किया तो किसी त्यागी महात्मा को भोजन करा दिया बस धर्मात्मा बन गये ।

कल्याण मार्ग मोही जीवो ने इतना गहन बना दिया है कि सामान्य आदमी श्रवण कर उसे धारण करने मे असमथ हो जाता है । बाह्य मे इतने क्रिया काड उसके साथ लगा दिये जाते है कि उन्ही क करने मे सारा समय चला जाता है अत आचरण करने को समय ही नही बच पाता । परन्तु ये सब ऊपरी बात हैं आत्मा के प्रदेशो मे तादात्म्य से बठा हुआ रागादिभाव जब तक नही गया तब तक यह आचरण दम्भ है । हमलोग रुढि के उपासक हैं । धम क वास्तविक तत्व से दूर हैं । उचित तो यह है कि पर पदार्थों से जो आत्मीय सम्बन्ध है उसे त्यागना चाहिये । जब तक यह न होगा सभी क्रियाये नि सार है ।

चारित्त खलु धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हो समो ॥

अर्थात् चारित्र ही धम है । उसी का नाम साम्य है । उसी मे यथार्थ आत्म स्वभाव है अर्थात् दर्शन मोह और चारित्र मोह के उपशम मे आत्मा मे जो मोह का अभाव होता है इससे आत्मा का जो निर्विकार परिणाम होता है इसी का नाम चारित्र है इसी का नाम समता है और इसी का नाम धम है । धम का व्यवहाररूप और है भीतरी रूप और है । शरीर की शुद्धता और है आत्मा की शुचिता इससे परे है और उसी के लिये यह धर्म है धर्म का लाभ प्रतिज्ञा पालने से नही होता । वह तो निमित्त है । धर्म-लाभ तो आत्म परिणामों को निमल रखने से ही होता है । धम का मूल कारण निर्मलता है और निमलता का कारण रागादि की न्यूनता है । रागादि की न्यूनता पचेन्द्रिय विषयो के त्याग से होती है । केवल गल्पवाद मे धर्म नही होता धर्म तो सासारिक कष्टो से निवृत्ति कराने का कारण है । उसे

लौकिक कार्यों के लिये करना महान मूर्खता है। रूढ़ि के अनुसार चलना और बात है धर्म का स्वरूप समझ लेना और बात है। अन्तरङ्ग में धर्म की रुचि होनी चाहिये केवल गल्पवाद तो श्रवण ही का विषय रहता है। अधिक हुआ तो उसका अर्थ बोध हो गया। पर की अपेक्षा से धर्म साधन नही होता। धर्म साधन तो निरीह वृत्ति से होता है। धर्म उसको कहते हैं जो समय के अनुकूल हो जिसमे आत्मा को शान्ति मिले। जहा आत्मा को शान्ति नही मिलती वहाँ धर्म का लाभ नही प्रत्युत अधर्म होता है। हमलोग इतने मूढ हो गये कि मार्ग की सरलता को भूल गये केवल बाह्य क्रिया मे धर्म मानकर मुग्ध हो गये।

७३ समता—मानव धर्म

मोहवह्निमपाकर्तु स्वीकर्तु संयम श्रियं ।
छेत्तरागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्बताम् ॥

यदि मोह अग्नि को दूर करना चाहते हो तथा संयमरूपी लक्ष्मी को स्वीकार करने की अभिलाषा है तथा रागवृक्ष को छेदन करने की वांछा है तो समत्व का अवलम्बन करो। समता भाव ही मोक्षाभिलाषी जीवों का मुख्य कर्तव्य है और सब शिष्टाचार मात्र हैं। संसार में सभी पदार्थों को समान देखो इसका यह अर्थ नहीं कि गधा घोड़ा स्वर्ण लोहा सभी को समान समझो किन्तु यह अर्थ है कि किसी पदार्थ में राग द्वेष न करो। कल्याण का मार्ग अति सुलभ है। न तो किसी से प्रीति करो और न किसी से अप्रीति करो। जब यह निश्चय हो गया कि न तो मेरा कोई शत्रु है न मित्र है तब उन पदार्थों से किसलिये सम्बन्ध रखना। मोक्ष के पथिक का न राग करना न द्वेष करना केवल मध्यस्थ रहना। उत्तम मनुष्य वे हैं जो निर्दोष आचरण कर निर्भीक हो परकृत निन्दा प्रशंसा के द्वारा दुखी और सुखी न हों। संसार में दुःख के सिवाय सुख नहीं यह कहना सामान्य मनुष्यों को मार्ग पर लगाने के लिये है। दुःख का मूल कारण मिथ्या भाव है। वही जीव धन्य है जो आपत्ति सम्पत्ति दुःख सुख निन्दा प्रशंसा विषाद और हर्ष में सदा समभाव रखता है। जिसके इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग में धीरता रहती है वही संयम का पात्र है। कल्याण का मार्ग उसी को प्राप्त हो सकता है जो प्रत्येक अवस्था में सुखी रहता है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता के विकास में है व्यर्थ के जाल में पड़ने से नहीं। मनुष्य वही है जिसमें मनुष्यता का व्यवहार है। मनुष्यता वही है जिसके होने पर स्व पर भेद विज्ञान हो जावे। स्व पर भेद विज्ञान वही है जिसके सद्भाव में आत्मा सुमार्ग गामी रहता है। सुमार्ग वही है जिससे आत्म परिणति निर्मल रहती है और आत्म निर्मलता वही है जिससे मानव मानवता का पुजारी कहलाता है। सुहृदयता पूर्ण शिष्ट और मिष्ट व्यवहार का नाम मानवता है। जीवन उसी का सार्थक है जो पराये दुःख में सहायता करता है। गल्पवाद की अपेक्षा कर्तव्य पथ में विचरण करना उत्तम है। ऐसा व्यवहार करो जो किसी को कष्ट न हो। अपने ही सदृश दूसरों को मानो पर की उत्कृष्टता देख प्रसन्न हो और यही उत्तम बनने का मार्ग है। हर समय प्रसन्न

रहो हर अवस्था मे पर के हित के लिये ध्यान रखो। भला मनुष्य वही जो भलाई को जाने। जिसने इस अमूल्य मानव जीवन से स्व पर ाांति का लाभ न लिया उसका ज म अर्कतूल के सदृश किस काम का ? मनुष्य वही है जो अपनी प्रवृत्ति को निर्मल क ता है। ससार स्नेहमय है इस स्नह पर जिसने विजय पाली वही मनुष्य है मनुष्य वही है जो अपने बचनो का प लन करे। मनुष्य का सबसे बडा गुण सदाचारता और विश्वासपात्रता है। मानवता उस यवहार का नाम है जिससे दूसरा को दु ख न पहुचे उनका अहित न हा एक दूसरे को क्रोध की भावना जागृत न हो। मक्षेप मे सुहृदयतापूण शिष्ट और मिष्ट व्यवहार का नाम मानवता है। जिस तरह मकान पक्का बनाने क लिय नीव का पक्का होना आवश्यक है उसी तरह उज्जवल भविष्य निर्माण क लिये बाल जीवन के सुसस्कार तथा सदाचारादि का सुदृढ होना आवश्यक है। सदाचार के बिना सुख पाने का य न करना आकाश के पुष्प चयन सदृश ह। सदाचारी मनुष्य राष्ट की वह आ मा ह जो अजर अमर रहती ह और दुराचारी मनुष्य राष्ट्र का वह श ीर ह जिसे सदा सुरक्षित रखने पर भी राज रोग लगे ही रहते हैं। सदाचार का प्रारम्भ राष्ट्र की उन्नति का प्रारम्भ ह और दुराचार का प्रारम्भ राष्ट की अवनति का प्रारम्भ ह। ससार मे समस्त सुन्दरता श्रष्ठता और स सामाजिकता यदि प्राप्त हो सकती ह ता ह एक मात्र सदाचार से ही। यदि मदाचार है तो दु ख पूण ससार भी स्वर्ग ह और यदि असदाचार ह ता सुख पूण स्वर्ग भी नरक ह। सदाचार ही जीवन है। इसकी निरन्तर रक्षा करने का प्रत्यन करो। धार्मिकता नातिमत्ता बुद्धिमता और आ म दृढता ये सदाचार की चार कसौटिया है। सदाचारी मनुष्य के लिये दृढ निश्चय उत्साह साहस और कर्तव्य जहा बरदान ह वहा दुराचारी मनुष्य के लिये वे अभिशाप हैं। सदा सत्कार्य करते रहना सदाचार के मार्ग पर चलना ह। सभ्यता और असभ्यता विद्या से नहीं जानी जाती। जो सदाचारी ह वह सभ्य ह और जो असदाचारी है वह असभ्य है। सद्भावनाओ क बल पर जो नामवरी मिल सकती है वह बडी भारी सम्पत्ति और पोथी पराक्रम शीलता के बल पर नही मिल सकती। जिनके पास सदा चार की सुनिधि है वे सच्चे अर्थ में पुण्यात्मा महात्मा एवम् सम्मानित साहूकार हैं।

जो कहो उस पर दृढ रहो अर्थात् उपदेष्टा मत बनो। किसी से रुष्ट मत होओ तथा आध्यात्मिक प्रसन्नता भी व्यक्त मत करो। किसी सस्था से अनावश्यक सम्ब ध मत रखो। परकी चिन्ता मत करो। स्पष्ट व्यवहार करो। पर को अपराधी बनाना महती अज्ञानता है। पर की समालोचना अपनी आत्मीय कलुषता के बिना नही होती। सुख उसी को हो सकता है जिसकी

प्रवृत्ति निमल हो प्रवृत्ति की निमलता उसी को प्राप्त हो सकती है जिसका आशय पवित्र हो आशय पवित्र उसी का हो सकता है जिसने अनात्मीय पदार्थों मे आत्मबुद्धि त्याग दी। जो इतना कर सकता है वही सासारिक बधनो से छूटकर सच्चा सुखी हो सकता है । समय की प्रतिष्ठा आत्मा की प्रतिष्ठा है इसलिये जितना भी हो सके समय का सदुपयोग करो । जिस कार्य के लिये जो समय नियत है उसे उसी समय करो । ऐसा करने से चित्त मे स्थिरता और स्फूर्ति आवेगी । समय की प्रतिष्ठा करा इससे तुम मनुष्य बन जाओगे । मूर्ख स मूख मनुष्य समय का आदर करने से पण्डित हो जाते हैं क्योकि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ सग्रह करते है और कालान्तर मे उनकी गणना बुद्धिमानो मे हाने लगती है तथा जो बड बड कुशाग्र बुद्धिशाली हाते हैं वे आलस्य के वशीभूत हा मूर्खों मे गणना के पात्र हो जाते हैं । समय की प्रतिष्ठा आत्मा की प्रतिष्ठा है इसलिये जितना भी हो सके समय का सदुपयाग करो अर्थात् धार्मिक भावो से ओत प्रोत रहो । जिससे आत्मा उन भावो से बचे जो आकुलता के जनक है । असाता के उदय मे क्लेश मत करो सातोदय मे हष मत करो शान्त भाव से कम के उदय को देखो जानो । ऐसी चेष्टा मत करो जो कोई विकल्प न हो । विकल्प ही ससार की जननी है । विकल्प चाहे सत् हो चाहे अस्त हो आकुलता ही की जननी है। व्रत मे सावधानी रखा केवल भूखे रहना कार्यकारी नही । धर्म वह वस्तु है जहाँ कषाय पूवक मन वचन काय क व्यापार रुक जावे । वही धर्म मोक्ष मार्ग है । आत्मा का निरन्तर आलम्बन करो । वही परमात्मपद का अद्वितीय पथ है । व्यवहार से परमात्मा निश्चय मे आत्मा । एक को सदा त्यागो एक सेकड भी इसम विलम्ब मत करो । वह वस्तु अन्य कुछ नहा पर पदार्थ मे आत्मीय कल्पना है । जिसके यह कल्पना है वही मोही जीव है । अत इस कल्पना अस्तित्व मे अपने को ज्ञानी मत मानो । धम किसी का मूल धन नही है प्राणीमात्र का है । उस पर भी लोगो ने हक जमाने की चेष्टा की । जो नियम लो उसका पालन करो । उपदेश देकर मान की आशा न करो । सदवचन बोलो । अल्प विहार करो । यथार्थ सत्य कहो । कटुक भाषा का प्रयोग न करो । सत्य का पालन वही कर सकता है जा ससार स भयभीत हो । जो लोक प्रतिष्ठा चाहता है वह मुमुक्ष नही । ससार मे प्राणिमात्र के प्रति सद्व्यवहार से प्रवृत्ति करो । किसी को तुच्छ मत मानो तुच्छ मानना मान कषाय का द्योतक है । मान कषाय ही ससार मे दुखदाता है । मनुष्यो से मनुष्यता का व्यवहार करो क्योकि जसे आप मनुष्य हो वसे ही अन्य भी मनुष्य हैं ।

☆

७४ विवेक

मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। इसका सदुपयोग यही है कि निजको जानकर परको त्याग कर इस ससार बन्धन से छूटने का उपाय करना चाहिये। छूटने का मूल कारण संयम भाव है। इसका यही तात्पर्य है कि सब ओर से अपने को हटाकर अपने में लीन हो जाना यही ससार के विनाश का मूल है। अत सबसे मोह त्यागो यह हमारा ही कहना नही महापुरुषा ने भी तो य ी मार्ग दिखाया है। महापुरुष वही है जो रागद्व ष को निमू ल करने का प्रयत्न करता है। रागद्व ष के अभाव मे मूल कारण माह का अन्त है। उसका अन्त करने वाला ही सर्व पूज्य हो जाता है। पूज्यता अपूज्यता स्वाभाविक पर्याय नही किन्तु निमित्त पाकर आविभू त होती है। जहा मोहाविरूप आत्म परि णति होती है वही अपूज्यता का व्यवहार हाने लगता है और जहाँ इनका नाश होता है वही पूज्यता का व्यवहार हाने लगता है। पूज्यता अपूज्यता किसी जाति विशष वाले व्यक्ति की नही होती। जहाँ पापा की निवृत्ति होकर आत्म श्रद्धा हो जाती है वही पूज्यता आ जाती है और जहा पापो की प्रवृत्ति होने लगती है वही अपूज्यता का व्यवहार होने लगता है।

शत्रु कौन –ससार एक विशाल कारागृह है। इसका सग्क्षक कौन है इसको यह दृष्टिगोचर तो नही फिर भी अन्तर से सहज ही पता चल जाता है कि वास्तव मे इसका संरक्षक मोह है। इसके दो मन्त्री हैं। राग और द्व ष। इसके द्वारा आत्मा मे क्रोध मान माया और लोभ का प्रकोप हाता है। क्रोधादि के आवेग मे यह जीव नाना प्रकार के अनर्थ करता है। जब क्रोध का आवेग आता है तब पर को नाना प्रकार के कष्ट देता हैं। स्वय अनिष्ट करता है तथा पग से भी कराता है अथवा उसका स्वय अनिष्ट होता हो तो हर्ष का अनुभव करता है। यद्यपि पर के अनिष्ट से इसका कुछ भी लाभ नही पर क्या कर लाचार है। यदि पर का पुण्योदय हो और इसके अभिप्राय के अनुकूल उसका कुछ भी बांका न हो तो यह दाह मे दुखी होता रहता है।

मान के उदय में अपनी प्रतिष्ठा के लिये पर की निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है। यदि कोई जैसा आपने इच्छा की थी वैसा ही मान ले तो फूलकर कुप्पा हो जाता है। कहता है हमारा मान रह गया। पर मूर्ख यग विचार नही करता कि हमारा मान नष्ट हो गया। यदि नष्ट न होता तो वह भाव सर्वदा बना रहता। उनके जाने से ही तो आनन्द आया परन्तु विपरीत

उद्ध मे यन मानना है कि मान की रक्षा से आनन्द आ गया। माया कषाय भा जीव का इतन प्रपञ्चा मे फसा देती है कि मन मे तो और है वचन स कुछ क ना है और काम क द्वारा अ य ही कुछ करता है। मायावी आदमी ऊपर म ता रान लि वता है और भीतर अत्यन्त वक्र परिणामी होता है। मायाचारी क वशीभूत हाकर जा न करे सा कम है। इसी तरह लोभ के वसीभूत हाने से ससार मे जो जा अनथ हाते है व किसी से अविदित नही। हजारो लाभ को पाप का बाप कहा है। लोभ कषाय की प्रबलता कुछ नही हाने देती। राजाओ स प्रजा का पिण्ड छुडाया परन्तु अधिकारी वर्ग ग्मा मिला कि उनसे बदतर दशा मनुष्यो की हा गई। अत जहाँ तक बने लाभ का कृश करो। क्राध मान माया और लोभ ये चार कषाय ही आत्मा क सबमे प्रबल शत्र है।

—मिथ्यादशन—

यह आत्मा स्वभावत शुद्ध व निरजन होने पर भी मोह के द्वारा विडम्बना का प्राप्त हो रही है। अनादिकाल स जा पर्याय पाई उसी मे अप न व की कल्पना कर ली। यद्यपि यह मनुष्य पर्याय असमान जातीय पुद्गल और जीव के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। तो भी माहजन्म विडम्बना के कारण यह अपने स्वरूप को न जान इस सयोग पर्याय को अपनी मानता रहा। कभी अपन का ब्राह्मणादि माना कभी आश्रमवासी मान कभी किसी रूप माना और कभी किसी रूप परन्तु इन सबमे परे जो आत्मा का शुद्ध विविक्त जात्य उज्ज्वल स्वरूप है उसकी ओर दृष्टि नही दी। वास्तव मे विचार कर देखा जावे तो आत्मा न ब्राह्मण है न क्षत्रिय है न वश्य है न शूद्र है और न किसी ब्रह्मचय गृहस्थ बान प्रस्थ तथा सन्यासी आश्रम का धारक है। ये सब तो शरार की अवस्थाय हैं। इन रूप आत्मा को मानना माह का विलास है। यह मैं हू इत्यादि अहकार ममकार के द्वारा उठाया गया चतना के विलास से परिपूण जो आत्मा उसके व्यवहार स च्युत होकर अन्य कार्यों म उलझ रहा है।

चार सज्ञायें

अनादि से यह जीव शरी को निज मानता है। आहार भय मथुन और परिग्र इन चार सज्ञाओ मे ही इस जीव का समग्र समय निकल जाता है। ा म हित की आ इसका लक्ष्य ही नही जाता। सज्ञाओ की परिपाटी म निकल जाना किसी बिरल निकट भव्य का कार्य है। ससार के सब प्राणी अ ार की अभिलाषा स सत्रस्त हैं। आहार के अथ ही उसके समस्त उपाय है यदि आहार प्राप्ति की आकाक्षा मुनि के हृदय मे न हाती तो वन छाड़ क शहर क दूषित वातावरण म क्या आते। भय हाने पर जीव भागने की

इ-छा करते है। वृद्धावस्था से शरीर जर्जर है। अनेक रोगों की असह्य वेदना भा उठा रहा है फिर भी इस जीव को भय लगा रहता है कि मर न जाऊँ यह पर्याय छूट न जाय। मथुन संज्ञा मे विषय रमण की इच्छा होती है। विषयेच्छा मे जो अनर्थ होते है वे किसी से गुप्त नही है। इसका लाभी मनुष्य निन्द्य से निन्द्य कार्य करने म भी सकोच नही करता। यहा तक दखा गया है कि पिता का सम्ब ध साक्षात पुत्री स हा गया उत्तम से उत्तम राज पत्नी नीचो के साथ ससर्ग करने मे नही डरती जसे पिंगला रानी ने सकोच नही किया। जिसने इस सज्ञा पर विजय प्राप्त कर ली वही महापुरुष है। परिग्रह की सज्ञा भी इस जीव को उन्मत्त बना रही है। आज कल तो मनुष्य इसी क पीछे पागल होकर पडा है। त्यागी व्रती विद्वान अविद्वान जा देखो वही इसक पाछे चक्कर लगा रहा है। सागर धर्मामृत म प आशाधर जी ने सागर का लक्षण लिखते हुए कहा है कि जो उक्त चार सज्ञाओ रूपी ज्वर से आतुर है और इनसे दुखी होने के कारण जो निरन्तर स्वज्ञान (आत्मा ज्ञान) स विमुख रहने हैं इन सज्ञाआ का चपेट से जो यह विचार भी नही कर पाते कि मेरा स्व क्या है उसका स्वरूप क्या है और इसी कारण जो विषयो मे उ मुख रहते हैं उन्हे ही सुख का कारण मान रात दिन उनका एकत्रित करने मे लीन रहते है वे सागर कहलाते हैं। जिस प्रकार ज्वर वात पित कफ इन तीन दाषो मे उत्पन्न होता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि मोही गृहस्थ का लक्षण बताया है। सम्यग्दशन के होने स जिसे आत्मा का भान तो हो गया है परन्तु चारित्र माह क उदय स जो परिग्रह सज्ञा का परित्याग करने मे समथ नही है और उसी का कारण जो प्राय विषया मे मूर्छित रहते है उसमे और मिथ्या दृष्टि गृहस्थो मे बहुत अन्तर है। मिथ्यादृष्टि गृहस्थ तो निरन्तर विषयोन्मुख रहते है पर सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मिथ्यारूपी तिमिर के दूर हो जाने से इतना समझने लगता है कि विषय प्राप्ति हमारे जीवन का लक्ष्य नही है। चारित्रमाह के उदय का त्याग नही कर पाता इसलिये प्राय उनमे मूर्छित रहता है। देखा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की महिमा मिथ्यात्व क उदय मे तो यह मनुष्य विषयो का सुख का कारण मान अहर्निश उन्ही मे उ मुख रहता है पर सम्यक्त्व हाने पर इसकी दृष्टि म यह बात आ जाती है कि विषय सुख के कारण नही अत उनमे उनकी मूर्छा पूववत् नही रहती।

जिस जीव का अपनी भूल का ज्ञान हो गया और जिसने अपने को पहिचान लिया उसके लिये क्रोध मान माया लोभ क्या चीज है? हम दूसरो को बडा बनाते हैं कि अमूक बड हैं। बडा बनने के लिये बडे कार्य कर। वास्तव मे अपने को लघु मानना तो महत अज्ञानता है कि हम क्या है किस

खेत की मूली हैं। यह तो महान आत्मा को पतित बनाना है उसके साथ अन्याय करना है। अरे तुझमे तो अनन्त ज्ञान की शक्ति तिरोभूत है। अपने को मान तो सही कि मुझमे परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है। आत्मा निर्मल होने से मोक्ष मार्ग की साधक है और आत्मा ही मलिन होने से ससार की साधक है। अत जहा तक बने आत्मा की मलिनता को दूर करने का प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

७५ सम्यकदर्शन के आठ अग

सम्यग्दशन का अर्थ आत्म लब्धि है। आत्म स्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्म लब्धि कहलाता है। विवेक शक्ति से सम्यग्दर्शन होता है। श्रद्धा न हाने से ही प्रत्येक बात में कुतर्क उठता है। हर एक बात मे कुतर्क से काम नही चलता। युक्ति के बल से सभी बातो का निणय नही किया जा सकता कितनी ही बाते ऐसी हैं जिनका आगम से निणय होता है और कितनी ही बात ऐसी हैं जिनका युक्ति से निर्णय होता है। यदि आपकी धम में श्रद्धा न होती तो हजारो की सख्या मे यहा क्यो आते ? देखो हनुमान आदि ने रामचन्द्र जी को खबर दी कि रावण जिन मन्दिर मे बहुरुपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है आज्ञा दीजिये कि जिससे हमलोग उसकी विद्या—सिद्धि मे विघ्न करें अन्यथा सीता फिर दुलभ हो जायेगी। रामचन्द्र जी ने जोरदार शब्दो मे उत्त दिया—हो जाय एक सीता नही दशों सीतायें दुर्लभ हो जायें पर मैं अन्याय क ने की आज्ञा नही दे सकता। रामचन्द्र जी मे जो इतना साहस था उसका कारण क्या था कारण था उनका सम्यग्दर्शन। विशुद्ध क्षायिक सम्यग दशन मिथ्या अभिप्राय जाने के बाद आत्मा का विकास हो जाता है। इसी का नाम नि शकित गुण है।

सम्यग्दशन का विकास होते ही हमारी प्रवृत्ति एकदम पूव से पश्चिम की आर हो जाती है। आत्मा मे प्रशम सवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रगट होते हैं जा सम्यग्दशन के अविनाभावी हैं। यदि आप मे ये गुण प्रगट हुए हैं तो समझ लो कि हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायेगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हा या मिथ्यादृष्टि।

कषाय के असख्यात लोक प्रमाण स्थान है। उनमे कषाय का शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। यह दूसरी बात है कि चारित्र मोह के उदय से यह उसे सर्वथा छोड नही सकता पर उसकी प्रवृत्ति मे शैथिल्य अवश्य आ जाती है। ससार से विरक्ति उत्पन्न होना संवेग है। विवेकी मनुष्य जब चतुगतिरूप ससार के दुखो का चिन्तन करता है तब उसकी आत्मा भयभीत हो जाती है। दु खी प्राणी को देखकर हृदय मे कम्पन हो जाना अनुकम्पा है। मिथ्या दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की अनुकम्पा मे अन्तर है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य जब किसी आत्मा को क्रोधादि कषायो से अभिभूत तथा भोगासक्त देखता है तब उसके मन मे करुणाभाव उत्पन्न होता है कि देखो बेचारा कषाय के भार से कितना

दब रहा है इसका कल्याण किस प्रकार हो सकेगा। आ त ब्रत श्रत व तत्व पर तथा लोक आदि पर श्रद्धापूण भाव का होना अस्तिक्य भाव है। ये गुण सम्यग्दशन के अविनीभावी हैं। यद्यपि मिथ्यात्व की मन्दता मे भी ये हो जाते है तथापि वे यथार्थ गुण नही किन्तु गुणाभास कहलाते है। यद्यपि अन्य ग्रन्थो मे तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है परन्तु पञ्चाध्यायी कारके अनुसार वह सब ज्ञान की पर्याय है। उन सात तत्वो का कथन भी आगे क्रम से किया गया है। उन सबके कथन पर से भी यही भाव विदित होता है कि उनका शाब्दिक ज्ञान व श्रद्धा अभिप्रत नही है किन्तु हेय भाव का त्याग करक उपादेय भाव को अपने भीतर जागृत करना ही प्रयोजनीय है। सम्यग्दर्शन क आठ अग प्रसिद्ध हैं। नि शकित नि कांक्षित निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टि उपगूहन स्थितिकरण वात्सल्य व प्रभावना। पूर्वोक्त प्रशमादि की भाँति ये भी सम्यग्दर्शन के अविनाभावी गुण हैं। इनमे से तर्क विहीन श्रद्धा के रुप मे नि शकित का कथन पहले किया है।

(२) नि कांक्षित अग—दो भिखमगे भीख माँगने के लिय आये। मन उनसे पछा कहाँ जाते हो। उन्होने कहा कि श्री महावीर स्वामी क निर्वाणोत्सव के लिय पावापुरी जाते है। उनम कहा कि तुम्हारे पर तो कुष्ठ स गलित हैं कसे पहुँचोगे। उन्होने कहा श्री वीर प्रभु के कृपा से पहुँच जावगे। उनकी महिमा अचिन्त्य है। उन्ही के प्रताप से वहा एक वष का भोजन मिल जाता है।

ससार महाभयानक है। धम का यथार्थ स्वरूप कहने वाला वीतराग सर्वज्ञ हैं। भिखमगे के मुख से इतना ज्ञानपण बात सुनकर मैंने कहा भाई तुम्हे इतना बोध कहा से आया ? व बाले आप जन होकर इतना आश्चय क्या करते हो जो आपका आत्मा है वही तो मेरा है। आप श्रेष्ठ है और हम जघन्य है। उत्सव द्वारा आपकी यही तो भावना है कि हम ससार बन्धन स छूटे। नाम स्मरण से हमारी भी यही मनोभिलाषा है कि हे प्रभो ! इस वष भोजन के सकटो से बच। आखिर दुःख की मूल जननी आकाक्षा जिस प्रकार मेरे भीतर है उसी प्रकार आपके भीतर भी है। वह निरपेक्षता जो वास्तव मे आत्मा को बन्धन से छुडाने वाली है न आपके है और न हमारे। वचन की कुशलता से चाहे आप भले ही मनुष्यो म निरपक्ष बनने का प्रयत्न कर परन्तु भीतर से जसे हो आप स्वयं जानते हो। आत्मा का गुणनुरागी कभी पुण्य नही चाहता क्योकि वह जानता है कि पुण्य बन्ध ससार का ही तो कारण है। अत ज्ञानी जीव संसार का ही कारण जो भाव है उसे उपादेय नही मानता। चारित्रमोह के उदय मे ज्ञानी जीव के रागादिभाव होते हैं परन्तु उनमे कर्तृत्व

बुद्धि नही होती। अभिप्राय के बिना जो क्रिया होती है बन्धजनक नही होती। वह क्या लक्ष्मी की चाहना करेगा अरे क्या लक्ष्मी कही भी स्थिर होकर रही है। तुम देख लो जिस जीव के पुण्योदय हुआ उसी के पास दौड़ी चली गई। अत ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्न मे भी नही चाहते। वे तो अपने ज्ञान दर्शन चारित्रमय आत्मा का ही सेवन करते हैं।

(३) निर्विचिकित्सा अग समता–हम दूसरे पदार्थों को तुच्छ देखते हैं। उनसे घृणा करते हैं। इसका मूल कारण यही है कि हमने अपने स्वरूप को नही जाना। परमार्थ से कोई पदार्थ न बुरा है और न अच्छा है। हम अपनी रुचि के अनुसार ही उनके विभाग जो इस जीव को ससार म फसाते हैं कर लेते हैं। ऐसे कुटुम्बीजन परमार्थ से इसके (आत्मा के) शत्रु है और जो हित का ध्यान रखते है ऐसे योगी इसके बन्धु हैं। परन्तु इस जीव की अनादिकाल से विषय वासना मे ही प्रीति हो रही है इसलिये इसमे सहायक लोगो को यह मित्र मानता है और जो इसमे बाधक हैं उन्हे शत्रु समझता है। वास्तव मे विचार किया जाय तो यह सब व्यवहार की मुख्यता से है। निश्चय से न तो जीव का कोई शत्रु है और न मित्र है। इसके जो रागादि परिणाम है वही इसके शत्रु हैं और जो वीतरागभाव है वही इसके मित्र हैं। मोह के उदय मे अनेक कल्पनायें होती हैं।

उपादेयता और हेयता यह दोनो भी मोही जीवो के ही होते है। परमार्थत न कोई उपादेय है और न हेय है किन्तु उपेक्षणीय व्यवहार भी औपचारिक होता है। मोह के रहते हुए जिन पदार्थों मे उपादेयता और हेयता का व्यवहार था मोह जाने के बाद वे पदार्थ उपेक्षणीय होते है। सम्यग्दृष्टि को ग्लानि तो होती ही नही। अरे क्या वह मल से ग्लानि करे। मल तो प्रत्येक शरीर मे भरा पडा है। तनिक शरीर को काटो तो सिवाय मल के अन्य कुछ नही। पदार्थ से क्या ग्लानि करे सब परमाणु स्वतन्त्र है। देखो भया किसी मुनि का वमन करते देखकर मुनि भी ग्लानि नही करते और अपने दोनो हाथ पसार देते है। अत सम्यग्दृष्टि इस निर्विचिकित्सा अग का भी पूर्णतया पालन करता है।

(४) चौथा अङ्ग है अमूढदृष्टि— मूढदृष्टि तो तभी है जब पदार्थों के स्वरूप को नही समझे—अनात्मा म आत्मबुद्धि रखे। परन्तु सम्यक्त्वी के यह अग भी पूर्णतया पलता है। उसके अनात्मबुद्धि नही होती क्योकि उसे भेद विज्ञान प्रगट हो गया है यह अमूढदृष्टि है।

(५) उपगूहन पाचवां अङ्ग—उपगूहन पाचवां अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि अपने दोषो को नही छिपाता। प्रच्छन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बडा पाप है

जिसमे वह पाप कर्त्ता निरन्तर शकित बना रहता है। जो पाप किये हैं उन्हें सामने प्रकट कर देवें तो उतना दुख नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अपने दोषो को एक एक करके निकाल फकता है और एक निर्दोष आत्मा को ध्याता है।

(६) स्थितिकरण छटवा अङ्ग है—अपने ऊपर जब कोई विपत्ति आ जाय अथवा आधि व्याधि हा जाय और रत्नत्रय से अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड तब अपने स्वरूप का चिन्तवन करे और अपने को पुन उसमे स्थिर करें। व्यवहार मे पर को चिगने से सभाले। इस अग को भी सम्यक्त्वी विस्मरण नही करता।

(७) सातवा वात्सल्य अङ्ग है रक्षा बन्धन का पव सम्यग्दशन के वा सल्य अग का महत्त्व दिखाने वाला है। सम्यग्दृष्टि का स्नेह धर्म से हाता है और धम बिना धर्मी के रह नहीं सकता इसलिय धर्मी के साथ उसका स्नह होता है। उसमे गौ के बछड का दृष्टात है। माता अपने शिशु से स्नेह इसलिये करती है कि यह वृद्धावस्था मे हमारी रक्षा करेगा पर गौ मे ऐसी कोई इच्छा नही रहती। धम का अश ता निरीह हाकर सेवा करने का भाव है। विष्णुकुमार मुनि ने ६ मुनियो की रक्षा करने क लिये अपने आपका एकदम समर्पित कर दिया। उन्हाने जा काय किया था वह मुनिपद क याग्य नहीं था तथापि सन्धर्मी मुनियो की उ होन उपक्षा नही की। किसी सहधर्मी भाइ का भाजन वस्त्रादि की कमी हा ता उसकी पूर्ति हो जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिय। महलो मे रहने वाला को पास मे बनी झोपडियो की भी निगाह करनी हाती है अन्यथा उनम लगी आग उनक महल का भी भस्मसात कर देती है। यह पव हमे सदा यही शिक्षा देता है कि सर्वे भवन्तु सुखिन अर्थात् सब सुखी हा। गौ और उसके वत्स का वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइया से कर। सच्चा वात्सल्य तो अपना आत्मा का ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणिया से मत्रीभाव रखता है। उसके सदा जीवमात्र की रक्षा क भाव हाते हैं। एक जगह लिखा है —

अय परो निज वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानातु वसुधव कुटुम्बकम्॥

यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्रचित वालो के होती है। उदार चरित्र जिनके हैं उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है। सम्यग्दृष्टि भगवान की प्रतिमा के दर्शन करता है परन्तु उसमे भी वह अपने स्वरूप की ही झलक देखता है। उनका जसा चतुष्टयमय रूप है वसा ही मेरा स्वरूप भी है। वह अपनी आत्मा से प्रगाढ़ वात्सल्य रखता है।

(८) प्रभावना अङ्ग (शुद्धाचरण)— तीर्थ क्षेत्रा पर यात्रियो को सर्व सुविधाओ की यवस्था होने पर भी आत्म लाभ के लिये वहा कोई साधन नही है। क्षेत्रा पर आवश्यकता एक विद्वान की है। जिसके प्रवचनो से जनता को जन धम का बाध हा। हमलोग बाह्य कार्यों मे द्रव्य का व्यय कर ही अपने का कृताथ मान लेत है। मन्दिर मे चाँदी के किवाड चाँदी की चौकी चाँदी का रथ स्वण क चमर चाँदी की पालकी आदि को देखकर अन्य लोग यही अनुमान लगाते हैं कि जन बड धनाढय है परन्तु यह नही समझने कि जिस धम के ये अनुयायी हैं। उसका क्या मम है। वास्तविक प्रभावना तो यह है कि अनादिकाल से पर को आत्मीय मान अपनी परणति जो कलुषित हो रही है उसे आत्मीय श्रद्धान ज्ञान व चारित्र क द्वारा ऐसी निमल बनाने का प्रयत्न किया जाय जिससे कि इतर धर्मावलम्बियो के हृदय मे स्वयमेव समा जावे कि धम तो यह वस्तु है। इसी को निश्चय प्रभावना कहते हैं। आप लागो ने मेरे आने पर बाजा बजवा कर बाह्य प्रभावना की। बहुत ही सुन्दर फूला की बरसा का दृश्य दिखाया पर आभ्यन्तर प्रभावना की ओर प्रयास नही हुआ। अपना आर किसी का लक्ष्य नही। प्राय सवत्र यही दृश्य देखा जाता है। हमारी प्रभावना से अन्य लोग लाभ उठा लेते हैं पर हम तो दर्शकमात्र ही रहने का प्रयास करते हैं। अन्य को धम का स्वरूप आ जावे यही चेष्टा हमारी रहती है। प्रभावना ऐसी होनी चाहिये जिससे दूसरे के हृदय पर सीधा प्रभाव पडे—ऐसा दान दो जिससे साधारण लोगो का भी उपकार हो ऐसा तप करो जिसे देखकर कट्टर से कट्टर विरोधियो की भी तप मे श्रद्धा हो जाय। जिनेन्द्र देव का ऐसा ठाट बाट से पूजन करो कि नास्तिक के चित्त मे भी आस्तिकता का सचार हो जाय।

वास्तव मे धम की प्रभावना आचरण से होती है। यदि हमारी प्रवृत्ति परोपकार रूप है तो लोग अनायास ही हमारे धम की प्रशसा करेंगे और यदि हमारी प्रवृत्ति अपकाररूप है तथा भाव मलिन है तो किसी की श्रद्धा हमारे धम पर नही हो सकती। यदि वास्तव मे धम की प्रभावना करना चाहते हा तो जाति पक्ष को छोडकर प्राणिमात्र का उपकार करो। भूखे मनुष्य को आभूषण देना उतना तृप्ति जनक नही जितना कि उसे दो राटिया देना है। इस पचमकाल मे प्राय दुखी प्राणी बहुत हैं अत अपनी सामर्थ्य के अनुकूल उनके दु ख दूर करने का प्रयास करो। वे आपसे आप धर्म मे प्रम करने लगेंगे।

पर वास्तव मे लिखने वाले बहुत हैं और करने वाले बिरले। जबकि लिखने वाले को यह निश्चय हो गया कि इस प्रकार धम की प्रभावना होती है तब स्वय उसे उस रूप बन जाना चाहिये पर देखा यह जाता है कि लेखक

स्वय वसा बनने की चेष्टा नही करते वक्ता बनकर मनुष्यो के बीच उसका उपदेश सुना देते हैं तथा लोगो द्वारा धन्य हो धन्य हो यह कहलाकर अपने को कृत कृत्य समझ लेते हैं। क्या इसे वास्तविक प्रभावना कहा जाय ? वास्त विक प्रभावना यही है कि आत्मा म सम्यग्दर्शनादि गुणो का विकास किया जाय। सच्ची प्रभावना ता वह अपने आत्मा की ही करता है। पर तु व्यवहार मे रथ निकालना मण्डल विधान या उपवास करना आदि प्रभावना भी करता है। हम दूसरो का जनी बनाने का उपदेश करते हैं पर तु स्वय जनी बनने की कोशिश नही करते। यह हमारी कितनी भूल है। अरे पहले अपने को जन बनाओ दूसरे की चिन्ता मत करो। वह तो स्वय अपने आप हो जायेगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगे कि ये सच्चे जन हैं। भगवान को ही देखो उ होने पहले ही अपने को बनाया दूसरे को बनाने की परवाह उ होने नही की। यदि तुम जैन बन जाओगे तो फिर यथा पाण्ड तथा ब्रह्माण्ड क अनुसार एक का असर दूसरे पर अवश्य पडगा। इसी तरह सब मनुष्य अपनी अपनी चिन्ता करने लगे तो किसी को किसी की चि ता करने की जरूरत नही रह जाय यह सिद्धान्त है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त आठ अग का पूणतया पालन क ता हुआ अपनी आत्मा का निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। तो भया सम्यग्दृष्टि बना। समता को लाने का प्रयत्न करा। समता और तामस ये दा ही ता क्रिया है। चाहे समता का अपना लो चाहे तामस का। समता मे सुख है तो तामस मे दु ख है। समता यदि आ जायेगी तो तुम्हारी आत्मा मे भी शान्ति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो जो आत्मा और अनात्मा के भेद को नही जानता वह मिथ्यात्वी है और वास्तव मे देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयङ्कर शत्रु है। यही चतुर्गति म रुलाने का कारण है।

७६ नव तत्त्व विवेचन (जीव अजीव आस्रव, पुण्य, पाप तत्त्व)

प्रमुख जीव द्र य है उसी का सब खेल है वभव है। मैं सुखी हू मैं दुखी हू इ यादि प्र यय से जीव के अस्तित्व का साक्षात्कार होता है तथा अन्वय से भी इसका प्र यय होता है। यह वह देवदत्त हैं जिसे मैंने मथुरा मे देखा था अब यहा देख रहा हू इस प्रत्यय से भी आत्मा के अस्तित्व का निर्णय होता है। जीव नाम का जो पदाथ है वह स्वय सिद्ध ह तथा पर निरपेक्ष अपने आप अतिशयकर चकचकाय मान हो रहा है। कसा है ? अनादि है। काई इसका उत्पादक न ा। अतएव अनादि है अकारण है। जो वस्तु अनादि व अकारण है वह अनन्त (स्वरूप) भी है तथा अचल है। ऐसे ही अनादि अनन्त तथा अचल अजीव द्रव्य भी हैं। इससे इसका लक्षण स्व सवद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदाथ मे अ य अजीवो की अपेक्षा चेतना गुण ही भेद करने वाला है। वही गुण इसम ऐसा विशद है कि सर्व पदार्थों की तथा निज की यवस्था करता है। केवल चेतना ही आत्मा का लक्षण है। यही अवाधित त्रिकाल मे रहता है। सी भाव को पुष्ट करने वाला श्लोक अष्टावक्र गीता मे अष्टावक्र ऋषि ने लिखा है मैं देह नही हू और न मेरा देह है। न मै जीव हू मैं चित्त हू चतन्य गुण वाला हू। चेतना यद्यपि एकरूप है फिर भी सामान्य विशेष के भेद से दशन और ज्ञानरूप हो जाती है। जबकि सामान्य और विशेष पदाथ मात्र का स्वरूप है तब चेतना उसका त्याग कसे कर सकती है। यदि वह उसे छोड दे तो अपना अस्तित्व ही खो बठे और इस रूप मे वह (चेतना) जडरूप होकर आत्मा का भी अन्त कर सकती है। इसलिये चेतना का द्विविध परिणाम होता है। चेतना के अतिरिक्त अन्य भाव आत्मा के नही हैं। इसका यह अथ नही समझने लगना कि आत्मा मे सुख वीर्य आदि गुण नही हैं। उसमे तो अनन्त गुण विद्यमान हैं और हमेशा रहेगे। परन्तु अपना और उन सबका परिचायक होने से मुख्यता चेतना को ही दी जाती है। जिस प्रकार पुद्गल मे रुप रस आदि गुण अपनी सत्ता लिये हुए विद्यमान रहते है उसी प्रकार आत्मा मे भी ज्ञानदर्शन आदि अनेक गुण अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए विद्यमान रहते हैं। यहा प्रश्न होता है कि यदि वस्तु का स्वतन्त्र निज स्वरूप है तो आत्मा को बध क्यो होता है ? इसका आगे पृथक से उत्तर दिया गया है कि कम के सम्ब ध से तथा अज्ञान क हेतु से ऐसा होता है।

आस्रव तत्व—आस्रव तत्व का वणन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हम कम बन्ध से बचना चाहते हैं। बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूवक ऐसे बहुत से कार्य हम लोगो से नित्य होते रहते हैं जिनसे कर्म का बन्ध जारी रहता है। किसी क घर में चोर आया और चोरी कर गया पर उस मूख को यह पता नहीं चला कि चोर किस रास्ते से आया था। अत वह मुहन्गी (पानी आने जाने के माग) को मूंदता फिरता है। दूसरी रात फिर चोर आते है। यही दशा ससारी प्राणी की है। जिन भावो से कर्मों का आस्रव होता है कमरूपी चोर आत्मा मे घुसते हैं उन भावो का उसे पता नही रहता इसलिये अन्य प्रयत्न कर्मों का आस्रव रोकने के लिये करता है। आत्मा की विकृत परिणति से होने वाले आस्रव को उसने केवल शरीराश्रित क्रिया काण्ड से रोकना चाहा सो कसे रुक सकता था। ताले की जो कुंजी है उसी से तो वह खुलेगा। जो कर्म जिस भाव स आता है उस भाव के विरुद्धभाव यदि आत्मा म उत्पन्न किया जाय तब उस कम का आस्रव रुक सकता है अन्यथा नही।

वह आस्रव दो प्रकार का है साम्परायिक और ईर्यापथ। जिस आस्रव का प्रयोजन संसार है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और जिसमे स्थिति तथा अनुभाग बन्ध नही पडता उसे इर्यापथ आस्रव कहते हैं। साम्परायिक आस्रव आत्मा का अत्यन्त अहित करने वाला है। यह कषाय सहित जीव के ही होता है। परन्तु कषाय रहित जीव के होने वाला ईर्यापथ आस्रव नाम मात्र हाता है अर्थात् समय मात्र स्थित रहकर निर्जीर्ण हो जाने वाले कम प्रदेशो का आस्रव उसके होता है। इस तरह आत्मा की सकषाय अवस्था ही वास्तव मे बन्ध का कारण है अत उससे बचना चाहिये। जिस प्रकार फिटकली आदि के ससर्ग से जो वस्त्र सकषाय हो गया है उस पर रग का सम्बन्ध अच्छा हाता है। परन्तु जो वस्त्र फिटकली आदि के ससर्ग से रहित होने के कारण अकषाय है उस पर रङ्ग का सम्बन्ध स्थायी नही होता। साम्परायिक आस्रव भी दो प्रकार का होता है। शुभ व अशुभशुभ से पुण्य बन्ध होता है और अशुभ से पाप बन्ध होता है।

पुण्य व पाप—श्री कुन्द कुन्द देव का कहना है कि शुभोपयोग से पुण्य बन्ध होता है और उससे आत्मा को देवादि सम्यक पद की प्राप्ति होती है जो तृष्णा का घर है। अत शुभयोग और अशुभोपयोग को भिन्न भिन्न समझना शुद्धोपयोग दृष्टि मे कुछ विशेषता नही रखता दोनो ही बन्ध के कारण हैं। लौकिक जन शुभ कर्म को सुशील और अशुभ कम को कुशील मानते हैं परन्तु कुन्द-कुन्द महाराज कहते है कि शुभ कर्म सुशील कसे हो सकता है? वह भी तो आत्मा को ससार मे घुमाता है। जिस प्रकार लोहे की बेडी पुरुष को बन्धन

मे डालती है उसी प्रकार सुवर्ण की बेडी भी पुरुष को बन्धन मे डालती है एतावता इन दोनो मे कोई भिन्नता नही है ।

लोक मे कोई पुरुष जब किसी की प्रवृत्ति को स्व विरोधिनी समझ लेता है तो उसके सम्पक से यथा शीघ्र दूर हो जाता है । इसी तरह जब कर्म प्रकृति आत्मा का ससार व`धन मे डालती है तब ज्ञानी वीतरागी उदयागत शुभाशुभ प्रकृति के साथ (पुण्य पाप के साथ) राग नही करता ।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य के भी शुभाशुभ या प्रशस्तभाव मोहोदय मे होते हैं । विषयो मे अणुमात्र भी विरक्ति नही तथा म`द कषाय मे दानादि कार्य भी शुभोपयोग मे करता है पर`तु उसके परिणाम मे अनुराग नही । जिस प्रकार रोगी मनुष्य न चाहता हुआ भी औषध सेवन करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी पुण्य पापादि कार्यों को करता है परमार्थ से दोनो का हेय समझता है ।

७७ बन्ध तत्व

बन्ध का प्रमुख कारण मोह अन्य विकार है। मिथ्या अविरति प्रमाद कषाय व योग इन पाच को सूत्रकार ने बन्ध के हेतु बतलाया है। कुन्द कुन्द स्वामी ने भी समयसार मे कहा है रागी प्राणी कर्मों को बन्धता है और राग रहित प्राणी कर्मों को छोडता है। बन्ध के विषय मे जिनेन्द्र भगवान का यही उपदेश है। अत कर्मों मे राग न करो। पञ्चास्तिकाय मे श्री कुन्द कुन्द ने लिखा है कि जो संसार मे रहने वाले जीव है उनके स्निग्ध (राग) परिणाम होता है। परिणामो से कम का बन्ध होता है। कर्म से जीव एक गति मे अन्य गति मे जाता है। जहा जाता है वहा देह ग्रहण करता है। देह से इन्द्रिया की प्राप्ति होती है। इन्द्रिया के द्वारा विषय ग्रहण करता है। विषय ग्रहण से रागादि परिणामो की उत्पत्ति होती है। फिर रागादिक से कम और कम स आगे की गति मे गमन वहा नई देह की प्राप्ति देह से इन्द्रिया इन्द्रियो से विषय ग्रहण विषया से स्निग्ध (राग) परिणाम स्निग्ध परिणामा से कम और कम से फिर वही प्रक्रिया। इस तरह यह ससार चक्र बराबर चलता जाता है। आज संसार मे धम के जितने आयतन व दृष्टिपथ हैं वे इस चक्र से बचने के साधन हैं। किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डाल तो ये सब उपाय पराश्रित है। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्वद्वारा अर्जित ससार के विध्वस का कारण हो सकता है। यदि हमे ससार व धन से मुक्ति होने की अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन है क्या हमारा स्वरूप है वर्तमान मे कसा है तथा ससार क्या अनिष्ट है यह जानने का प्रयास कर क्योकि जब तक इन सब बातो का निणय न हो जावे तब तक ससार भ्रमण अभाव प्रयत्न हो ही नही सकता।

इच्छा करने मात्र से मुक्ति के पात्र हम नही हो सकते। आत्मा म जो रागादि विभाव परिणाम हैं उनके दूर करने के अथ श्री वीतरागाय नम यह जाप असंख्य कल्प भी जपा जावे तो भी आत्मा मे वीतरागता न आवेगी किन्तु रागादि की निवृत्ति से अनायास वीतरागता आ जावेगी। आत्मा मे जो रागादि होते हैं उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है। उनके दो भेद हैं। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनके उदय से ही मिथ्यात्व रागद्वेष होता है। उपयोग आत्मा का ऐसा है कि उसके सामने जो आता है उसी का उसमे प्रतिभास होने लगता है। जैसे नेत्र के समक्ष जो पदार्थ आता है वह उसका ज्ञान करा देता है। यहा तक तो कोई आपत्ति नही परन्तु जो पदार्थ

ज्ञान मे आवे उसे आत्मीय मान लेना आपत्ति जनक है क्योकि वह मिथ्या अभिप्राय है। परमार्थ से आत्मशान्ति का उपाय य्‌ेी है कि पर से सम्बन्ध छोडा जाय और आत्म परिणति का विचार किया जाय। अत रागादि दोषो को जानो उनकी पारमार्थिक दशा से परिचय करो। रागादि दाषा का त्याग ही ससार बन्धन स मुक्ति का उपाय है। रागादि का यथाथ स्वरूप जान लेना ही उनसे विरक्त होने का मूल उपाय है।

आत्मीय परिणत्ति को कलुषित न होने दो। कलुषित परिणामो का अन्तरङ्ग कारण मोह राग हैं तथा बाह्यकारण पचेन्द्रिया के विषय हैं। विषय निमित्त कारण है परन्तु ऐसी व्याप्ति नही जो परिणत्ति को बलात् कलुषित बना ही देवे। विषय तो इन्द्रियो के द्वारा जाने जाते है। उनमे जो इष्टनिष्ट कल्पना होती है वह कषाय से होती है। कषाय क्या है जो आत्मा को कलुषित करता है। यह स्वय मे सिद्ध होती है। अनादि से आत्मा मे इसका परिणमन चला आ रहा है। हम निर तर इसका प्रयास करते हैं कि आत्मा मे स्वच्छ परिणाम हो पर तु न जाने कौन सी ऐसी शक्ति आत्मा मे है कि जिससे जो भाव आत्मा का इष्ट नही वे ही आते हैं। इसम य ी निश्चय होता है कि आ मा मे अनादि से ऐसे संस्कार आ रहे हैं कि जिनस उसे अनन्त वेदनाओ का पात्र बनना पडता है। यदि हमने आत्मा को पहचान कर विकारो पर विजय प्राप्त कर ली तो शास्त्र सुनना सार्थक है।

७८ बन्ध का हेतु मोह

वास्तव मे ज्ञाता दृष्टा रहना ही आत्मा का स्वभाव है पर इसके साथ जो मोह की पुट लग जाती है वही समस्त दु खो का मूल है। अन्य ज्ञानावरण आदि कर्म के उदय से आत्मा का गुण रुक जाता है पर मोह का उदय उसे विपरीत परिणाम देता है।

आत्मा का गुण रुक जाय इसमे विशेष हानि नही पर मिथ्यारूप हो जाने मे महती हानि है। एक आदमी को पश्चिम की ओर जाना था कुछ दूर चलने पर उसे दिशा भ्रान्ति हो गई। वह पूव को पश्चिम समझकर चलता जा रहा है। उसके चलने मे बाधा न ी आई पर ज्यो-ज्यो चलता जाता है त्यो-त्यो अपने लक्ष से दूर होता जाता है। दूसरे आदमी को दिशा भ्रान्ति तो नही हुई पर पर मे लकवा मार गया इससे चलते नही बनता। यह अचल होकर एक स्थान पर बठा रहता है। पर अपने लक्ष्य का बोध होने से वह उससे दूर तो नही हुआ। कालान्तर मे ठीक होने से शीघ्र ही ठिकाने पर पहुँच जायेगा। एक को आँख मे कमला राग हो गया जिससे उसका देखना बन्द तो नही हुआ देखता है पर सभी वस्तुयें पीली पीली दिखती है। जब परदेश से लौटा और घर आया तो उसे अपनी स्त्री पीली दिखी। उसने उसे भगा दिया कहा कि मेरी स्त्री तो काली थी तू यहा कहा से आई। वह कमला रोग होने से अपनी ही स्त्री को पराई समझने लगा।

इसी प्रकार मोह के उदय मे यह जीव कभी अपनी चीज को पराई समझने लगता है और कभी पराई को अपनी। यही विभ्रम ससार का कारण है। इसलिये ऐसा प्रय न करो कि जिससे यह भूल अज्ञान का बाप यह दर्शन मोह आत्मा से निकल जाय। हिंसादिक पाच पाप हैं अवश्य पर ये दर्शन मोह के समान अहित कर नही है। यही दुनिया को नाच नचाता है। मोह दूर हो जाय और आत्मा के परिणाम निर्मल हो जाय तो ससार से आज छुट्टी मिल जाय। पर हो तब न। संस्कार तो अनादि काल से इस जाति के बना रक्खे हैं जिससे इसका छूटना कठिन दिखने लगता है।

ज्ञान के भीतर जो अनेक विकल्प उठते हैं उसका कारण भी मोह ही है। किसी व्यक्ति को आपने देखा। यदि आपके हृदय मे उसके प्रति मोह नही है तो कुछ भी विकल्प उठने का नही आपको उसका ज्ञान भर हो जायेगा

पर जिसके हृदय मे उसके प्रति मोह है तो उसक प्रति अनेक विकल्प उठते हैं। यह विद्वान है यह अमुक कार्य करता है इसने अभी भोजन किया है या नही इत्यादि। बिना मोह के कौन पूछने चला कि इसने अभी खाया है या नही।

मोह के निमित्त से ही आत्मा मे एक पदार्थ को जानकर दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा होती है। जिसके मोह निकल जाता है उसके एक आत्मा का बोध होने लगता है। उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञेय की ओर जाती है। ऐसी दशा मे आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा के लिये आत्मा से आत्मा को आत्मा म ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षटकारक रूप हो जाता है। सीधी बात यह है कि उसके सामने से कर्ता कम करणादि का विकल्प हट जाता है।

卐

७६ बन्ध का हेतु-अज्ञान

मिथ्यात्व अज्ञान तथा अविरति रुप जो त्रिविध भाव है यही शुभ अशुभ कर्म ब ध के निमित्त हैं क्योकि ये स्वय अज्ञानादिरुप हैं यही दिखात हैं। जसे जब यह अध्यवसान भाव अज्ञानमय है क्याकि जा आत्मा सत ह अहेतुक ह तथा ज्ञप्तिरुप एक क्रिया वाला है उसका और रागद्व ष क विपाक जाय मान हननादि क्रियाओ का विशष भेद ज्ञान न हाने से भिन्न आत्मा का ज्ञान नही होता है। अत अज्ञान ही रहता है। इसी तरह भिन्न आत्मदर्शन न हाने से मिथ्यादर्शन ही रहता है और भिन्न आत्मा का चारित्र न होने से मिथ्या चारित्र का ही सद्भाव रहता है। इस तरह माह कम के निमित्त से मिथ्यादशन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सद्भाव आत्मा मे है। इ ही के कारण कमरूप पुद्गल द्रव्य का आ मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप ब ध होता ह। यदि परमाथ से विचारा जावे तो आ मा स्वत त्र द्र य ह और यह जो स्पर्श रस ग ध वण वाला पुद्गल द्रव्य ह वह स्वतत्र ह। इन दाना का परिणमन भी अनादि काल से स्वत त्र ह परन्तु इन दोना मे जीव द्रव्य चेतन गुण वाला है और उसमे यह शक्ति है कि जो पदाथ उसके सामने आता है व उसमे झलकता है प्रतिभासित होता है। पुद्गल मे भी एक परिणमन इस तरह का है कि जिससे उसम भी रूपी पदाथ झलकता है पर मरे मे यह प्रतिभासित है ऐसा उसे भान नही। इसके विपरीत आत्मा मे जा पदाथ प्रतिभासित ता है उसे यह भान हाता है कि ये पदाथ मेरे ज्ञान मे आये। यही अ पत्ति का मूल है क्याकि इस ज्ञान क साथ मे जब मोह का सम्ब ध रहता है तब य जीव उन प्रतिभासित पदार्थों को अपनाने का प्रयास करने लगता है। यही का ण अन त ससार का है। ज्ञानी मनुष्य यह मानता है कि पर पदार्थ का एक अश भी ज्ञान मे नही आता फिर न जाने क्यो उसे अपनाता है? यही महती भूल है। अत जहा तक सम्भव हो आत्म द्रव्य को आत्म द्रव्य ही रहने दो। उसे अ य रूप करने का जो प्रयास है वही अनन्त ससार का कारण है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो पर द्रव्य को आत्मीय द्रव्य कहेगा। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है वह उसका स्वधन है। जिसका जो स्व है वह उसका स्वामी है। अत यह निष्कर्ष निकला कि अन्य द्रव्य अ य का स्व नही तब अन्य द्रव्य अ य का स्वामी कसे हो सकता है।

यही कारण है कि ज्ञानी जीव पर को नही ग्रहण करता मैं भी ज्ञानी

हू । अत मैं भी पर को ग्रहण नही करू गा । यदि मैं पर द्रव्य को ग्रहण करू तो यह अजीव तत्व (शरीरादि) मेरा स्व हो जावे और मैं अजीव का स्वामी हो जाऊगा । अजीव का स्वामी अजीव ही होगा । अत इसे बलात्कार अजीव होना पडेगा । परन्तु ऐसा नहीं है । मैं तो ज्ञाता दृष्टा हू अत पर द्रव्य को ग्रहण नही करू गा ।

जब पर द्रव्य (शरीरादि पुद्गल) मेरा नही तब वह छिद जावे भिद जावे कोई ले जावे अथवा जिस किस अवस्था को प्राप्त हो जाव पर मैं उसे ग्रहण नही करू गा । यही कारण है कि सम्यग्ज्ञान धम अधर्म को (पुण्य पाप को) तथा अशन पान आदि को नही चाहता । ज्ञानमय ज्ञायकभाव के सद्भाव से वह धर्म (पुण्य) का केवल ज्ञाता दृष्टा रहता है । जब ज्ञानी जीव के धम का ही परिग्रह नहीं तब अधर्म (पाप) का परिग्रह तो सर्वथा असम्भव है । इसी तरह से न अशन का परिग्रह है और न पान का परिग्रह है । क्योंकि इच्छा परिग्रह है और ज्ञानी जीव को इच्छा का परिग्रह नही । इनको आदि देकर जितने प्रकार के पर द्रव्य के भाव है तथा पर द्रव्य क निमित्त से आत्मा मे जो भाव (इच्छा आदि) होते हैं उन सबको ज्ञानी जीव नही चाहता । इस पद्धति से जिसने अज्ञान भावा का वमन कर दिया है तथा सर्व पदार्थों के आलम्बन को त्याग दिया है केवल टकात्कीण एक ज्ञायक भाव का अनुभव करता है उसके बध नही होता । योग के निमित्त से भी यद्यपि बध होता है पर वह स्थिति और अनुभाग से रहित होने के कारण अकिचित्कर है । जिस प्रकार चूना आदि के श्लेष के बिना केवल ईंटो के समुदाय से महल नही बनता उसी प्रकार रागादि परिणाम बिना केवल मन वचन काय के व्यापार से बध नही होता । अत प्रयत्न कर इन रागादि विकारो के जाल से बचना चाहिये ।

मैं शरीरादि से भिन्न ज्ञाता दृष्टा लक्षण वाला स्वतन्त्र द्रव्य हू । मेरे जीवन में जो स्पृहा है वही बध का कारण है । यह जो इन्द्रिय मन वचन काय श्वासोच्छवास तथा आयु व प्राण वाले पुतले मे हमारी स्पृहा है यही तो बन्ध का मूल कारण है । हम जिस पर्याय में जाते हैं उसी को निज मान बठते हैं । उसके अस्तित्व से अपना अस्तित्व मानकर पर्याय बुद्धि हो पर्याय के अनु रूप ही समस्त व्यवहार कर पर्यान्तर को प्राप्त होते हैं । इससे यह अर्थ ही तो निकला कि हम पर्याय बुद्धि से अपनी जीवन लीला पूर्ण करते हैं ।

८० सवर-निर्जरा-मोक्ष

सवर निजरा

मोक्ष के साधक मे दो ही तत्व हैं। नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाय यही सवर है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्रम क्रम से खिर जाना निर्जरा है।

—सवर—

तेरह प्रकार चारित्र दश प्रकार धर्म बारह प्रकार अनुप्रेक्षा बाइस प्रकार परिषह जय के द्वारा संवर होता है। यहां आचार्य ने सबसे प्रथम गुप्ति का उल्लेख किया है। समस्त आस्रवो का मूल कारण (मन वचन व कायरूप त्रिविध) योग है। यदि योगो पर नियन्त्रण हो गया तो आस्रव अपने आप रुक जावेगा। इस तरह गुप्ति ही यहा संवर है। परन्तु गुप्ति प्राप्त होना सहज नही। गुप्तिरूप अवस्था सतत नही रह सकती अत उसके अभाव मे प्रवृत्ति करनी पडती है। तब आचार्य ने आदेश दिया कि भाई यदि प्रवृत्ति ही करना है तो प्रमाद रहित प्रवृत्ति करो। प्रमाद रहित प्रवृत्ति का नाम समिति है। मनुष्य चलता है बोलता है खाता है किसी वस्तु को उठाता है और मल मूत्रादि का त्याग करता है। इनके सिवाय यदि अन्य कर्म करता हो तो बताओ। उसके समस्त कार्य इन पांच कर्मों मे अन्तर्गत हो जाते हैं। आचार्य महाराज ने पांच समितियो द्वारा इन पांचो कर्मों पर पहरा बठा दिया है। अनीति मे प्रवृत्ति हो तो कैसे हो। [धर्म व चारित्र का कथन आगे पृथक अधिकार मे विस्तार के साथ किया गया है। अनुप्रेक्षा व परिषह जय का कथन यद्यपि पृथक से नहीं किया है तथापि प्रसंग पाकर उनका भी कथन यत्र तत्र हो ही गया है। निर्जरा तत्व का कथन अगले अधिकार मे तप धर्म के अन्तगत किया जाने वाला है।]

—मोक्ष तत्व—

बन्ध के कारणों का अभाव और पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होने से जो समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है वह मोक्ष कहलाता है। निश्चय से तो सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं। इनका बन्ध नहीं। जब बन्ध ही नही तो मोक्ष किसका ?

इस तरह निश्चय की दृष्टि से तो बन्ध और मोक्ष का व्यवहार बनता नही है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से जीव और कर्म रूप पुद्गल द्रव्य का एक

क्षेत्रावगाह हो रहा है। इसलिये दोनों का बन्ध कहा जाता है और जब दोनो का एक क्षेत्रावगाह मिट जाता है तब मोक्ष कहलाने लगता है। इस प्रकार पर पदार्थों से भिन्न आत्मा की जो परिणत्ति है वही मोक्ष है। इस परिणत्ति के प्रगट होने में सबसे अधिक बाधक माह कर्म का उदय होता है। इसलिये आचार्य महाराज ने आज्ञा की है कि सर्व प्रथम मोह कर्म का क्षय कर तथा उसके बाद शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त करो। उसके बाद ही अन्य अघातिया कर्मों का क्षय होने से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा। मोह का अभाव होते ही ज्ञानावरण दर्शनवरण तथा अन्तराय ये तीन कम रक्षक के अभाव मे अनन्य शरण हो जा अन्तमुहूर्त मे नष्ट हो जाते हैं। इनका नाश होते ही ज्ञान गुण का शुद्ध परिणमन हो जाता है। जो ज्ञान पहले परा श्रित था वही अब केवलज्ञान पर्याय पाकर आदित्य प्रकाशवत् स्वय प्रकाशमान होता हुआ समस्त पदार्थों का ज्ञाता हो जाता है और कभी स्वरूप से च्युत नही होता।

मोह प्रकृति निकल जाने पर जो अघातिया की ३ प्रकृतिया (आयु को छोड कर) शेष रहती हैं। यद्यपि उन्हे जली हुई रस्सी के समान निर्बल कहा गया है परतु ऐसी निबल नही समझ लेना कि कुछ कर ही नही सकती हैं। निर्बल होने पर भी उनमे इतनी शक्ति है कि वे कोटि पूव तक इस आत्मा को केवलज्ञान हाने पर भी मनुष्य शरीर मे रोके रखती हैं। फिर निर्बल कहने का तात्पर्य यही है कि वे इस जीव को आगे के लिये बन्धन युक्त नही कर सकती। इनका लय हो जाने पर यह जीव मुक्त हो जाता है तथा उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक समय मे सिद्धालय मे पहुच कर विराजमान हो जाता है। यही जैनागम मे मोक्ष की व्यवस्था है।

देखो आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। परन्तु अनादि काल से उसके साथ कम नोकर्म रूप पर द्रव्य का जो सम्बन्ध लगा हुआ है उसके कारण यह अशुद्ध हो रहा है। उस अशुद्ध दशा मे इसकी स्वरूप की ओर दृष्टि नही जाकर सदा परद्रव्यो मे ही लीन रहती है तथा सब प्रकार के अपराधो से यह युक्त रहता है। उस सापराध अवस्था मे नये-नये कर्मों का बन्ध करता है तथा स्वकीय ज्ञान-स्वभाव से च्युत हो ससार भ्रमण का पात्र होता है। परन्तु जब इसे भान होता है कि यह समस्त पर द्रव्य ही मेरी अशुद्धी के कारण है तब उनका ससर्ग छोडकर स्वकीय आत्मद्रव्य मे प्रीति करता है। आत्मद्रव्य मे प्रीति होने से सब प्रकार के अपराधो से छूट जाता है। रागादिक भाव ही वास्तविक अपराध है। उनसे छूट जाने पर नये-नये कर्मों का बन्ध स्वयं रुक जाता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर निरन्तर उदित रहने

वाली केवल ज्ञान रूप ज्योति प्रकट हो जाती है। पहले रागादि का संमिश्रण रहने से ज्ञान-ज्योति मे निर्मलता का अभाव था पर अब रागादि के सर्वथा दूर हो जाने से केवल ज्ञानरूप ज्योति में अत्यन्त निर्मलता रहती है। इस समय निरन्तर छलकते हुए अर्थात् प्रतिसमय उल्लसित होते हुए चैतन्यरूपी अमृत से इसकी महिमा पूर्णता को प्राप्त हो जाती है और यह कर्मकलङ्क से सर्वथा रहित होने के कारण शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है—संसार के बन्धन से छूट जाता है।

८१ सम्यक् ज्ञान

आत्मा अपने ही अपराध से संसारी बना है और अपने ही प्रयत्न से मुक्त हो जाता है। जब यह आत्मा मोही रागी द्वेषी होता है तब स्वयं संसारी हो जाता है तथा जब राग, द्वेष मोह को त्याग देता है तब स्वयं मुक्त हो जाता है। अतः जिन्हें संसार बन्धन से छूटना है उन्हें उचित है कि राग द्वेष मोह छोड़े।

आत्म परिणति को निर्मल बनाने का जो उपाय है उनमें सर्वश्रेष्ठ आत्मा का बोध है। पर से भिन्न अपने को मानो। भेद विज्ञान ही ऐसी वस्तु है जो आत्मा को बोध कराता है। स्वात्म बोध के बिना रागद्वेष का अभाव होना अति कठिन क्या असम्भव है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि तत्व ज्ञान सम्पादन किया जाय। हेयोपादेय तत्वों का यथार्थ ज्ञान आगम के अभ्यास से होता है परन्तु हम लोग उस ओर से विमुख हो रहे हैं। श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने तो यहां तक लिखा है कि साधु का चक्षु आगम है संसार के समस्त प्राणियों का चक्षु इन्द्रिय है देवों का चक्षु अवधि ज्ञान है और सिद्ध परमेष्ठी का चक्षु सर्वदर्शी केवल ज्ञान है। इसलिये अवसर (मनुष्य भव) पाया है तो अहर्निश आगम का अभ्यास करो।

स्वाध्याय—आगमाभ्यास ही जीवादिक तत्वों को जानने में मुख्य कारण है। जिनको आत्म-कल्याण की लालसा है उनके लिए आत्म कथित छह अभ्यान्तर तपों में स्वाध्याय सर्व प्रधान तप बतलाया गया है। कारण यह कि इससे आत्मा और अनात्मा का बोध होता है। आचार्य की बुद्धि देखो उन्होंने शास्त्र पढ़ने के लिए स्वाध्याय यह कितना सुन्दर शब्द चुना है। अरे शास्त्र पढ़ने ही उसके लिये शास्त्राध्याय शब्द चुनते पर उन्होंने स्वाध्याय शब्द चुना है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र पढ़कर स्व का पढ़ो—अपने आत्मा को पहचानो।

यदि ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़कर भी पढ़ने के बाद स्व को न पढ़ सके तो उस भार रूप ज्ञान से कौन सा लाभ होने वाला है? जैन सिद्धान्त में अनेक शास्त्रों को जानने की प्रतिष्ठा नहीं है किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्रतिष्ठा है। वहां तो मात्र तुषमाष को भिन्न-भिन्न जानने वाले मुनि को केवल ज्ञान की प्राप्ति बताकर मोक्ष पहुंचाने की बात लिखी है। अतः ज्ञान थोड़ा भी हो तो हानि नहीं, परन्तु मिथ्या न हो इस बात का ख्याल रखना।

मुझे ऐसा लगने लगा है कि बहुत बालना जिस प्रकार आत्म शक्ति के दुर्बल करने का कारण है उसी प्रकार बहुत सुनना भी आत्म शक्ति के ह्रास का कारण है। आगमाभ्यास भी उतना ही सुखद है जितना कि आत्म धारण कर सके। बहुत अभ्यास यदि धारणा से रिक्त है तो जसे उदराग्नि क बिना गरिष्ट भोजन लाभदायक नही वसे ही वेदाभ्यास (शास्त्राभ्यास) भी लाभ दायक नही प्रत्युत हानिकारक है।

स्व-पर भेद विज्ञान — ज्ञाता दृष्टा स्व द्रव्य है और कर्म नो कम पर द्रव्य हैं। अनादि काल से जीव पर द्रव्य का ग्रहण कर इसका स्वामी बन रहा है। परद्रव्य को स्वमानने का अज्ञान (मिथ्यात्व) ही मूल कारण है अन्यथा ऐसा कौन विवेकी होगा जो पर को जानता हुआ भी उस ग्रहण करे।

एक धोबी के यहा किसी की चद्दर बदली गई। उसने धोबी से कहा। धोबी उस दूसरे व्यक्ति के घर गया। वह चद्दर ओढ कर सोता था। धाबी के जगाने और बताने पर कुछ लज्जित हुआ तथा तुरन्त चद्दर लौटा दी। जिस प्रकार स्व पर द्रव्य की बात कही उसी प्रकार स्व पर भाव की जानना। जिसका जा भाव (या गुण) होता है वही इसका स्व है और वही उसका स्वामी है। जिसका जो भाव नही होता है वह उसका स्वामी भी नही होता है। चेतना ही आत्मा का स्वभाव है। इसलिए आत्मा ही उसका स्वामी है। रागादि भाव आत्मा के स्व भाव नही हैं। इसलिये वह उसका स्वामी भी नही है। तब ज्ञानी मनुष्य पर का (रागादि का) ग्रहण कसे कर सकता है।

आत्मा मोहोदय के कारण पर पदार्थों मे आत्म बुद्धि कर दु खी हो रहा है। एक प्रज्ञा ही ऐसी प्रबल छेनी है कि जिसके पडते ही बन्ध और आत्मा जुदे जुदे हो जात हैं। आत्मा और अनात्मा का ज्ञान करना प्रज्ञा के आधीन है। जब आत्मा और अनात्मा का ज्ञान होगा तब ही तो मोक्ष हो सकेगा। परन्तु इस ज्ञान रूपी छेनी का प्रयोग बडी सावधानी से करना चाहिये। बुद्धि मे निज का अश छटकर पर मे न मिल जाय और पर का अश निज मे न रह जाय यही सावधानी का मतलब है।

धन धान्यादि जुदे हैं स्त्री पुत्रादि जुदे है शरीर जुदा हैं रागादि भाव जुदे हैं द्रव्य-कर्म जुदे हैं मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान जुदे हैं। यहा तक कि ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होने वाले ज्ञेय के आकार भी जुदे हैं। इस प्रकार स्व लक्षण के बल से भेद करते-करते अन्त मे जो शुद्ध चैतन्य भाव बाकी रह जाता है वही निज का अश है वही उपादेय है उसी में स्थिर हो जाना मोक्ष है। प्रज्ञा के द्वारा जिसका ग्रहण होता है वही चैतन्य रूप मैं हू। इस प्रकार

चेतता पर पदार्थों को पर रूप जानता हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो कहे कि ये मेरे हैं। शुद्ध आत्मा को जानने वालों के ये भाव कदापि नही हो सकते।

जो चोरी आदि अपराध करता है वह शंकित होकर घूमता है कि कोई मुझे चोर जानकर बाध न ले पर जो अपराध नही करता है वह सर्वत्र नि शङ्क होकर घूमता है। मैं बन्ध न जाऊ इस प्रकार की चिन्ता ही उसे उत्पन्न नही होती। इसी प्रकार जो आत्मा पर भावो को ग्रहण कर चोर बनता है वह हमेशा शङ्कित ही रहेगा और ससार के बधन मे बन्धेगा। अपराधी मनुष्य सदा शङ्कित रहता है अत यदि निरपराधी बनना है तो आत्मा की सिद्धी करो आत्मा से पर भावों को जुदे करो।

अमृत चन्द्र स्वामी कहते हैं कि मोक्षार्थी पुरुषो को सदा इस सिद्धान्त की सेवा करना चाहिये कि मैं शुद्ध चतन्य ज्योति स्वरूप हू और जो ये अनेक भाव प्रतिक्षण उल्लासित होते हैं वे सब मेरे नही है स्पष्ट पर द्रव्य है। सम्यक्ती राग द्वेष मई कलक आत्मा को विशुद्ध परिणामो के जल से धो डालता है। वह अपने समान दूसरो को जानता है। अपने कल्याण का वह इच्छुक है। स्व पर उपकार मे तत्पर है। जो प्राणी अपनी आत्मा का उपकार चाहता है क्या वह दूसरो का उपकार नही चाहेगा। राग द्वेष से बचना ही अपनी आत्मा का सच्चा उपकार है यही सम्यक्ति के लक्षण हैं। इसी से तो सम्यक्ति की पहचान होती है।

देखो रामचन्द्र जी सम्यक ज्ञानी थे। जब रावण के समस्त अस्त्र शस्त्र विफल हो चुके तब अन्त मे उसने महा शस्त्र चक्र का उपयोग लक्ष्मण पर किया परन्तु लक्ष्मण के प्रबल पुण्य से वह चक्र उनके हाथ मे आ गया। उस समय श्री रामचन्द्र जी महाराज ने अति सरल निष्कपट मधुर परहित रत वचनो के द्वारा रावण को सम्बोधन कर कहा कि हे रावण अब भी कुछ नही गया अपना चक्र रत्न वापिस ले लो। आपका राज्य है अत सब ही वापिस लो। आपके भ्राता कुम्भकर्ण आदि तथा पुत्र मेघनाथ जो हमारे यहा बन्दी के रूप मे हैं उन्हे वापिस ले आवो। आपका जो भाई विभीषण हमारे पक्ष मे आ गया है उसे भी सहर्ष ले आवो। केवल सीता को दे दो। जो नर सहारादि तुम्हारे निमित्त से हुआ है उसकी भी हम समालोचना नही करना चाहते। हम सीता को लेकर किसी वन मे कुटी बनाकर निवास करेंगे और तुम अपने राजमहल मे मन्दोदरी आदि पटरानियो के साथ आनन्द जीवन बिताओ। देखो कैसा सरल भाव है और बताओ सम्यक्ति क्या भाव रखे ? यही नही जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था तब किसी ने आकर

कन्ना—महाराज वह तो विद्या सिद्ध कर रहा है। तब सरल परिणामी रामचन्द्र कहते हैं सिद्ध करने दो तुम उसकी सिद्धि मे क्या किसी प्रकार की बाधा डालते हो ? इसमे ज्यादा सम्यक्ति भाव क्या होंगे ? बताओ। धन्य है वह वीर आत्मा जिसने अपनी आत्मा मे सम्यक दर्शन पैदा कर अनन्त ससार की सतति को छिन्न दिया है वह अवश्यमेव मोक्ष का पात्र है। ससार मे भी वह सुखिया है।

८२ समयसार परिचय

श्री कुन्द कुन्द भगवान ने ८४प्रभृत बनाये हैं। उनमे कतिपय अब भी प्रसिद्ध हैं। उन प्रसिद्ध प्राभृतो मे समयसार की बहुत प्रसिद्धि है। सिद्ध भगवान को नमस्कार करने के पश्चात कुन्द कुन्द भगवान कहते हैं कि श्रुत केवली ने जसा कहा वसा कहूगा। इससे यह घोषित होता है कि परम्परा से यह उपदेश चला आया है मैं वसा ही कहूगा। इससे यह ध्वनि निकलती है कि मेरे अनुभव मे भी आ गया है तथा इसी बात का आगे एक गाथा मे स्पष्ट रूप से कह भी दिया है कि जो आत्मा आज तक न सुनने मे आई है न परिचय मे और न अनुभव मे पर से भिन्न उस आत्मा के एकत्व का मैं अपने विभव क अनुसार निरूपण करू गा। साथ मे यह भी बताया कि मेरा विभव यह है कि मैंने स्याद्वाद पद विभूषित शब्द ब्रह्म का अच्छा अभ्यास किया है। एकान्तवाद द्वारा जा उसकी बाधक युक्तिया है उनको निरस्त करने मे समर्थ युक्तियो की पूर्णता प्राप्त की है। परम्परा गुरुओ का उपदेश भी मुझे प्राप्त है तथा वसा अनुभव भी है। इतने पर निणय करना छल ग्रहण कर प्रमाद का अवलम्बन मत करना।

इस ग्रन्थराज मे स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं समय प्राभृत कहूगा। यहां आशका होती है कि समय क्या पदार्थ है। इस आशका का स्वयं स्वामी उत्तर देते हैं कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र मे स्थित हैं उसे स्व समय और जो इससे भिन्न पुद्गल कर्म प्रदेश मे स्थित हैं उसे पर समय कहते हैं। यह दोनो जिसमे पाये जाय उसी का नाम जीव जानो चाहे समय जानो। इसके बाद स्वामी ने इस समय या जीव के रूप मे द्वविध्य का आपत्ति जनक बताया है अर्थात् यह द्वविध्य शोभनीक नही है। एकत्व प्राप्त जो समय है वही सुन्दर है जहा द्वविध्य हुआ वहा ही बन्ध है ससार है। जैसे मां के पुत्र पदा होता है तो स्वतन्त्र है। जहा उसका विवाह हुआ पर को अपनाया, ब्रह्मचारी से गृहस्थ हुआ वहा उसकी स्वतन्त्रता का हरण हो गया वह संसारी बन गया। इसी तरह आत्मा ने जहां पर को (कर्म व रागादि को) अपनाया वहा उसका एकत्व चला गया।

इस समय या जीव की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है क्योकि अनादि से काम भोग की कथा सुनी, वही परिचय मे आई और वही अनुभव मे आई। आत्मा का जो एकत्व (पर से भिन्नत्व) था उसे कर्मय भाव के साथ एकमेक होने से

न तो सुना न परिचय म लाया और न अनुभव मे लाया। वह शुद्ध आत्मा वास्तव मे न तो प्रमत्त कही जा सकती है न अप्रमत्त। वह तो केवल ज्ञान वाली है और उसी को शुद्ध कहते हैं वही ज्ञाता है अर्थात आत्मा की कोई भी अवस्था हो वह ज्ञायक भाव से शून्य नही होती। जसे मनुष्य की बाल्यादि अनेक अवस्थायें होती है। परन्तु वे ज्ञायक भाव से शून्य नहीं होती। यही कारण है कि आत्मा का लक्षण अन्यत्र चेतना कहा है। श्री स्वामी ने प्रथम गाथा मे सिद्ध भगवान को नमस्कार कर यह प्रतिज्ञा की मैं समय प्राभृत का परिभाषण करू गा और यह भी लिखा कि श्रुत केवली भगवान ने जसा कहा वैसा करू गा। इससे यह द्योतित होता ह कि वर्तमान मे हमारी आत्मा मे सिद्ध पर्याय नही ह अर्थात् ससार पर्याय ह। जीव की दो प्रकार की पर्याय होती ह। एक ससार और दूसरी मोक्ष। हम दोनो पर्याय को सत्य मानते हैं। ये अपने-अपने कारणो से होती हैं। तब एक को सत्य और दूसरी को असत्य मानना यह हमारे ज्ञान मे नही आता। यह अवश्य है कि एक पर्याय अनादि सान्त है और दूसरी सादि अनन्त ह। इन दोनो पर्याय का आधार आत्मा ह।

एक पर्याय आकुलता से रहित है क्योंकि उसमे से पर पदार्थों का सम्पर्क दूर हो गया। जहा पर पदार्थों के सम्पक को जीव निज मानता ह और जहा पर मे निजत्व की कल्पना करता ह वही आपत्तियो की उत्पत्ति होने लगती ह।

कर्ता-कर्म-विचार —आज कुन्द कुन्द भगवान के समयसार ग्रन्थ की बडी प्रसिद्धि ह। इसमे कर्ता-कम अधिकार बडा रहस्यमयी ह। पर-भावा से सर्वथा भिन्न तथा एकत्व को प्राप्त ऐसे शुद्धात्मा मे कतव्य तथा कर्मत्व हो सकता है या नही इस पर विचार किया ह। यह विचार दो दृष्टियो से हो सकता ह—एक तो शुद्ध दृष्टि से तथा दूसरा अशुद्ध दृष्टि से। कर्ता किसे कहते है? जो परिणमन करता ह वह कर्ता है। कर्म किसे कहते है? जो परिणमन होता ह वह उसका कर्म ह यह कथन (वास्तव मे) निमित्त की गोणता कर दिखाया ह। उसे लोक सवथा मान लेते है। यही परस्पर विवाद का स्थल बन जाता है। अमृत चन्द स्वामी ने मङ्गला चरण मे लिखा ह कि मैं एक कर्त्ता हू जो क्रोधादि भाव हैं ये मेरे कर्म हैं ऐसा अज्ञानी-जनो की अनादि काल से कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति चली आती है। परन्तु जब सब द्रव्यो को भिन्न भिन्न दर्शाने वाली ज्ञान-ज्योति उदय को प्राप्त होती ह तब यह सब नाटक शान्त हो जाता ह। इससे यह निश्चय हुआ कि यह नाटक जब तक इसकी विरोधी ज्ञान ज्योति उदित नही हुई तब तक सत्य है। आपकी इच्छा चाहे इसे व्यवहार कहो या अशुद्ध दशा कहो।

कतृ -कर्माधिकार मे स्वामी ने ये ही तो लिखा ह कि जब तक आत्मा आस्रव और आत्मा के विशेष अन्तर को नही जानता तब तक यह अज्ञानी ह और इसी अवस्था मे क्रोधादि म प्रवृत्ति करता ह । यहा क्रोध उपलक्षण ह अत मिथ्या दर्शन अविरति प्रमाद, कषाय तथा योग का ग्रहण समझना चाहिये । कोधादि कषायो मे प्रवर्तमान जीव के बन्ध होता है यह बतलाया है ।

आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य सिद्ध सम्बन्ध ह अर्थात् वह सम्बन्ध कृत्रिम नही किन्तु अनादि काल से चला आया ह । यह कारण ह कि आत्मा नि शंक होकर ज्ञान मे प्रवृत्ति करता है । करता क्या है ? स्वाभाविक यह प्रवाह चला आ रहा ह और चलता रहेगा । इसी प्रकार यह जोव सयोग-सम्बन्ध युक्त जो क्रोधादिक भाव हैं । उनके विशेष का न जानता हुआ अज्ञान के वशीभूत हो उनमे प्रवृत्ति करता ह ।

यह जीव जिस काल मे क्रोधादि को निज मानता है उस काल मे क्रोधादिक भाव रूप क्रिया पर भाव हाने से यद्यपि त्याग-योग्य है ता भी उस क्रिया मे स्वभाव रूप का निश्चय होने से यह उन्हे उपादेय मानता है जिससे कभी क्रोध करता है कभी राग करता है और कभी मोह करता है ।

यहा पर आत्मा अपनी उदासीन अवस्था का त्याग कर देती है अतएव इन क्रोधादि भावो का कर्ता बन जाती है और ये क्रोधादि उसके कर्म होत हैं । इस प्रकार से यह अनादि कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति धारावाही रूप से चली आ रही है । अतएव अन्योन्याश्रित दोष को यहा अवकाश नही ।

यहा पर कोई शंका करे कि क्रोधादि के साथ जो (तादात्म्य न कहकर) संयोग सम्बन्ध कहा गया है इसका क्या तात्पर्य है । क्रोधादि तो आत्मा के विकृत भाव ह और ऐसा नियम है कि द्रव्य जिस काल मे जिस रूप परिणमता है उस काल मे तन्मय हो जाता है । जसे लोह का पिण्ड जिस समय अग्नि से तपाया जाता है उस समय अग्निमय हो जाता है एवं आत्मा जिस समय क्रोधादि रुप परिणमता है उस काल मे वह उसके साथ तन्मय हो जाता है । फिर क्रोधादिको के साथ उसका (दण्ड दण्डीवत्) सयोग सम्बन्ध कहना सगत कैसे हुआ ?

उत्तर—यह आपका प्रश्न ठीक है किन्तु यहां जो वर्णन है वह निमित्त की प्रधानता से है । औपाधिक भावो को निमित्त जन्य होने से निमित्त की मुख्यता कर निमित्त के कह दिये है ऐसा समझना चाहिये । क्रोधादि भाव चारित्रमोह के उदय से होते हैं और चारित्रमाह पुद्गल द्रव्य है । उसका

आत्मा के साथ सयोग सम्बन्ध है । अत उसके उदय मे होने वाले क्रोधादि का भी सयोग सम्बन्ध कह दिया है । मेरी तो यह श्रद्धा है कि रागादिक तो दूर रही मति ज्ञानादिक भी क्षयोपशम जन्य होने से निवृत्त हो जाते हैं । अपनी परिणति अपने आधीन है उसे पराधीन मानना ही अनर्थ की जड है और अनर्थ ही ससार का मूल है ।

८३ त्रिविध उपयोग

ससार के मनुष्य अनेक काम करते दिखाई देते हैं। उन कार्यों मे जो अशुभ काय होते हैं वे अशुभोपयोग के निमित्त से होते है और जो शुभ कार्य होते हैं वे शुभोपयोग के निमित्त से होते हैं और जो मोक्ष सुख साधक कार्य हाते हैं वे शुद्धोपयोग के निमित्त से होते है। यद्यपि यह तीनो उपयोग एक ही आत्मा के हैं परन्तु जिस तरह का निमित्त मिलता है उसी तरह का कार्य करने के लिये आत्मा प्ररित होती है।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो अशुद्ध है। शुभोपयोग से स्वर्गादिक और अशुभोपयोग से नरकादि प्राप्त होते हैं परन्तु हैं दोनो ही ससार के कारण एक स्वर्ण की बेडी तो दूसरी लोहे की दानो हैं बेडिया ही। परन्तु इन दोनो से भिन्न जो तीसरी वस्तु है वह है शुद्धोपयोग जिसके अन्दर न तो शुभ और अशुभ विकल्प है और न किसी प्रकार की आकुलता है। वह ता एक निर्वि कल्प भाव है। सम्यग्दृष्टि अशुभापयोग से सदा बचे रहने की आकांक्षा रखता है। यद्यपि शुभापयोग पूजादान आदि करता है परन्तु अन्तरग से इन्हे करना नही चाहता। स्नेह को बन्धन का कारण मानता है। वह सदा सोचता है।

२ शरीर से भिन्नता

मनुष्य को एक शुद्ध चेतना का ही अवलंबन है। वह टकोत्कीर्ण फूल के समान एक शुद्ध भाव है। वह निर्विकार एव निर्विकल्प एक शुद्ध ज्ञानघन है। उसमे किसी भी प्रकार की संकरता नही बाह्य मे अवश्य दोनो (पुद्गल और जीव) का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो रहा है पर किसी का एक प्रदेश भी किसी मे प्रविष्ट नहीं होता। जैसे चार तोला सोना है और उसमे चार तोला चाँदी मिला दी। इस तरह वह आठ तोले की चीज बन गई। अब देखो बाह्य मे सोना और चाँदी बिल्कुल मिली हुई दीखती है। पर विचारे तो सोना अलग है और चाँदी अलग है सोने का परिणमन सोने में हो रहा है और चाँदी का चाँदी में चाँदी का एक चावल अंश सोने में नहीं आता और सोने का चाँदी मे नही आता। वैसे ही आत्मा अलग है और पुद्गल अलग है। आत्मा का परि णमन आत्मा में हो रहा हैं और पुद्गल का परिणमन पुद्गल में। आत्मा का स्वचतुष्टय जुदा है और पुद्गल का स्वचतुष्टय जुदा है। आत्मा की चेतना

पुद्गल मे नही जाती और पुद्गल की जडता आत्मा मे नही आती पर व्यवहार मे देखो तो एक सी दीखती है। जब उस सोने चाँदी को तेजाब मे डाल दिया तो सोना सोना रह जाता है और चाँदी चाँदी रह जाती है। वैसे ही तत्व दृष्टि से विचारो तो आत्मा आत्मा है पुद्गल पुद्गल है। कोई का किसी से कुछ सम्बन्ध नही। चेतन मे जड का काम नही है। अब देखिये शरीर पर कपडा पहना तो क्या कपडा शरीर मे प्रवेश कर गया। उस जीर्ण वस्त्र को उतार कर दूसरा नवीन वस्त्र पहन लिया है। वैसे ही आत्मा ८४ लाख योनियो मे पर्यायमात्र बदलता है। कोई कहे कि इस तरह तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध हुआ उसमे कुछ बिगाड भला होता नही चाहे आप कुछ भी करो। पर ऐसा नही है नय प्रमाण से पदार्थ के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करो। द्रव्य दृष्टि से वह त्रिकाल बाधित शुद्ध है पर वर्तमान पर्याय उसको अशुद्ध ही माननी पडगी अन्यथा ससार किसका ?

३ शुद्धोपयोग व शुभोपयोग

पूजा करते हुए भगवान से यही तो कहते हैं —

तव पद मेरे हिय मे मम हिय तेरे पुनीत चरणों मे।
तबलो लीन रहे प्रभु जबलो पाया न मुक्ति पद मैने ॥

भगवान तेरे चरण मेरे हृदय मे निवास करें और मेरा हृदय तेरे चरण कमलो में परन्तु कब तक ? जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक। यदि आज ही निर्वाण हो तो इस प्रार्थना की क्या आवश्यकता है। उसकी सफल साधना के लिये —

शास्त्रो का हो पठन दशन लाभ सत्सङ्गति का।
सद्वृत्तो का सुयश कहकर दोष ढाकू सभी का ॥
बोलू प्यारे वचन हित के आपका रूप ध्याऊ।
सेऊ तबलो चरण जिनके, मोक्ष जबलों न पाऊ ॥

हे भगवान जब तक मोक्ष को प्राप्त न करू तब तक शास्त्र का अभ्यास जिनेन्द्र की सेवा और अच्छी सङ्गति मिले। सद्वृत्ति है जिनकी ऐसे पुरुषो का गुणगान करू पराये दोषो के कहने मे मौन हो जाऊ। सुन्दर हित मित वचन बोलू। पर वह भी कब तक। जब तक मोक्ष न हो जाय। इससे मालूम पडता है कि उस शुद्धोपयाग मे शुभोपयोग की भी आवश्यकता नही

है। अरे तभी तक सीढी चढं न जब तक कि शिखर पर न पहुचू । शिखर पर पहुँच गए तो फिर सीढ़ियो की क्या आवश्यकता ?

४ शुभोपयोग का प्रयोजन

सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग मे ही रहता है। अशुभोपयोग की निवृत्ति के लिए वह पूजा दानादि मे प्रवर्तन करता है। जब तक शुद्धोप-योग की प्राप्ति नही हुई तब तब शुभापयोग रूप ही प्रवर्तता है। यदि आज ही शुद्धोपयोग प्राप्त हो जाय तो आज ही शुभोपयोग त्याग दे। यद्यपि शुभोपयोग और अशुभपयोग दोनो हेय हैं परन्तु इसका यह मतलब नही कि हम शुभोपयोग न कर। शुभोपयोग करो इसका कौन निषेध करता है। शुभोपयोग के त्यागने से शुद्धोपयोग नही हाता किन्तु शुभापयोग मे जो मोक्ष मार्ग की कल्पना कर रखी है उसके त्याग (और रागद्व ष की निवृत्ति) से शुद्धोपयोग होता है और वही परिणाम मोक्ष मार्ग का साधन है।

५ शुद्धोपयोग की प्रधानता

अशुभोपयोग की निवृत्ति के लिये शुभापयोग आवश्यक बताया है। इसका यह तात्पय नही कि शुभोपयाग से ही मोक्ष सुख भी प्राप्त हो जायेगा। शुभोपयोग द्वारा प्राप्त इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नही हैं परन्तु कर क्या ऊट को कडवा नीम अच्छा लगता है वह गन्ने को बुरा समझता है। अज्ञानी शभोपयोग को मोक्ष का कारण मान बठता है। मोक्ष का कारण केवल शद्धो पयोग ही है। शुभोपयोग मे रहकर ही यदि मुक्ति चाहो तो कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोग का आश्रय ग्रहण करना होगा। जसे वृक्ष की छाया मिल गई वहा उसने किंचित विश्राम किया। वहा से चलकर वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया। फिर वह कहता है कि मुझे छाया ने पहुँचा दिया। अरे छाया ने यहाँ नही पहुचाया पहुँचाया तो उसकी चाल ने। छाया केवल निमित्त मात्र हुई। वसे ही शभोपयोग ने माक्ष नही पहुँचाया। पहुँचाया तो शद्धोपयोग ने पर व्यवहार से कहते है कि शुभोपयोग ने मोक्ष पहुँचाया। पर तत्व दृष्टि से विचारो तो शुभोपयोग ससार ही का कारण है क्योंकि उसमे राग का अश मिला हुआ है। इसलिये सच्चा सुख प्राप्त नही करा पाता।

६ सम्यक्त्व और शुद्धोपयोग

सम्यकदृष्टि भगवान के दर्शन करता है पर उस मूर्ति मे भी वह अपने

शद्ध स्वरूप की झलक पाता है । हम भगवान के दर्शन करते हैं तो हमे उनके दशन व ज्ञान और चारित्र ही तो रुचते हैं और है क्या ? क्योंकि जो जैसा अथ चाहता है वह उसी अर्थ वाले के पास जाता है जो धन का अर्थी होगा व० धनिको की सेवा करेगा । वह हम सरीखो के पास क्यो आवगा और जो मोक्षार्थी होगा वह भगवान की सेवा करेगा । हमे भगवान के दर्शनज्ञान और चारित्र रुचते हैं । तभी तो हम उनके पास जाते है । कहने का तात्पय यह है कि सम्यक्त्वी का लक्ष्य केवल शुद्धापयोग रहता है लेकिन फिलहाल वह शुद्धो पयोग पर चढने के लिये असमथ है । यदि शभोपयोग से स्वर्गादि की प्राप्ति हो जाय तो इसमे उसके लक्ष्य का तो दोष नही है ।

दखिये मुनि तपश्चरणादिक करते हैं जिससे उन्हें स्वर्गादिक मिल जाता है । पर तप का कार्य स्वर्ग की अविभूति दिलाना तो नही है । उसका काम तो मुक्ति लाभ कराना है । चू कि उस तप से वह मुनि शुद्धोपयोग की भूमि को स्पर्श नही कर सका इसलिये शद्धोपयोग द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति हो गई । जमे किसान का लक्ष्य तो बाज बोकर धान्य उत्पन्न करना है पर उसके घास फूसादि की प्राप्ति स्वयमेव ही हा जाती है । एतावत् शुभोपयोग होने स स्वर्गादि मिल जाता है । पर स्वर्गों मे भी क्या है ? तनिक वहा ज्यादा भोग है । कल्प वृक्षो की छाया है । यहा ईंट चूने के मकान हैं वहा हीरे कचन के प्रसाद हैं और क्या ? ज्यादा से ज्यादा वहा अप्सराओ के आलिंगन का सुख है । अतिन्द्रिय सच्चा शाश्वत सुख तो सिवाय अपनी आत्मा क और कही नही है यह निश्चय है । इसी की प्राप्ति के लिए सम्यक्त्वी का लक्ष्य एकमात्र शुद्धोपयोग हाता है ।

७ अत्यासक्ति केवल पाप

कुछ लोग समझते हैं कि पुण्य बन्ध नरक का कारण है क्योंकि पुण्य मे विषय सामग्री जुटती है और विषयो के मिलने से भोगने की इच्छा होती है भागने से अशुभ कर्म बन्ध पडता है और इस तरह नरक जाना पडता है । पर वस्तुतः यह बात नही है । पुण्य नरक का कारण नही हैं । पुण्य का काम विषय सामग्री जुटा देना मात्र है । पदार्थ के भोगने मे कोई आपत्ति नही है पर उसमे लिप्त मत हो जाओ । अति आसक्ति ही नरक की जननी है । विषय को अन्न की तरह सेवन करो । यदि अन्न ज्यादा खा लिया जाय तो अजीर्ण हो जाता है उसी तरह विषयो का अधिक सेवन करोगे तो मरो तपादिक मे बुलाओ डाक्टर को । देखो आचार शब्द है । उसमे अति लगा दो तो अत्याचार बन जाता है ।

८४ आत्मा की पहचान निर्मलता में है

आतम को हित है सुख—सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहि न तातै, शिव मग लाग्यो चहिये।।

धर्म तो आत्मा की निर्मल परणति का नाम ह। काम क्रोध लोभ मोह आदि विकार आत्मा की उस निमल परणति को मलिन किये हुए हैं। जिस दिन यह मलिनता दूर हो जायेगी उस दिन आत्मा में धम सुख शान्ति प्रगट हुआ कहलावेगा। किसी कुल या जाति मे उत्पन्न होने से कोई उस धर्म का धारक नही हो जाता। कुल मे तो शरीर उत्पन्न होता है। सो उसे जितने प लोकवादी हैं सब आत्मा से जुदा मानते हैं। इतना तो सब मानते हैं कि इस समय ससार मे कोई विशि ज्ञानी नही हैं। विशिष्ट ज्ञानी के अभाव मे लोग अपने ज्ञान के अनुसार पदाथ को समझाने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार सूय के अभाव मे घर घर दीपक जल जाते हैं कोई बिजली का बडा बल्व जलाता ह तो कोई मिट्टी का छोटा सा टिमटिमाता हुआ दीपक ही जलाता है। जिसकी जितनी सामर्थ्य है वह उतना साधन जुटाता है। इस प्रकार सर्वत्र विशिष्ट ज्ञानी के अभाव में लोग अपने-अपने दीपक जलाते हैं। फिर भी एक सूर्य ससार का जितना अन्धकार नष्ट कर देता ह उसको पृथिवि के छोटे बडे सब दीपक मिलकर भी नही कर सकते। ज्ञान थोड़ा ही उसमे कोई हानि नही परन्तु मोह मिश्रित ज्ञान हो तो वह पक्ष खडा कर देता ह। यही कारण है कि इस समय उपलब्ध पृथिवि पर नाना धर्म व नाना मतान्तर प्रचलित हैं। यह कलिकाल की महिमा है। इस काल का यही स्वरूप ह। परिग्रह सबसे बडा पाप है। आज इसके कारण ही ससार मे त्राहि त्राहि मच रही है। जिनके पास है वे अपने पास से अन्यत्र नही जाने देना चाहते और जिनके पास नही ह वे उसे प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिये ससार मे सघर्ष मचा हुआ है। यदि लोगो की दृष्टि मे इतनी बात आ जाय कि परिग्रह निर्वाह का साधन है। जिस प्रकार हमे भोजन, वस्त्र और निवास क लिए परिग्रह की आवश्यकता है उसी प्रकार दूसरो को भी उसकी आवश्यकता है। अत हमे आवश्यकता से अधिक अपने पास नही रोकना चाहिये। ऐसा भाव हो जाय तो संसार का कल्याण हो जाय। यदि परिग्रह का कुछ भाग एक जगह अनावश्यक रुक जाता है तो दूसरी जगह उसके बिना कमी होने से सकट

उत्पन्न हो जाता है। जहा रक्त रुक जाता है वहा पीडा पैदा हो जाती है। इसलिये जनागम मे यह कहा गया है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकताओ के अनुसार परिग्रह का परिमाण कर। मुनि सर्वथा ही उसका परित्याग करे। कितने ही लोग ऐसा सोचते हैं कि अभी परिग्रह का अर्जन करो पीछे दान आदि कार्यों मे व्यय कर पुण्य का सचय कर लेगे। परन्तु आचार्य कहते हैं कि कीचड लगाकर धाने की अपेक्षा दूर से ही उसका स्पर्श न करना अच्छा है। लक्ष्मी को अङ्गीकार करके उसका त्याग करना कहा की बुद्धिमत्ता है ?

जहा पर स्वभाव रूप परिणमन हैं वहा पर कपट रूप व्यवहार नही और जहा कपट व्यवहार है वहा स्वभाव रूप परिणमन नही वरन् विकार है। प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा रहती है कि मैं लोगो के द्वारा प्रशसा पाऊ। लोग मुझे अच्छा समझे। यह भाव जीव के दु ख का कारण है। यह भाव जिनके नही होते वे सुजन ह। उनकी निमल परिणति हो जाती है। वे परोपकार आदि करके भी अपनी प्रशसा नही चाहते किसी कार्य के कर्ता नही बनते। मेरा तो विश्वास है कि अन्तरङ्ग परिग्रह रागादि तथा बाह्य परिग्रह धन धान्यादि इन दोनो प्रकार के परिग्रह के पिशाच से पीडित आत्मा ये कितनी ही ज्ञानी क्यो न हो उनके द्वारा जो भी काय किया जावेगा उससे मनुष्य को कदापि लाभ नही पहुँच सकता क्योकि वे स्वय से पाडित है। सुजन का अर्थ है भले मनुष्य भले मनुष्य का अर्थ है कि जिनका आचार निमल है। निर्मल आचार के द्वारा वे आत्म कल्याण भी कर सकते है और उनके आचार को देखकर ससार के दूसरे मनुष्य भी कल्याण कर सकते हैं। इसलिये निमल आचार धारक सुजन बनो और निश्छल प्रवृत्ति करो।

८५ आत्मा की पहचान

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण-शिव मग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय-कारन सो व्यवहारो।।

आत्मा की पहिचान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। घर छोडकर तीर्थ स्थान मे रहने मे पुरुषार्थ नही। पाण्ड महानुभावो की तरह ज्ञानार्जन कर जनता को उपदेश कर सुमार्ग मे लगाना पुरुषाथ नही। दिगम्बर वेश भी पुरुषार्थ नही। सच्चा पुरुषार्थ तो वह है कि उदय के अनुसार जो रागादिक हो वे हमारे ज्ञान मे भी आवे उनकी प्रवृत्ति भी हममे हो किन्तु हम उन्हे कर्मज भाव समझ कर इष्टा अनिष्ट कल्पना अपनी आत्मा की रक्षा कर सके। लोग कहते हैं कि हमे शान्ति नही मिलती। अरे तुम्हे शान्ति मिले तो कैसे मिले ? एक क्षण रागादिक से निवृत्त होकर शान्ति मुद्रा से बठकर तो देखो कैसा शान्ति का समुद्र उमडता है। न कुछ करना ही आत्मा का काम है। मन वचन काय के याग भी आत्मा के नही है। वह तो एक निर्विकल्प भाव है। धन्य हैं वे पुरुष जो मोह रूपी शत्रु को पछाड कर आत्मा के गुणो मे ही प्रीति करते हैं। आत्मन यदि कुछ कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से ममता छोड अपने आत्मा से प्रम करो संयम धारण करो समरभ-समारभ आरम्भ छोडकर आत्म कल्याण करो।

जिस प्रकार चौरासी लाख योनि रूपी नीच गतियो मे चिन्तामणि रत्न के समान मानव शरीर पडा हुआ है। यह मानव शरीर दोनो लाभो को प्राप्त करा देता है। (१) संसार भ्रमण का अन्त (२) अविनासी मुक्ति स्थान की प्राप्ति। जिस जिस योगी ने संसार के परिभ्रमण का अन्त करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया है उसी योगी का मानव शरीर पाना धन्य है।

आत्मा को जब सम्यग्ज्ञान चारित्र का स्पर्श होता है तब यह आत्मा परमात्मा रूप बन जाती है जैसे कि पारसमणि से लोहा स्पर्श होते ही सोना बन जाता है इसी तरह आत्मा अपने स्वरूप को जब स्पर्श करती है तब वह रत्नत्रयात्मक परमात्मा बन जाजी है। तब वह जैसे बन्दर अपने मन की चचलता को छोडकर मनुष्य हुआ हो उस तरह यह मनुष्य अपने शरीर आदि पर पदार्थों के समूह मे लगे हुए मन को हटाकर अपने स्वरूप मे आकर शुद्धात्मा स्वरूप बन जाता है। इसी प्रकार हे संसारी आत्मन सुनो जिसका

मन हमेशा चचल बन्दर के समान रहता है इधर उधर भटकता रहता है ऐसे चचल मन को मनुष्य अपने योग के द्वारा बांध कर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का जब ससर्ग कराता है तब मानव उस पर्याय को उस बन्दर की चचल मन की तरह बाधकर मोक्ष प्राप्त कर लेने की योग्यता प्राप्त कर लिया करता है। इस प्रकार हे आत्मन् तू भी यदि रत्नत्रय से शुद्ध आत्म स्वरूप का उपयोग अपने शुद्धोपयोग के द्वारा करेगा तो तुझे शुद्धात्म–पद को प्राप्त करने म क्या देर है अर्थात् कुछ देर नहा है। भिन्न भिन्न जो मत देखे जाते हैं वह सब दृष्टि का भेद है। सब ही मत एक तत्व के मूल मे व्याप्त हो रहे हैं उस तत्वरूप वृक्ष का मूल है आत्म धम जो कि स्वभाव को सिद्ध करता और वही धर्म प्राणियो के अनुकूल हैं। आडम्बरा मे धर्म नही धम आत्मा मे है। पर्याय दृष्टि से अनेक प्रकार वस्तु धर्म है निश्चय से आत्मा का ज्ञान धम है।

जिस प्रकार पत्थर का ही अन्वेषण करने से सोना दीखता है जसे दूध को गर्म करके अच्छी तरह से उसको मथन करने से घी निकलता है काष्ठ को काष्ठ से रगडने से अग्नि प्राप्त होती है। इस तरह भेद विज्ञान के अभ्यास से मुझको मेरे अन्दर देखने मे क्या आसाध्य है ?

इस प्रकार भगवान वीतराग देव के इस मार्ग पर श्रद्धान रखकर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव रुचि पूर्वक अपने आत्मा का स्व पर ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर रत होकर देखते हैं उन्हे आत्मा का अनुभव होने मे क्या देर लगती है। दूध पानी के समान जीव और कम का सयोग है।

८६ दस धर्म-सामान्य विवेचन

वास्तव मे पूछा जाय तो अभिप्राय की निर्मलता ही धर्म है। कषायो को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्रोध मान माया और लोभ चार कषाय है। इनमे क्रोध से क्षमा मान से मार्दव माया से आर्जव और लोभ से शौच गुण तिरोहित होते हैं। ये चार कषाय निकल जावे तो आत्मा का उद्धार हो जाय क्योकि मुख्य ये चार गुण हैं। आगे जो सत्य आदि छ धर्म कहे गये हैं व इन्ही के विस्तार हैं इन्ही के अङ्ग हैं।

हमने किसी से कोई बात कही उसने नही मानी हमे क्रोध आ गया। इस प्रकार देखते है कि हमारे जीवन मे जो क्रोध उत्पन्न हाता है उसमे मान प्राय कारण होता है। इसी प्रकार माया की उत्पत्ति लोभ से होती है। हमे आप से किसी वस्तु की आकाक्षा है तो उसे पाने के लिये हम इच्छा न रहते हुए भी आपके प्रति ऐसी चेष्टा दिखलावेगे कि जिससे आपके हृदय मे यह प्रगट हो जावे कि यह हमारे अनुकूल हैं। जब आत्मा से क्रोध लोभ भीरुत्व तथा हास्य की परिणति दूर हो जाती है तो सत्य बचन मे प्रवृत्ति अपने आप होने लगती है। असत्य बोलने के कारण दो हैं। अज्ञान और कषाय इनमे अज्ञान मूलक असत्य आत्मा का घातक नही क्योकि उसमे परिणाम मलिन नही रहते परन्तु कषाय मूलक असत्य आत्मा का घातक है क्याकि उसमे परिणाम मलिन रहते हैं। इन्द्रियो के विषयो से निवृत्ति हो गई यही सयम है और यह निवृत्ति तभी हो सकती है जब लोभ कषाय की निवृत्ति हो जाय। इच्छाओ (लोभ) पर नियन्त्रण हो जाना सो तप है। जब इच्छाये घट जावेगी तब उसके फलस्वरूप त्याग स्वत हो जायेगा। भोजन करते-करते जब भाजन विषयक इच्छा दूर हो जाती है तब भोजन के त्याग करने मे देर नही लगती त्याग के बाद आकिंचन्य दशा का होना स्वाभाविक है। जब अपने पास आत्मा के अतिरिक्त किसी पदार्थ का अस्तित्व नही रहता तब आत्मा का उपयोग आत्मा मे ही लीन होगा इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं।

८७ क्षमा धर्म

दस धर्मों मे क्षमा सर्वोत्तम धर्म है। जिसके क्षमा धम प्रकट हो गया उसके मार्दव आर्जव और शौच धर्म भी अवश्यमेव प्रकट हो जावेगे। वसे तो आत्मा मे शान्ति सदा विद्यमान रहती है परन्तु निमित्त मिलने पर वह कुछ समय के लिये तिरोहित हो जाती हैं। अग्नि का संसर्ग पाकर जल उष्ण हो पर वह उसका स्वभाव तो नही कहलाता। जहा अग्नि का सम्बन्ध दूर हुआ कि फिर शीतल का शीतला क्या बतलायें पदाथ का स्वरूप इतना स्पष्ट और सरल है परन्तु अनादि कालीन मोह के कारण वह दुरुह हो रहा है। क्रोध के निमित्त से आदमी पागल हो जाता है। वस्तु की यथार्थता उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाती है। वह कुक्कर-वृत्ति पर उतारू हो जाता है। कोई मनुष्य कुत्त को लाठी मारता है तो वह लाठी को दातो से चबाने लगता है पर सिंह बन्दूक की ओर न झपट कर बन्दूक मारने वाले की ओर झपटता है। विवेकी मनुष्य की दृष्टि सिंह की तरह होती है। वह मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न करता है। क्रोध का मूल कारण घू सा मारने वाला व्यक्ति नही है किन्तु क्रोध करने बाले का अपना अज्ञान या मोह ही उसका कारण है। अनादि काल से पर पदार्थ को अपना समझ कर व्यर्थ ही सुखी होता है। उसकी रक्षा आदि मे ्यग्र रहता है पर ज्यो ही उसे पर मे परकीय बुद्धि हो जाती है उसका त्याग करने मे उसे देर नही लगती। यही जीव की वह अनादि कालीन भूल है जिसमे वह व्यर्थ ही दुखी सुखी होता है। क्राध से आत्मा के सयम गुण का घात हाता है। उसके अभाव मे प्रकट होने वाला गुण संयम है चारित्र है। राग और द्व ष के अभाव को ही तो चारित्र कहते हैं और वह राग द्व ष उपरोक्त अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। वही घू सा मारने मे निमित्त है। अत उसे दूर करना था। घू सा मारने वालो को काटने से क्या होगा ? क्षमा के अभाव मे अच्छे-अच्छे आदमी बरबाद हो जाते है और क्षमा के समक्ष अच्छे २ मनुष्यो का मान नष्ट हो जाता है। आज के दिन जिसने क्षमा धारण नही कि वह पर्वों के अन्तिम दिन क्षमावणी क्या करेगा। मैं तो आज क्षमा चाहता हू। ऐसी वाचनिक क्षमा की आवश्यकता नही। हार्दिक क्षमा से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। सबसे क्षमा मागने की अपेक्षा अन्तरग क्रोध पर विजय प्राप्त करो। ऐसा वचन मत बोलो जिससे किसी को अन्तरङ्ग कष्ट पहुचे। परमार्थ से अन्तरङ्ग मे शान्ति भाव की प्राप्ति हो जाना यही क्षमा है। सो इस ओर लोगो की दृष्टि है नही केवल ऊपरी

भाव से क्षमा मागते हैं एक दूसरे के गले लगते हैं। इससे क्या होने वाला है ? खासकर जिससे बुराई होती है उसके पास भी नही जाते। उससे बोलते भी नही। इसके विपरीत जिसके प्रति बुराई नही उसके पास जाते हैं उसके गले लगते हैं उसे क्षमावणी पत्र लिखते हैं आदि। यह सब क्या क्षमावणी उत्सव का प्राण शून्य ढाचा नही है। आप लोग इस पर्यूषण-पर्व मे क्षमा धारण करें चाहे उपवास एकाशन आदि न करे। क्षमा धर्म ही धम है और धम ही चारित्र है। जिस प्रकार बात की व्याधि से मनुष्य के अग-अग दुखने लगते हैं उसी प्रकार कषाय से (विषयेच्छा से) आत्मा का प्रत्येक प्रदेश दुखी हो रहा है। स्व पर स्वरूप के उपादान व अपोह के द्वारा अपने को अपना समझो और पर को पर। फिर कल्याण। तुम्हारा निश्चित है।

८८ मार्दव धर्म

मार्दव का अर्थ कोमलता है। कोमलता (विनय) से अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीन मे बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जाता है। विद्या विनय को देती है विनय से पात्रता आती है पात्रता से धन मिलता है धन स धर्म और धम से सुख प्राप्त होता है। जिसने अपने हृदय मे विनय धारण नही किया वह धर्म का अधिकारी कसे हो सकता है ? एक बार की बात है कि दिल्ली मे पचकल्याणक हुआ था। लाला हरसुख दास जी ने नोकर के हाथ सब के घर लाड भेजा। लोगो ने सानन्द लाड ले लिया पर एक गरीब आदमी ने जो चना गुड आदि की दुकान किये था यह विचार कर लाड लेना अस्वीकृत कर दिया कि मैं कभी लाला जी को पानी नही पिला सकता तब उनके लाड का व्यवहार कसे पूण करूगा। लालाजी को पता चला तो दूसरे दिन वे स्वय उसकी दुकान पर पहुँचे और बडी विनय से दुकान पर बठकर उसकी डोली मे से कुछ चने और गुड उठाकर खाने लगे। खाने के बाद बाल लाओ पानी पिलाओ। पानी पिया तदनन्तर बोले कि भाई अब तो मै तुम्हारा पानी पी चुका अब तो तुम्हे हमारा लाड लेना अस्वीकृत नही करना चाहिये। दुकानदार अपने व्यवहार और लालाजी की सौजन्य पूण प्रवृत्ति से दङ्ग रह गये। लाड लिया और आखो से आसू गिराने लगा। आज का बडा आदमी क्या कभी किसी गरीब का इस प्रकार ध्यान रख सकता है ?

ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर की सुन्दरता इन आठ बातो को लेकर मनुष्य गव करता है पर जिनका वह गव करता है क्या वे इसके हैं सदा इसके पास रहने वाले हैं। क्षयोपशामिक ज्ञान आज है कल इन्द्रिया मे विकार आ जाने से नष्ट हो जाता है। जहा चक्रवर्ती की पूजा स्थिर नही रह सकती वहा अन्य लोगो कि पूजा स्थिर रह सकेगी यह सम्भव नही। कुल और जाति का अहकार क्या आज शरीर तगडा है पर जोर का मलेरिया आ जाय तो सूरत बदल जाय उठते न बने। धन सम्पदा का अभिमान होता है। मनुष्य की सम्पत्ति जाते देर नही लगती। इसी प्रकार तप और शररी के सौन्दर्य का अभिमान करना भी व्यर्थ है।

卐

८६ आर्जव धर्म

आर्जव का अर्थ सरलता है और सरलता का अर्थ मन वचन काय की एकता है। मन मे जो विचार आया हो उसे वचन से कहा जाय और जो वचन से कहा जाय उसी के अनुसार काय से प्रवृत्ति की जाय। जब तीनो योगो की प्रवृत्ति मे विषमता आ जाती है तब माया कहलाने लगती है। इसके रहते हुए मनुष्य के हृदय मे स्थिरता नही रहती और स्थिरता के अभाव मे उसका कोई भी कार्य यथार्थ रुप मे स्थिर नही हो पाता। मान और लोभ के बीच मे माया का पाठ आया है उसका कारण यह है कि माया मान और लोभ दोनो के साथ सम्पर्क रखती है दोनो से उसकी उत्पत्ति होती है मान के निमित्त से मनुष्य को यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मेरे बड़प्पन में कोई प्रकार की कमी न आ जाय परन्तु शक्ति की न्यूनता से बड़प्पन का कार्य करने में असमर्थ रहता है। इस लिये माया चार रूपी प्रवृत्ति कर अपनी हार्दिक कमजोरी को छिपाये रखता है। मनुष्य जिस रूप मे वस्तुत है उसी रूप मे उसे अपने आपको प्रगट करना चाहिये परन्तु वह ऐसा नही करता है यह दम्भ है माया है। आगम यह कहता है कि जितनी शक्ति हो उतना कार्य करो और अपने असली रूप मे प्रगट रहो। वृत्त के लक्षण मे जो निःशल्योव्रती कहा गया है उसका भी यही तात्पर्य है। इस दम्भाचरण के कारण पूर्वोक्त व्रती वास्तव मे व्रती नही हैं ऐसा आगे त्याग धर्म मे बताया जाने वाला है। लोभ के वशीभूत होकर जीव इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये निरन्तर अध्यवसाय करता है। वह तरह तरह की छल क्षुद्रताओ को करता है। यह लोभ भी केवल धन विषयक ही नही होता अपितु लोकेषणा का लोभ सबसे बडा है। इसी के कारण दम्भाचरण मे प्रवृत्ति होती है। वह बात आगे शौच धर्म वाले प्रकरण मे बताई जाने वाली है। इस दम्भाचरण के द्वारा मनुष्य अपने पाप को छिपाने का प्रयत्न करता है पर वह रुई मे लपेटी आग के समान स्वयमेव प्रगट हो जाता है किसी का जल्दी प्रगट हो जाता है और किसी का विलम्ब से पर यह निश्चित है कि प्रगट अवश्य होता है। मायावी मनुष्य ऐसी मुद्रा बनाता है कि देखने मे बडा भद्र मालूम होता है पर उसका अन्तःकरण अत्यन्त कलुषित रहता है।

जहां पर स्वभाव रूप परिणमन है वहां पर कपट रूप व्यवहार नही और जहां कपट व्यवहार है वहां स्वभाव परिणमन मे विकार है। प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा रहती है कि मैं लोगो के द्वारा प्रशंसा पाऊ लोग

मुझे अच्छा समझे। यह भाव जीव के दुख का कारण है। यह भाव जिनके नही होते वे सुजन हैं। उनकी जो परणति है वही सुजनता है। यहा तक उनकी निमल परिणति इतनी हो जाती है कि वे परोपकार आदि करके भी अपनी प्रशसा नही चाहते किसी कार्य के कर्ता नही बनते। वे कर्मोन्य मे विषयादि कार्य भी बलात् करते हैं परन्तु उसमे विरक्त रहते हैं। सुजन मनुष्य की चेष्टा अगम्य है। उनका जो भी कार्य है वह कतृत्व से शून्य है। वे जो दानादि करते हैं उसमे भी उनके प्रशसादि के भाव नही होते। मेरा तो विश्वास है कि अन्तरग परिग्रह रागादि तथा बाह्य परिग्रह धन धान्यादि इन दोनो प्रकार के परिग्रह के पिशाच से पीडित आत्माय कितनी ही ज्ञानी क्यो न हो उसके द्वारा जो भी कार्य किया जावेगा उससे मनुष्य को कदापि लाभ नही पहुँच सकता क्योकि वह स्वय परिग्रह से पीडित है। सुजन का अथ है भले मनुष्य। भले मनुष्य का अथ है जिनका आचार निमल हो। निमल आचार के द्वारा वे आत्म कल्याण भी कर सकते हैं और उनके आचार को देखकर दूसरे ससारी मनुष्य भी स्वय कल्याण कर सकते है। इसलिये निमल आचार के धारक सुजन बनो और निश्चल प्रवृत्ति करो।

६० शौच धर्म

शौच का अर्थ पवित्रता है। यह लोभ पवित्रताकषाय के अभाव मे प्रगट होती है। लोभ के कारण ही ससार के प्राणी दुखी हो रहे हैं। आचार्य गुण भद्र ने आत्मानुशासन मे लिखा है कि– यह आशा रूपी गर्त प्रत्येक प्राणी के सामने खुदा है। ऐसा गर्त कि जिसमे समस्त संसार का वभव परमाणु के समान है। इसको जैसे–जसे (विषयो से) भरा जाता है वैसे-वसे ही यह गहरा हाता जाता है—तृष्णा के वशीभूत हुआ प्राणी क्या-क्या नही करता है? वह इष्ट से इष्ट व्यक्ति का प्राणान्त करने मे भी पीछे नही हटता। आज का मानव निरन्तर और और चिल्लाता रहता है। उसक मुख से कभी बस नही निकलता। बिना सन्तोष के बस कम निकले —लोभ मीठा शत्र है। अन्य सर्व कषाय यद्यपि नव गुण स्थान मे नष्ट हो जाती हैं परन्तु यह दसवें गुण स्थान के अन्त तक चली जाती है। लोभ के निमित्त मे आत्मा मे अपवित्रता आ जाती है। लाभ से ही समस्त पापो मे इस प्राणी की प्रवृत्ति होती है। आचार्यों ने लोभ का पाप का बाप बतलाया है। ब्राह्मण पुत्र की कथा प्रसिद्ध है। किस प्रकार उसने लोभ वश वेश्या के हाथ से भोजन करना स्वीकार लिया और उसके हाथ से गाल पर तमाचा खाकर लोभ पाप का बाप है यह पाठ पढ लिया यह सब महिमा लोभ की है। मोहरो के लोभ ने आपको धम कर्म से भ्रष्ट कर दिया है। शौच पवित्रता को कहते हैं। वह बाह्य व आभ्यान्तर के भेद से दो प्रकार की होती है। अपने अपने पद के अनुसार लौकिक शुद्धि का विचार रखना बाह्य शुद्धि है और अन्तरङ्ग मे लोभादि कषायो का कम करना आभ्यान्तर शुद्धि है। गंगास्ना मुक्ति इसे जिन शासन नही मानता। उसस शरीर की लौकिक शुद्धि हो पर वास्त वक शुद्धि तो आत्मा मे लोभादि कषायो के कृश करने स ही होती है। अर्जुन के प्रति ऐसा उपदेश दिया गया है कि— संयम ही जिसका पवित्र घाट है सत्य का जिसमे पानी भरा है शील ही जिसके तट हैं और दयारूपी भवरे जिसमे उठ रही हैं ऐसी आत्मा रूपी नदी मे हे अर्जुन तुम अभिषेक करो क्योकि पानी मात्र से अन्तरात्मा शुद्ध नही होती।

लोभ केवल रुपया पैसा का ही हो सो बात नही। मान प्रतिष्ठा आदि की आकाक्षा रखना भी लोभ का ही रुप है। हम लोभ को छोडने का प्रयत्न करते हैं। घर गृहस्थी बाल बच्चे छोडकर जगल मे जाते हैं पर वहाँ शिष्य सग्रह धर्म प्रचार आदि का लोभ सामने आ जाता है। लाभ नष्ट कहाँ हुआ।

वह तो भेष बदलकर आपके सामने आ गया है। यदि वास्तव मे लोभ नष्ट हो जाता तो इस परिवार की क्या आवश्यकता थी ? इसका कल्याण करू उसका कल्याण करू यह विकल्प जाल निरन्तर आत्मा मे क्यो उठने ? अत प्रयत्न ऐसा करो जिससे यह लोभ समूल नष्ट हो जाय। एक रोग छूटने के बाद यदि दूसरा रोग दवाई से होता है तो वह दवाई दवाई नही। जिस प्रकार घृत की आहुति से अग्नि की ज्वाला शान्त होने के बदले प्रज्वलित ही होती है उसी प्रकार विषय सामग्री से तृष्णा रूपी ज्वाला शान्त होने के बदले प्रज्वलित ही अधिक होती है। ऊपर ऊपर के देवो मे सुख की मात्रा तो अधिक है परन्तु परिग्रह की अल्पता है इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह सुख का कारण नही है किन्तु परिग्रह की आशका का न होना ही सुख का कारण है प्रवचन आदि देने का व्यापार भी वास्तव मे लोकेषणा रञ्जित होने के कारण एक विडम्बना तथा परोपकार का स्वाग मात्र है।

卐

६१ सत्य धर्म

प्रमाणिक हितकारक सद्वचन बोलना सत्य है। असत्य भाषण के त्याग करने से सत्य वचन प्रगट होता है और सत्य बोलना तो सत्य धर्म है ही। वाणी तो पुद्गल की पर्याय उसमे धर्म कैसा ? त्रैकालिक ज्ञान स्वाभावी आत्मा के आश्रय से जो कषाय के अभाव रूप शुद्ध परिणति है वही निश्चय से उत्तम सत्य धर्म है और निश्चय सत्य धर्म के साथ होने वाले सत्य वचन बोलने रूप शुभ भाव व्यवहार से उत्तम सत्य धर्म है। जो पदार्थ जसा है उसका उसी रूप कथन करना सत्य है। इसके चार भेद हैं —(१) जो वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टयकर है उसका अपलाप करना यह प्रथम असत्य है। जसे देवदत्त के रहने पर भी यह कहना कि यहा पर देवदत्त नही है। (२) जो वस्तु अपने चतुष्टय कर नही है वहाँ उसका सद्भाव स्थापना द्वितीय असत्य है। जसे जहाँ पर घट नही है वहाँ यह कहना कि घट है। (३) जो वस्तु अपने से है उसे पर रूप से कहना यह तृतीय असत्य। जसे गौ को अश्व कहना। (४) पशून्य हास्य ककश असमजस प्रलाप तथा उत्सत्र रूप जो वचन है वह चतुर्थ असत्य है। इन चार भेदो मे ही सब प्रकार के असत्य आ जाते हैं। इनके विपरीत जो वचन हैं वे चार प्रकार के सत्य है। असत्य भाषण के प्रमुख कारण दो हैं एक अज्ञान और दूसरा कषाय। अज्ञान के कारण मनुष्य असत्य बोलता है और कषाय क वशीभूत होकर कुछ का कुछ बोलता है। यदि अज्ञान जन्य असत्य के साथ कषाय की पुट नही है तो उससे आत्मा का अहित नही होता क्योकि वहा वक्ता अज्ञान से विवश है। जहा कषाय की पुट रहती है वह असत्य आत्मा के लिये अहितकारक है। ससार म राजा बसु असत्य वादियो म प्रसिद्ध हो गया है। उसका खास कारण यही था कि उसके द्वारा किया गया अजयष्टव्यम् का अर्थ कषाय जन्य था इसलिये उसका तत्काल पतन हो गया।

कषायवान् मनुष्य अपने स्वार्थ के कारण पदार्थ का स्वरुप उस रीति से कहने का प्रयत्न करते हैं जिससे उनके स्वार्थ मे बाधा न पड जाये इसी विषय मे महाभारत मे एक गृद्ध और गौमुख शृङ्गाल का सवाद आया है। अपने मृत पुत्र को लेकर परिवार के लोग श्मशान मे आये। गृद्ध रात मे नही खाता इसलिये उसकी इच्छा थी कि ये लोग इस बालक को यहा छोडकर जल्दी चले जांय अन्यथा रात हो जायेगी और मैं इसे खा न सकूगा। अत वह उन्हे उपदेश देता है कि हे लोगो तुम शीघ्र यहाँ से चले जाओ क्योकि

भय उत्पन्न करने वाले इस श्मशान मे ठहरना व्यर्थ है। गीदड रात को भी खाता है। इसलिये गोमुख चाहता था कि ये लोग रात होने तक यहा ही रहे ताकि रात्रि हो जाने पर इसे मैं ही खाऊँ। इसलिये वह उन्हे उपदेश देता है कि अरे मूर्खो अभी तो सूर्य विद्यमान है। तुम लोग इस बालक को छोडकर क्यो जाते हो कदाचित तुम्हारा बालक जीवित हो जाय। इसी प्रकार मनुष्य अभिप्राय के अनुसार पदार्थ के यथार्थ स्वरुप को कसा छिन्न भिन्न कर देता है। मैं आज तक नही समझा कि असत्य भी कुछ है क्योकि जिसे आप असत्य कहते है वह वस्तु भी तो आत्मीय स्वरूप से सत है। तब मेरी बुद्धि म तो यह आता है कि जो पदार्थ आत्मा को दु खकर हो उसका त्यागना ही सत्य है। जैसे शरीर का आत्मा मानना असत्य है शरीर असत्य नही ह किन्तु जिस रुप से वह ह उससे अन्य रुप मानना असत्य है। यह विपरीत मान्यता मिथ्यात्व के कारण उत्पन्न होती ह इसलिये सव प्रथम उसे ही त्यागना चाहिये।

६२ सयम धर्म

स्पर्शनादि पाच इन्द्रियो तथा मन के विषयो मे और षटकायिक जीवा की हिंसा मे विरक्त हाना सयम कहलाता ह । इन्द्रिय विषयो के आधीन हुआ प्राणी तदात्व सुख मे निमग्न हो आत्महित से वचित हो जाता है । पचेन्द्रिया मे एक एक इन्द्रिय के आधीन रहने वाले जीवो के दृष्टान्त प्रसिद्ध है । हाथी स्पर्शनेन्द्रिय क आधीन होकर मछली रसनेन्द्रिय के वश होकर भ्रमर नासिका इन्द्रिय के आधीन होकर पतग नेत्रेन्द्रिय के कारण और हरिण कर्णेन्द्रिय के आधीन होकर अपने प्राण गवा देते हैं । तब जो पाचो ही इन्द्रियो के वशीभूत हैं उनकी तो बात ही क्या ह ।

पचेन्द्रियो मे रसना और स्पर्शन य दो इन्द्रिया अधिक प्रबल ह । हरि हर हलधर चक्रधर तथा देवेन्द्र आदि भी इन्द्रियो की विषय दाह को न सहकर उनमे झम्पापात करते हैं । आत्मा मे अचिन्त्य शक्ति है । यह प्राणी उस भूलकर पर पदाथ का आलम्बन ग्रहण करता फिरता है । परन्तु यह निश्चित है कि जब तक यह पर का आलम्बन छोड अपनी स्वतन्त्र शक्ति की ओ दृष्टिपात न करेगा तब तक इसका कल्याण नही होगा ।

स्त्री पुरुषो की वेशभूषा ऐसी हो गई कि जिससे कुलीन और अकुलीन का अन्तर ही नही मालूम होता है । जिह्वा न्द्रिय क इतने दास हो गये हैं कि उन्हे भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ भी विचार नही रह गया ह । चित्त की स्थिरता के लिये क्या करना चाहिये ? सयम धारण करना चाहिये । सयम तो बहुत समय से धारण किये हैं फिर चित्त की स्थिरता क्यो नही है ? तब सयम शब्द के अर्थ की ओर दृष्टि गई । सययनं सयम अर्थात् सम्यक प्रकार स रुक जाना । पचेन्द्रियो के विषयो मे जो प्रवृत्ति हो रही ह उसका भले प्रकार से रुक जाना सयम ह । जब तक इन्द्रियो के विषयो से यथार्थ निवृत्ति नही होती तब तक नाम निक्षेप क सयम से क्या लाभ होने वाला है । निवृत्ति का अथ तटस्थ रहना ह तथा मनो निग्रह का अर्थ कषाय की कृशता ह । इन्द्रिय दमन का अर्थ इन्द्रियो द्वारा विषय जानने का अभाव नहा बल्कि उनमे लालुपता न होना चाहिये । शरीर दमन न कोई कर सकता ह और न उसका दमन होता ह । जो केवल काय क्लेश करते हैं वे शान्ति के पात्र नही । यहा तक इन्द्रिय सयम की बात हुई । षटकाय की अहिंसा से विरक्त होना ऐसा द्वितीय प्राणी संयम है । वही अहिंसा नाम से प्रसिद्ध है इस अहिंसा के विषय मे भी बडी

भ्रान्ति है । आज की अहिंसा केवल चींटी आदि क्षुद्र जीवो की रक्षा तक ही सीमित होकर रह गई है । सव प्रधान जीव तो मनुष्य है । उसकी रक्षा तथा उसके दु ख की निवृत्ति का उपाय कौन करता है ? मनुष्य के प्रात ही अ्ंसा का सव प्रथम उपयाग किया जाना चाहिये । हम यह भूल ही गये हैं इसलिये आज जनियो की अहिंसा उपहास बनकर रह गई है । सौहादय पूण मान वीयता क अभाव मे अहिंसा वास्तव मे दम्भ है । जाति पाति के भेद भाव से निरपेक्ष सभी का समान रूप से सत्कार करना चाहे गृहस्थ हो या साधु चाहे इस देश या वेश का हो या उस देश या वेश का सबक साथ शिष्ट व्यवहार करना चाहिये । मिथ्या दृष्टि कहकर किमी क साथ घृणा या उपेक्षा न करनी चाहिये । अनेकान्त सिद्धान्त की व्यापकता द्वारा सभी धर्मों मे सामजस्य का दशन करना चाहिये यह बात पहले दशायी जा चुकी है तथा दान क सदु पयोग द्वारा दीन हाना की सहायता करना चाहिये यह बात आगे कही जायेगी ।

आहारचर्या भा सयम का एक अग माना जाता है । साधु की आहार चर्या क विषय म अनेका रुढिगत विडम्बनाआ का प्रचार बढना जा रहा है जिससे साधु गृहस्थ क ऊपर भार बन बठा है । इस प्रकार की आहार चर्या सयम नही सयमाभास है । यह बात भी आगे यथा स्थान कही जायेगी ।

६३ तप धर्म

तप के द्वारा संवर तथा निर्जरा दोनो ही होती हैं। सात तत्वो मे मोक्ष उपादेय तत्व है और संवर तथा निजरा उसके साधक हैं। इनके बिना मोक्ष होना सम्भव नही। तप चारित्र का ही विशेष रूप है। विरक्त रूप अवस्था म इच्छाओ का निरोध सुतरा हो जाता है। इसलिये इच्छा निरोध स्तप यह तप का लक्षण प्रसिद्ध हो गया है। राग के उदय मे यह जीव बाह्य वभव को पकड रहता है पर जब अन्तरङ्ग मे राग छूट जाता है तब उस वभव को छोडते उसे देर नही लगती। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का है। अनशन आदि छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित आदि छह आभ्यन्तर तप हैं। इन सभी तपो मे इच्छा का न्यूनाधिक रूप से नियन्त्रण किया जाता है। इसीलिये इनसे नवीन कर्मों का बन्ध रुकता है और पूर्व के बन्ध कर्म निर्जीर्ण हो जाते है। अन्तरङ्ग तपो म स्वाध्याय सर्व प्रधान तप बतलाया है। कारण यह कि उसस आत्मा और अनात्मा का बोध होता है। इसलिये प्रमाद छोडकर स्वाध्याय मे प्रवृत्ति करना चाहिये।

६४ त्याग धर्म

त्याग का अर्थ छोडना है पर जब ग्रहण हो तभी न छाडना बने। आपकी सम्पत्ति आपके घर है और आप यहा बठे हैं। आपने सम्पत्ति को क्या ग्रहण कर लिया ? जब ग्रहण ही नही किया तब त्यागना कसा ? बाह्य मे तो ऐसा ही है परन्तु माह के कारण यह जीव उन पदार्थों मे ये मेरे है मैं इनका स्वामी हू इस प्रकार का मूर्छा भाव लिये बठा है वही मूर्छा भाव छोडने का नाम त्याग है। जिसका यह मूर्छा भाव छूट गया उसकी आत्मा नि श-य हो गई। बाह्य का त्याग कोई कठिन वस्तु नही परन्तु आभ्यन्तर मूर्छा त्यागना कोई सरल भी नही। याग तो आभ्यन्तर ही है। आभ्यन्तर कषाय के त्याग विना बाह्य वेश का को- महत्व नही। बाह्य त्याग के बिना आभ्यन्तर त्याग न-ा होता परन्तु बाह्य त्याग हाने प- आभ्यन्तर त्याग हो ही जावे ऐसा नही है। हा इतना अवश्य है कि बाह्य -याग हाने से अन्तरङ्ग आसान त्याग हो सकता है। साधुता ता ससार दु व ह ने क लिये रामबाण औषधि है परन्तु नाम साधुता से कुछ तत्व नही निकलता। आंखा क अ-धे नाम नन सुख। आज कल व्यवहार धम की प्रभुता है। अ-तरङ्ग की आर अणुमात्र भी दृष्टि नही अ-यथा उस आर लक्ष्य ावश्य जाता। बाह्य द्र य से आज तक किसा का कल्याण न हआ आर न हागा। जब तक हमारी निबलता है तब तक यह पर द्रव्य हमारे लिये जो जा अनथ न कर अल- है। त्याग वह वस्तु है -ा त्यक्त पदाथ का विक प न हो तथा त्यक्त पदार्थों के अभाव म अन्य वस्तु की इच्छा न हा। नमक का याग मधुर की इच्छा बिना ही सु-दर है। सब पापो का मूल कारण परिग्र ही है। मूर्छा परिग्रह ममेद बुद्धि लक्षणम् यही परिग्रह का स्वरूप है। वास्तव मे दखा जाय तो हमने परिग्रह त्यागा ही नही। वे तो पर पदाथ हैं। उनका -यागना ही भूल है क्योकि उनका आत्मा से सम्ब-ध ही नही। आत्मा की विरुद्ध परिणति है उसे ही त्यागना चाहिये। उसका उपाय यही है कि वह पदाथ तो होवे परन्तु उसका विषादन तथा उसमे निजत्व कल्पना न होवे। शान्ति के बाधक जो रागादि दोष हैं उनको हम त्यागते नही रागादिक के उत्पादक जो निमित्त है सिर्फ उ-हे त्यागते हैं। परन्तु उनके त्याग से रागादिक नही जाते। उनका अभाव ता उनकी उपेक्षा से ही होसकता है। शान्ति का मूल कारण अन्तरग अभिप्राय की पवित्रता है। हमलोग बाह्य त्याग से अपनी परिणति को उत्तम मानते हैं यह सवथा अनुचित है। जो केवल कायक्लेश करते हैं वे शान्ति के

पात्र नही। उपादेयता और हेयता ये दोनो मोही जीवो के होते है। परमार्थ से न कोई उपादेय है और न हेय है किन्तु उपेक्षणीय है। उपेक्षणीय व्यवहार भी औपचारिक होता है। मोह के रहते हुए जिन पदार्थों मे उपादेयता और हेयता व्यवहार था मोह जाने के बाद वे पदार्थ उपेक्षणीय सुतरा हो जाते हैं। फिर वह विकल्प ही नही उठता कि वे पदार्थ अमुक रूप से हमारे ज्ञान मे आते हैं। मोह के बाद ज्ञान जिस पदार्थ का विषय करता है वही उसका विषय रह जाता है उपादेयता व हेयता उसके विषय नही हो पाते।

बहिरग मे आहार औषधि ज्ञान तथा अभय मे त्याग के चार भेद हैं। दाता के हृदय से जब तक लोभ कषाय की निवृत्ति नही होती तब तक वह किसी के लिये एक कपर्दिका भी देने के लिये तैयार नही होता पर जब अन्त रग लोभ निकल जाता है तो छ खड का वैभव भी दूसरे के लिये सौपने मे देर नही लगती। दान मे स्व पर दोनो का कल्याण होना इष्ट है। मुनि ने श्रावक स आहार लिया श्रावक ने भक्ति पूर्वक दिया। दोनो का कल्याण हुआ। दाता का तो इसलिये हुआ कि उसकी आत्मा से लोभ कषाय की निवृत्ति हुई और भक्ति भाव के द्वारा सातिशय पुण्य का लाभ हुआ मुनि का कल्याण इसलिये हुआ कि आहार पाकर उसके शरीर मे स्थिरता आई जिसमे वह रत्नत्रय की वृद्धि करने म समर्थ हुआ। त्याग स ही ससार मे सब काम चलते हैं। यदि नाव मे पानी बढ रहा है तो दोनो हाथो से उलीच कर उसे बाहर करना ही बुद्धिमत्ता है। इसी प्रकार यदि घर मे सम्पत्ति बढ रही है तो उसे दान के द्वारा उत्तम कार्य मे खर्च करना ही उसकी रक्षा का उपाय है। सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टिकोण स भी त्याग का बडा महत्त्व है। जिसका कथन पहले समाज सुधार वाले प्रकरण म किया जा चुका है।

卐

६५ अंकिचन्य धर्म

त्याग करते करते अन्त मे आपके पास क्या बचेगा कुछ नही। जिसके पास कुछ नही बचा वह अंकिचन कहलाता है और उसका जो भाव है वही आकिञ्चन्य कहलाता है। परिग्रह का त्याग हो जाने पर ही पूर्ण आकिंचन्य धर्म प्रगट होता है। परिग्रह ही इस जीव को सब ओर से जकड़ हुए है। आचार्य ने इस जीव का परिग्रह का लक्षण मूर्छा रखा है। मैं इसका स्वामी हू ये मेरे स्व हैं इस प्रकार का भाव ही मूर्छा है। इस मूर्छा के रहते हुए पास मे कुछ भी न हो तब भी यह जीव परिग्रही ही कहलाता है और मूर्छा के अभाव मे समवशरण रूप विभूति के रहते हुए भी अपरिग्रही कहलाता है। सामाजिक व राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। परिग्रह ही समस्त सघर्षों का मूल है और उसका सम्यक विभाजन ही उस सघर्ष को रोकने का उपाय है ऐसा पहले कहा जा चुका है।

९६ ब्रह्मचर्य धर्म

परिग्रह-त्याग रूप आकिञ्चन्य के पश्चात् अन्त में ब्रह्मचर्य कहा गया है। परिग्रह के कारण ही उपयोग में सदा चञ्चलता आती रहती है। आकिञ्चन्य धर्म मे उसका त्याग हो जाने से आत्मा का उपयोग अन्यत्र न जाकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा मे ही लीन होने लगता है। यथार्थ मे यही ब्रह्मचर्य है। बाह्य ज्ञेय से उपयोग हटकर आत्म रूप में ही लीन हो जाय तो इससे बढकर धर्म क्या होगा ? इसीलिये ब्रह्मचर्य को सबसे बडा धर्म माना है। व्यवहार मे स्त्री त्याग का हो जाना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और परकीय स्त्री का त्यागकर स्वकीय स्त्री मे सन्तोष रखना अथवा स्त्री का स्व पुरुष मे सन्तोष रखना एक देश ब्रह्मचर्य है।

कीडे मकडा की तरह मनुष्य-सख्या मे वृद्धि होती जा रही हैं। बल वीर्य का अभाव शरीर मे होता जा रहा है। फिर भी ध्यान इस ओर नही जाता है मनुष्य विषय से तृप्त नही होता। पशु मे तो कम से कम इतना होता है कि वह गर्भवती स्त्री से दूर रहता है। पर हाय रे मनुष्य ! तू तो पशु से भी अधम दशा को पहुच रहा है। तुझे गर्भवती स्त्री से भी समागम मे सकोच नही रहा। इस स्थिति मे जो सन्तान उत्पन्न होती है उसकी अवस्था पर भी थोडा विचारो। किसी को लीवर बढ रहा है और किसी को पक्षाघात हो रहा है। जिस भारतवर्ष मे पहले टी० बी का नाम नही था वहा आज लाखो की सख्या मे इस रोग से ग्रसित हैं। यह सब क्या हैं ? एक ब्रह्मचर्य के महत्व को नही समझने से है। जब तक एक बच्चा माँ का दुग्ध पान करता है तब तक दूसरा बच्चा उत्पन्न न किया जाय तो बच्चे भी पुष्ट हो तथा माता-पिता भी स्वस्थ रहे।

लौकिक मनुष्य केवल जनेन्द्रिय द्वारा ही विषय सेवन को ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं परन्तु परमार्थ से सब इन्द्रियो द्वारा जो विषय-सेवन की इच्छा है वह ही ब्रह्मचर्य की घातक है। इसलिये ब्रह्मचारी को अपने रहन सहन वेष भूषा आदि सब पर दृष्टि रखना पडता है। बाह्य परिकर भी उज्जवल बनाना पडता है। क्योंकि इन सब का असर उसके ब्रह्मचर्य पर अच्छा नही पडता। यदि किसी की लडकी या वधू विधवा हो जाती है तो लोग यह कहकर उसे रुलाते हैं कि हाय ! तेरी जिन्दगी कैसे कटेगी ? पर यह नही कहते कि बेटी तू अनन्त पाप से बच गई तेरा जीवन बन्धन से मुक्त हो गया अब तू आत्म

हित स्वतन्त्रता से कर सकती है। मैं एक आदमी से मिला जिसने मुझे बताया कि मैं व्रती नही हू तदपि मैं और मेरी स्त्री दोनो व्रतो का पालन करते हैं। जब हम दोनो का सम्बन्ध हुआ था तब हम दोनो ने यह नियम किया था कि चूंकि विवाह का सम्बन्ध केवल विषयाभिलाषा की पूर्ति के लिये नही है किन्तु धर्म की परिपाटी चलाने वाली योग्य सन्तान की उत्पत्ति के लिये है अत ऋतु काल के अनन्तर ही विषय सेवन करेंगे और वह भी पर्व के दिन को छोडकर। साथ ही यह भी नियम किया कि जब हमारे दो सन्ताने हो जावेगे तबसे विषय वासना का बिल्कुल त्याग कर देंगे। दैवयोग से हमारे एक सन्तान चौबीस वर्ष मे हुई और दूसरी बत्तीस वर्ष मे। अब आठ वर्ष हो गये हम दोनो का सम्बन्ध भाई बहन के सदृश हैं। मेरी बात मानो जब सन्तान गर्भ मे आ जावे तब से लेकर जब तक बालक माँ का दुग्ध पान न छोड देवे तब तक भूलकर भी विषय सेवन न करो। बालक के समक्ष स्त्री से रागादि मिश्रित हास्य मत करो। बालको के सामने स्त्री से कुचेष्टा मत करो क्योंकि बालको की प्रवृत्ति माता पिता के अनुरूप होती है। उनकी राम कहानी सुनकर कई लोग गद गद हो गये और कहने लगे कि हम भी यह अभ्यास करेंगे। यदि यह समाज मर्यादा म रहे तो कल्याण पथ दुर्लभ नही। सबसे पहले ब्रह्मचर्य पाले। स्त्री स्व पति मे सन्तोष करे और पुरुष वर्ग को उचित है कि स्वदार में सन्तोष करे। जब स्त्री के उदर मे बालक आ जावे तब से लेकर ३ वर्ष ब्रह्मचर्य पाले। यदि आज की जनता ब्रह्मचर्य के इस महत्व को हृदयङ्कित कर सके तो उसकी सन्तान हृष्ट पुष्ट हो तथा जन सख्या की वृद्धि सीमित रहे। आज मनुष्य को सन्तान म वृद्धि के कारण रात दिन सक्लेश का अनुभव होता है। इसस बचने का सीधा सच्चा उपाय यही है कि पुरुष तथा स्त्री वर्ग अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण करें।

६७ समयसार जीवाजीवाधिकार

वंदित्तु सव्व सिद्ध धूवमचल मणो वम गइ पत्त ।
वोच्छामि समयपाहुड मिणमो सुयकेवली भणिय ।।१।।

अथ—अहो भव्य जीवा मैं कुन्दकुन्दाचाय ध्रुव अचल और अनुपम गति को प्राप्त सिद्ध परमात्माओ की वन्दना कर इस समय प्राभृत को कहूगा जो श्रत केवली के द्वारा कहा गया है। (विशेषार्थ)—संसार मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—एक चेतन दूसरे अचतन। उनमे चेतन पदार्थ को जीव कहते हैं और जो अचेतन है उसे अजीव कहते हैं। अजीव के ५ भेद आगम मे कहे हैं—धर्म अधम आकाश काल और पुद्गल। जीव सहित इन्ही पाच को षट द्रव्य कहते हैं। इन छह द्रव्यो मे धम अधम आकाश और काल ये चार द्रव्य सवथा शुद्ध है। इनमे काई प्रकार का विभव परिणमन नही होता सर्वदा इन द्रव्यो का एक सदृश परिणमन रहता है। शष दो जीव और पुद्गल द्रव्य है व स्वभाव रूप भी परिणमते हैं और विभाव रूप भी। जब वे जीव और पुद्गल कवल अपनी अपनी अवस्था (अलग अलग) रहते हैं तब उनका परिणमन शुद्ध ही रहता है और जब तक जीव तथा पुद्गल की परस्पर अनादि काल से आगत बन्धावस्था रहती है तब तक अशुद्ध परिणमन रहता है। हा इतनी विलक्षणता है कि पुद्गल द्रव्य की अशुद्धावस्था जीव के साथ मे भी हाती है और पुद्गल के सम्बन्ध से भी किन्तु जीव की अशुद्धावस्था कवल पुद्गल के सम्बन्ध से ही होती है। अत इस ससार मे अनादि काल म यह जीव कम रूप पुद्गल के सम्बन्ध से निरन्तर अशुद्धावस्था का पात्र हो रहा है और जब तक अशुद्धावस्था रहेगी तब तक ससार का पात्र रहेगा। ससारी होने से ससार मे जो सुख-दुख होता है उसका वह भोक्ता भी होता है। जब इस जीव का संसार अल्प रहता है तब इस जीव को यह विचार होता है कि मेरा निज शुद्ध स्वभाव तो पर को केवल देखना और जानना है। मैं जो उनको अपना इष्ट-अनिष्ट मानता हू यह मेरी अज्ञानता है। जैसे दपण मे पदार्थ के प्रतिबिम्बित होने से दर्पण उन पदार्थ रूप नहीं हो जाता केवल घटपटादि पदार्थों के सम्बन्ध से दर्पण का घटपटादि प्रतिबिम्ब रूप परिणमन हो जाता है। वह परिणमन दर्पण की ही स्वच्छता का विकार है। विकार का अर्थ परिणमन ही है। इसी तरह आत्मद्रव्य ज्ञानादि गुणो का पिण्ड है।

उसके ज्ञान गुण मे यह विशेषता है कि उसके समक्ष जो भी पदार्थ आता है उसके ज्ञातृत्व रूप परिणमन का वह कर्ता होता है वह ज्ञान अन्य ज्ञेय रूप नही हो जाता। परन्तु अनादि कालीन आत्मा के साथ ज्ञान शक्ति के सदृश एक विभाव नाम की शक्ति है जिसके कारण आत्मा में मोहनीय कर्म के निमित्त से अनर्थ का मूल मोह उत्पन्न होता है। उसी मोह के उदय मे आत्मा विभ्रान्त दशा का पात्र होता है और उस विभ्रान्त दशा मे पर मे निजत्व कल्पना कर रागी द्वेषी होता है और उनके वशीभूत होकर जो जो अनर्थ करता है वह किसी से छिपा नही है। इस चक्र का नाम ससार है। इस ससार से मुक्त होने के अर्थ सकल परमात्मा ने एक ही मार्ग निर्दिष्ट किया है। वह है निज स्वभाव का आलम्बन। उसका आलम्बन होते ही जीव बन्धन से छूट जाता है। अत जिन जीवो को आत्म कल्याण की अभिलाषा है वे उन जीवो की जो कर्मबन्ध से छूट गये हैं उपासना कर स्व-स्वरूप की प्राप्ति की दिशा मे बढ़े। इसी अभिप्राय को लेकर श्री कुन्दकुन्द महाराज ने प्रथम ही समय प्राभृत मे सिद्ध भगवान को नमस्कार किया है। ध्रुव अचल और अनुपम गति को जिन्होने प्राप्त किया है ऐसे सिद्ध परमात्मा को नमस्कार कर मैं श्रुत केवली के द्वारा प्रतिपादित समय प्राभृत कहूगा —ऐसा कहने से आचार्य महाराज का यह आशय विदित होता है कि इसके द्वारा हमारा और पर का दोनो का कल्याण होगा। समय प्राभृत के निरूपण करने मे उपयोग निरन्तर आत्म स्वरूप के परामर्श मे तल्लीन रहेगा इससे निरन्तर मन्द कषाय रहेगी तथा वस्तु स्वरूप के विचार से जो स्वरूप मे स्थिरता होगी वह ध्यान की साधक होगी। अत कर्मों की निर्जरा भी अवश्य भाविनी है जो सिद्ध पद की प्राप्ति मे परम्परा कारण होगी। यह तो स्वय को लाभ है ही किन्तु जो भव्य जीव इसका पठन पाठन करने मे समय लगावेंगे उनके सव प्रथम तो समय के सदुपयोग का अवसर आवेगा द्वितीय सांसारिक पदार्थों के सहवास से जो निरन्तर कलुषित परिणाम रहते हैं उनसे रक्षा होगी और तृतीय अनन्तकाल से अप्राप्त जो आत्मज्ञान उसके पात्र होंगे। उसके पात्र होते ही निरन्तर परिणामो की निर्मलता से उस तत्व का विकास वृद्धिरूप हो जावेगा जो परम्परा से परमात्म के समकक्ष पहुँचा देगा। ऐसा इस समय प्राभृत के कहने का उद्देश्य श्री कुन्द कुन्द महाराज का है।

मूल गाथा मे स्वामी जी ने सिद्ध गति को तीन विशेषणो से विशेषित किया है अर्थात् सिद्ध गति ध्रुव अचल और अनुपम है यह प्रतिपादित किया है। संसारी आत्मायें निरन्तर कलुषित और चंचल रहती हैं क्योंकि उनके मोह और योग का सद्भाव है। गुण स्थानो के होने मे मोह और योग ही कारण है। मोह की मुख्यता से बारह गुण स्थान हैं और योग की मुख्यता से सयोगावली

तथा चतुर्दशवाँ गुण स्थान हैं। मोह से आत्मा मे मिथ्यात्व एव राग द्वेष की उत्पत्ति होती है जिससे आत्मा निरन्तर कलुषित रहता है और उसी कलुषता से नाना प्रकार के विभावो का पात्र होता है। इन तीनो मे मोह आत्मा का अनन्त ससार का पात्र बनाता है। अत मोह का नाम मिथ्यात्व है। इसी के प्रताप से आत्मा पर पदार्थों के निमित्ति से जायमान रागादिका मे निजत्व का सकल्प करता है। वास्तव मे मिथ्यादर्शन अनिर्वचनीय है क्योकि ज्ञानगुण को छोड़कर जितने भी आत्मा के गुण हैं सब ही निर्विकल्प है मात्र ज्ञानगुण ही एक ऐसा गुण है जो सबकी व्यवस्था बनाये हुए हैं। अत मिथ्या दर्शन के होने पर आत्मा मे पर पदार्थों के प्रति जो निजत्व की बुद्धि होती है उसी का नाम मिथ्याज्ञान है। तद भावबति तज्ज्ञानं मिथ्याज्ञानम् अर्थात् पर पदार्थ मे निजत्व का अभाव है उसमे निजत्व रूप स स्वकीय बोध होना इसी का नाम मिथ्या ज्ञान है जैसे सीप मे चाँदी का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसी मिथ्यादशन के सहवास से आत्मा की पर पदार्थों म निजपने की परिणति होती है और इसी क सहवास से आत्मा का जो चारित्र है वह मिथ्याचारित्र हो जाता है। अत श्री स्वामी समन्त भद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार म यह लिखा है —

सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ।।

अर्थत्–धर्म के ईश्वर गणधरादिक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र को धर्म कहते हैं। यह रत्नत्रयरूप धम मोक्ष का मार्ग है और इसस विपरीत मिथ्यादर्शनादित्रय संसार का मार्ग है।

इसी प्रकार कुन्द कुन्द महाराज ने प्रवचनसार मे कहा है —

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह–विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।।

अर्थ — स्वरूप मे आचरण है उसी का नाम चारित्र है उसी का अर्थ स्व समय प्रवृत्ति है उसी को वस्तु स्व भावपने से धर्म कहते हैं उसी का शुद्ध चैतन्य प्रकाश से व्यवहार होता है और वही यथावस्थित आत्म गुणात्मक होने से साम्य शब्द से कहा जाता है और दर्शनमोह तथा चारित्रमोह के उदय के निमित्त जो आत्मा मे मोह और क्षोभ होता है उसी मोह क्षोभ के अभाव को साम्य शब्द से कहते हैं। यह गुण सिद्ध गति मे पूर्ण रूप से सदा के लिए विद्यमान रहता है इसी से सिद्ध गति को ध्रुव कहते हैं। योगो के

द्वारा जो आत्म प्रदेशो की चञ्चलता होती है उसका अभाव होने से वह अचल गति है। ससार मे चार गतियां कर्म के सम्बन्ध से होती हैं और सिद्ध गति कर्मों के अभाव से होती है अतएव निरूपम है। ऐसी सिद्ध गति को प्राप्त सिद्ध भगवान का भाव वचनो के द्वारा अपने आत्मा मे ध्यान कर और द्रव्य वचनो द्वारा परमात्मा मे ध्यान कराके श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने और पराये मोह के नाश के अर्थ द्वादशाङग का अवयव भूत से जो समयसार प्राभृत है उसका परिभाषण करतें हैं। यह समय प्राभृत प्रमाण भूत है क्योंकि यह अनादि निधन श्रुत के द्वारा कहा गया है। इसके मूल कर्ता सर्वज्ञ है तथा उनकी दिव्य ध्वनि का निमित्त पाकर श्री गणधर देव भी इसके प्रगट कर्ता हैं। वास्तब मे समय नामक पदार्थ अनादि निधन है ये तो सूर्य की तरह उसके प्रकाशक हैं परमतकल्पित ईश्वर की तरह कर्ता नही है।

९८ समयसार जीवाजीवाधिकार का सार

इति सति-सह सर्वैरन्य भावविवेके
स्वसमयमुपयोगी बिभ्रदात्मान मेकम् ।
प्रकटित परमार्थे दर्शनज्ञानवृत्तै
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्त ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य समस्त भावो के साथ भेद होने पर इस जीव का यह उपयोग स्वयं एक आत्मा को धारण करता हुआ जिनका यथार्थ स्वरूप प्रकट है ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप परिणति कर आत्मरूप उपवन मे ही प्रवृत्त होता है उसी एक मे रम जाता है ।

भावार्थ—जब तक आत्मा मे मोहजन्य रागादि परिणामो का उदय रहता है और यह आत्मा उन्हे निज समझता है तब तक पर पदार्थों मे इष्ट कल्पनाकर किसी पदार्थ में आसक्त होकर तन्मय हो जाता है और किसी पदार्थ मे अनिष्ट कल्पनाकार उसमे अनासक्त हो उसके नाश का उद्योग करता है । परन्तु जब भेद ज्ञान का उदय होता है तब सब ओर से उपयोग अपने आप पर से पृथक होकर अपने स्वरूप मे स्वयमेव रमण करने लगता है । आगे दर्शन ज्ञान-चारित्र स्वरूप परिणत हुए आत्मा के स्वकीय स्वरूप का संचेतन किस तरह होता है यह कहते हुए आचार्य इस का उपसंहार करते हैं-

अह मिक्को खलु सुद्धो दंसण णाण मइयो सदारूवी ।
णवि अत्थिमज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तपि ॥३८॥

अर्थ—निश्चय से मैं एक हूं शुद्ध हू दर्शन-ज्ञानमय हू सदाकाल अरूपी हू अन्य पर द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है । विशेषार्थ — संसार मे जितने पदार्थ हैं वे सब अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव चतुष्टय कर अपने अपने अस्तित्व मे लीन हैं । अन्य पदार्थों के साथ परस्परावगाह लक्षण सम्बन्ध होने पर भी एक पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ तादात्म्य नहीं होता । निश्चय से यह आत्मा अनादि काल से मोह के द्वारा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध हो रहा है और इसी अप्रतिबुद्धता के कारण अपने और पर के भेद से अनभिज्ञ है । इसकी ऐसी दशा देख संसार से विरक्त परम दयालु श्री गुरु ने इसे

निरन्तर समझाया उससे किसी तरह प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। जैसे कोई मनुष्य सुवर्ण को अपने हाथ में होते हुए भी अन्यत्र अन्वेषण करता है और न मिलने से दुखी होता है और उसकी यह अवस्था देख किसी मनुष्य ने कहा कि क्या खोजते हो तो वह कहता है कि सुवर्ण खो गया है। तब उसने कहा–तुम्हारे हाथ मे ही तो है। यह सुन वह एकदम आनन्द को प्राप्त हो गया। ऐसा ही आत्मा है तो आत्मा मे ही परन्तु अज्ञानी उसे शरीरादि पर पदार्थों मे खोजकर दुःख का पात्र होता है। अब श्री गुरू के उपदेश से परमेश्वर आत्मा को जानकर तथा श्रद्धाकर और उसी मे चर्याकर समीचीन आत्मा मे ही आत्मा का रमण करता हुआ एकदम आनन्दपुञ्ज का आस्वाद लेकर ऐसा तृप्त हो जाता है कि अनन्त संसार की यातनाये एकदम विलीन हो जाती हैं। यद्यपि आत्मा मे क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान व्यवहारिक भावो के द्वारा नानापन का व्यवहार होता है तथापि चैतन्यमात्र आकार के द्वारा मुझमें कोई भेद नहीं है अतएव मैं वही एक आत्मा हूं। नारकादिक जीव के विशेष तथा अजीव रूप पुण्य पाप आस्रव संवर निर्जरा बन्ध और मोक्ष ये जो व्यवहार से नव तत्व हैं उनसे मैं टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध हूं। मैं चेतना मात्र हूं और सामान्य विशेषोपयोग अर्थात् ज्ञान–दर्शनोपयोग के साथ जो तन्मयता है उसका कभी भी अतिक्रमण नही कर सकता अर्थात् ज्ञान–दर्शनमय हूं। स्पर्श रस गन्ध वर्ण इनका संवेदन करने वाला हूं। अर्थात् मेरे ज्ञान मे ये प्रतिभासमान होते हैं मैं इनका जानने वाला हूं परन्तु इनरूप नही परिणमता। अतः परमार्थ से सर्वदा अरूपी हूं। इस प्रकार इनसे अपने स्वरूप को भिन्न जानता हुआ इन्हे जानता भर हूं। यद्यपि बाह्य पदार्थ अपनी विचित्र स्वरूप सम्पदा के द्वारा मेरे ज्ञान मे स्फुरित होते हैं झलकते हैं तो भी परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नही है जो भावकपन से या ज्ञेयपन से मुझमे फिर मोह उत्पन्न कर सके। जब आत्मा मे भावक–भाव्यभाव और ज्ञेय ज्ञायक भाव मोह के उत्पन्न करने मे समर्थ नही होते हैं तब यह स्वरस से ही फिर उत्पन्न न हो सके इस तरह मोह का समूल उन्मूलन करता है और उस समय इसके महान ज्ञान का उद्योत अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश स्वयमेव प्रकट हो जाता है।

आत्मा की महिमा का गान करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

अर्थ—विभ्रमरूपी परदा को शक्तिपूर्वक दूर कर यह भगवान ज्ञान रूपी सागर प्रकट हुआ है। सा लोक पर्यन्त छलकते हुए इसके शा त रस में ये समस्त प्राणी एक साथ अतिशय रूप से निमग्न हों।

भावार्थ—इस जीव का भेद ज्ञानरूपी सागर मिथ्या दर्शनरूपी परदा के भीतर छिपा है। इसी से ससार के समस्त प्राणी बाह्य पदार्थों मे अहंकार ममकार करते हुए निरन्तर अशान्त रहते हैं। अत उस मिथ्या दर्शनरूपी परदा को अत्यन्त दूरकर यह भगवान भेद विज्ञानरूपी सागर प्रकट हुआ है। सा इसके शान्त रस म—आल्हाददायक परिणति मे संसार के समस्त प्राणी एक साथ अच्छी तरह अवगाहन करें। संसार के अन्य समुद्रों का रस अर्थात् जल ता क्षार रूप होने से अवगाहन के योग्य नहीं होता परन्तु इस भेद विज्ञान रूपी सागर का रस अर्थात् जल अत्यन्त शान्त है आह्लाददायक है आर लोकान्त तक छलक रहा है। अत अवगाहन के योग्य है। यहा आचार्य महाराज ने यह कामना प्रगट की है कि ससार के सब प्राणी विभ्रम अर्थात् मिथ्यात्व का नष्ट कर भेद ज्ञानी हाते हुए शान्ति का अनुभव करे क्योंकि बिना भेद ज्ञान के पर स ममत्व नहीं हट सकता और पर मे ममत्व हटे बिना शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता।

卐

६६ जीवा जीवाधिकार (२)

ज्ञानी को जीव और अजीव का भिन्न भिन्न ज्ञान होने पर भी अज्ञानी का मोह पुन पुन अतिशय नृत्य करता है इस पर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हुए कलशा कहते है —

जीवाद जीवमिति लक्षणतो विभिन्न ।
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्ल सन्तम् ।।
अज्ञानिनो निरवधि प्रवृजुम्भितोऽय ।
मोहस्तु तत्कथमहोवत नान टीति ।।४३।।

अर्थ—अजीव जीव से भिन्न है एसा ज्ञानीजन स्वयं उल्लसित ह्राने वाले अजीव तत्व का अनुभव करते है । परन्तु अज्ञानी जीव का निमर्यादित रूप मे वृद्धि को प्राप्त हुआ यह मोह क्या बार बार अतिशय रूप नृत्य कर रहा है यह आश्चर्य और खेद की बात है ।

भावाथ—जीव और अजीव दोना ही अपने अपने लक्षणो से भिन्न भिन्न है ऐसा ज्ञानी जीव स्वय अनुभव करते हैं । परन्तु अज्ञानी जीव का मोह अर्थात् मिथ्यात्व इतना अधिक विस्तार को प्राप्त हुआ है कि वह उसे स्पष्ट सिद्ध जीव और अजीव का भेदज्ञान नही हाने देता । इसलिये वह जीव शरीरादि अजीव पदार्थों मे बुद्धिकर चतुर्गति मे भ्रमण करता है । आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी का वह मोह भले ही नृत्य करो परन्तु ज्ञानी को ऐसा भेद ज्ञान होता ही है ।

अस्मिन्नादिनि महत्य विवेक नाटये ।
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य ।।
रागादिपुद्गल विकार विरुद्ध शुद्ध—
चैतन्य धातुमय मूर्तिरय च जीव ।।४४।।

अर्थ—यह जो अनादिकाल से बहुत बडा अविवेक का नाटय हो रहा है उसमे वर्णादिमान पुद्गल ही नृत्य करता है अन्य नही क्योकि यह जीव

रागादिक पुद्गल के विकारो से विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति से संयुक्त है अर्थात् वीतराग विज्ञान इसका स्वरूप है ।

भावार्थ—अनादिकाल से इस जीव का पुद्गल के साथ परस्परावगाह रूप सम्बन्ध हो रहा है । इसलिये अज्ञानी जीवो को इसमे एकत्व का भ्रम उत्पन्न हो रहा है । उसी भ्रम को दूर करने के लिये आचार्य ने दोनो के भिन्न-भिन्न लक्षण बताते हुए कहा है कि जीव तो रागादिक पुद्गल के विकारो से रहित शुद्ध चतन्य धातु का पिण्ड है और पुद्गल वर्णादिमान है । इस अविवेक अर्थात् अभेद ज्ञान मूलक नाट्य मे सारी भूमिका पुद्गल की ही है । वही राग द्वेष मोह प्रत्यय कर्म और नोकर्म आदि का रूप रखकर अपने नाना स्वाग दिखला रहा है जीव तो सब अवस्थाओ मे एक चैतन्य का ही पिण्ड रहता है । इस तरह भेदज्ञान की प्रवृत्ति मे ज्ञायक आत्मदेव प्रगट होता है इसको स्पष्ट करने को आचार्य आगे कहते है —

इत्थ ज्ञानक्रकच कलना पाटन नाटयित्वा ।
जीवा जीवौ स्फुट विघटन नव यावत्प्रयात ॥
विश्व व्याप्य प्रसभविक सद्व्यक्त चिन्मात्र शक्त्या ।
ज्ञातृ द्रव्य स्वयमतिरसात्ताव दुच्चश्चकाशे ॥४५॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान रूप करोत की क्रिया से विदारण का अभिनयकर अर्थात् पृथक पृथक होकर जब तक जीव और अजीव स्पष्ट रूप से विघटन को प्राप्त नही होते तब तक अतिशय रूप से विकसित तथा प्रकट चैतन्यमात्र की शक्ति से समस्त विश्व को व्याप्त कर यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा अपने आप बड भाव से अत्यधिक प्रकाशमान होने लगता है ।

भावार्थ—इस संसार मे अनादिकाल से जीव की पुद्गल के साथ सयोगी दशा चली आ रही है । जब तक भेदज्ञान नही होता तब तक यह जीव शरीरादि दृश्यमान पदार्थों को आत्मा मानता रहता है ज्ञायक आत्म द्रव्य इन शरीरादिक से भिन्न द्रव्य है ऐसी अनुभूति इस जीव को नही होती । परन्तु जब भेदज्ञान रूप करोत इसके हाथ लगती है तब यह उसके चलाने के अभ्यास से जीव और पुद्गलरूप अजीव को अलग अलग समझने लगता है । अब उसकी प्रतीति मे आता है कि अहो चतन्य स्वभाव को लिये हुए ज्ञायक आत्मा द्रव्य तो इन शरीरादिक से भिन्न पदार्थ है । अभी तो उसने जीव और अजीव को केवल श्रद्धा के द्वारा अलग-अलग समझा था पर अब चारित्ररूप

पुरुषार्थ के द्वारा वह जीव और अजीव को अर्थात् जीव और रागादिक विकारी परिणति को वास्तव मे अलग अलग कर देता है—वीतराग दशा को प्राप्त कर लेता है तब अन्तमुहूर्त मे ही अपनी चैतन्य शक्ति के द्वारा समस्त विश्व को व्याप्त कर अर्थात् केवलज्ञान का विषय बनाकर यह ज्ञायक आत्म द्रव्य स्वय ही प्रकाशमान हो उठता है। यहाँ कार्य की शीघ्रता बतलाने के लिये आचार्य कहते हैं कि जीव और अजीव जब तक विघटन को प्राप्त नही हो पाते उसके पहले ही ज्ञायक आत्म द्रव्य प्रगट प्रकाशमान होने लगता है। वास्तव मे क्रम यह है कि पहले जीव और अजीव का भेदज्ञान होता है तदनन्तर आत्म द्रव्य भासमान होता है।

दूर भूरिविकल्प जाल गहने भ्राम्यन्नि जौघाच्च्युतो
दूरादेवविवेक निम्न गमनान्नीतो निजौघ बलात् ।
विज्ञानैकर सस्त वेकर सिनामात्मान मात्मा हर-
न्नात्मन्येव सदा गतानुगततामायात्यय तोयवत् ॥९४॥

अर्थ-यह आत्मा अपने गुणो क समूह से च्युत हो बहुत भारी विकल्पो के जाल रूपी वन मे दूर तक भ्रमण कर रहा था—भटक रहा था सो विवेक रूपी निचले मार्ग मे गमन करने से बलपूर्वक बडी दूर से लाकर पुन अपने गुणो के समूह में मिला दिया गया है । इसमे एक विज्ञान रस ही शेष रह गया है यह एक विज्ञानरूपी रस के रसिक मनुष्यो की आत्मा को हरण करता है तथा जल के समान सदा आत्मा मे ही लीनता को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जब यह आत्मा मोह क वशीभूत हो अपने चित्पिण्ड स च्युत होकर बहुत प्रकार विकल्प जाल के वन मे भ्रमण करने लगा तब उस विज्ञान रस के जो रसिक थे उ होने विवेक रूप निम्न माग से लाकर बलपूवक अपने चित्पिण्ड मे ही मिला दिया । जसे समुद्र का जो जल वाष्पादि द्वारा मेघ बनकर इत तत बरसता है पश्चात् वही जल निम्नगामिनी नदियो के द्वारा अन्त मे समुद्र का जल समुद्र मे मिल जाता है ऐस ही आत्मा की परिणति मोह कम के विपाक स रागद्व ष द्वारा निखिल परपदार्थों मे फैल जाती ह और जब मोह का अन्त हो जाता है तब भेदज्ञान के बल से पर से विरक्त हो अपने ही चित्पिण्ड मे मिल जाती ह । आगे कहते हैं —

विकल्पक पर कर्ता विकल्प कम केवलम् ।
न जात कर्तृ कर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

अर्थ—विकल्प करने वाला केवल कर्ता है और विकल्प केवल कर्म है । विकल्प सहित मनुष्य का कर्तृकर्म भाव कभी नष्ट नही होता ।

भावार्थ—स्वभाव से आत्मा ज्ञायक है मोही या रागी द्व षी नही है । परन्तु अनादि काल से इसके ज्ञान के साथ जो मोह की पुट लग रही है

उसके प्रभाव से यह नाना प्रकार के विकल्प उठाकर उनका कर्ता बन रहा है तथा वे ही विकल्प इसके कर्म हो रहे है । जब ज्ञान से मोह की पुट दूर हो तब इसका कर्तृ-कर्म भाव नष्ट हो । इसीलिये कहा गया है कि मोह के उदय से जिसकी आत्मा मे नाना विकल्प उठ रहे हैं उसका कतृ-कम-भाव कभी नष्ट नही होता । आचार्य फिर आगे कहते हैं —

य करोति स करोति कवल यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
य करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्तिन करोति स क्वचित् ।६६।

अर्थ—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है ।

भावार्थ—यहाँ आत्मा की शुद्धदशा तथा माह मिश्रित अशुद्ध दशा का युगपत वणन किया गया है । आत्मा की शुद्ध दशा वह है जिससे मोह का प्रभाव बहिर्भूत हो गया है और अशुद्ध दशा वह है जिसमे मोह का प्रभाव सवलित है । आत्मा स्वभाव से ज्ञायक ही है कर्त्ता नही । उसमे जो कतृ व का भाव आता है वह मोह निमित्त ही है । इसालिय यहा पर कहा गया है कि जो करता है वह करता ही है जानता नही है अर्थात् मोह मिश्रित दशा कतृत्व अहकार ही लाती है पदाथ को जानती नही है । जो जानता है वह जानता ही है करता नही है अर्थात् शुद्ध दशा मे कतृत्व का भाव निकल जाता है केवल ज्ञायक भाव शेष रह जाता है ।

ज्ञप्ति करोतौ न हि भासतेऽन्तज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त ।
ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तति तत स्थित च ।६७।

अर्थ—जानने रूप जो क्रिया है वह करने रूप क्रिया के अन्त मे भासमान नही हाती है और जो करने रूप क्रिया है वह जानने रूप क्रिया के मध्य मे प्रतिभासमान नही होती है क्योकि कराति और ज्ञप्ति क्रियाय भिन्न भि न हैं । इससे यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नही है ।

भावार्थ—यह जीव अनादि काल से मोह मिश्रित दशा का अनुभव कर रहा है अर्थात् इस जीव की ज्ञानधारा अनादि काल से मोह धारा से मिश्रित हो रही है । ज्ञान धारा का कार्य पदार्थ को जानना है और मोहधारा का कार्य आत्मा को पर का कर्ता धर्ता बनाकर उसमे इष्टानिष्टबुद्धि उत्पन्न करता है । यहाँ इन दोनो धाराओ का पृथक-पृथक कार्य बताया गया है अर्थात् ज्ञान धारा का कार्य जो जानना है उसमे मोह धारा का कार्य जो

कतृ त्व का भाव है वह नहीं है और मोह धारा के कार्य मे ज्ञान धारा का कार्य नही है। सम्यग्ज्ञानी जीव इन दोनो धाराओ के अन्तर को समझता है इसलिये वह पदार्थ का ज्ञाता तो होता है परन्तु कर्ता नहीं होता।

> कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियत कर्मापि तत्कतरि
> द्वन्द्व विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कतृ कम स्थिति ।
> ज्ञाता ज्ञातरि कम कमणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
> र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसाम्मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अर्थ—निश्चय से कर्ता कर्म मे नही है और कम भी कर्ता मे नही है। जब कर्ता और कर्म इस द्वत का ही निषेध किया जाता है तब कर्ता और कर्म की क्या स्थिति रह जाती है। ज्ञाता ज्ञाता मे रहता है और कर्म कम मे रहता है यह सदा से वस्तु की मर्यादा स्पष्ट है। फिर भी यह मोह परदे के भीतर वेग से क्यो अतिशय नृत्य कर रहा है यह खेद का विषय है।

भावार्थ—ज्ञाता ज्ञय को जानता है यहा ज्ञाता कर्ता है और ज्ञय कर्म है। जब वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार किया जाता है तब ज्ञाता ज्ञाता ही रहता है ज्ञय रूप नही हो जाता और ज्ञेय ज्ञय ही रहता है ज्ञातारूप नही हो जाता। मात्र ज्ञाता के ज्ञान गुण की स्वच्छता से ज्ञय उसमे प्रतिभासमान होता है तद्र प नही हो जाता। यह ज्ञाता और ज्ञय अथवा कर्ता और कर्म की व्यवस्था है। इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने का विकल्प तभी तक बनता है जब तक इच्छा के जनक मोह कर्म का विपाक विद्यमान रहता है। मोह की विपाक दशा समाप्त होने पर कौन ज्ञाता है कौन ज्ञय है यह विकल्प अपने आप शान्त हो जाता है। जब यह विकल्प ही मिट गया तब कर्ता और कर्म की स्थिति भी स्वय मिट गई। इस तरह वस्तु स्वरूप की यह मर्यादा अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञाता ज्ञाता मे ही रहता है और कर्म कर्म मे ही रहता है अर्थात् ज्ञय ज्ञेय मे ही रहता है। परन्तु यह अनादि कालीन मोह परदा के भीतर अपना नाट्य दिखलाकर लोगों को मुग्ध कर रहा है यह खेद की बात है। अत्यन्त स्पष्ट वस्तु स्वरूप को लोग मोह के बश न समझ सके यह खेद का विषय है। मोह भले ही नृत्य करता रहे तो भी वस्तु का स्वरूप यथावस्थ रहता है यही आचार्य कलश द्वारा बतलाते हैं —

> कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नव
> ज्ञान ज्ञान भवति च यथा पुद्गल पुद्गलोऽपि ।

ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै—
श्चिच्छक्तीनां निकर भरतोऽत्यन्त गम्भीर मेतत् ।९९।

अर्थ—जिसके अन्तस्तल मे चतन्य शक्तियो के समूह के भार से देदीप्यमान अविनाशी उत्कृष्ट तथा अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञान ज्योति प्रगट हो चुकी ह इसके प्रभाव से वह कर्ता कर्ता नही रहता कर्म कम नही रहता ज्ञान ज्ञान ही हो जाता ह और पुद्गल पुद्गल ही हो जाता ह ।

भावार्थ—आचार्य कहते है कि मोह भले ही परदा के अन्दर अपना नाटय दिखलाता रहे तो भी हमारे हृदय मे वह उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति प्रकट हो गई ह जो अतिशय देदीप्यमान ह अविनाशी ह तथा अत्यन्त गम्भीर ह । यह ज्ञान ज्योति कही बाहर से नहीं आई ह किन्तु हमारी ही चैतन्य शक्तियों के भार से अपने आप प्रगट हुई हैं । इस ज्ञान ज्योति के प्रकाश मे कर्ता कर्ता नही रह गया ह और कम कर्म नही रह गया है अर्थात् कर्तृ कर्म का भाव समाप्त हो गया है । ज्ञाता ज्ञेय का विकल्प समाप्त हो गया ह अब ज्ञान ज्ञान रूप ही रह गया ह और पुद्गल पुद्गल रूप ही ।

१०१ पुण्य पाप अधिकार

कम मोक्ष के हेतु—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का आच्छादन करने वाले हैं इसको आचार्य दिखाते हैं—

सम्मत्त-पडिणिबद्ध मिच्छत्त जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्तिणायव्वो ।१६१।
णाणस्स पडिणिबद्ध अण्णाण जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वों ।१६२।
चारित्त-पडिणिबद्ध कसाय जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्त होदि णायव्वो ।१६३।

अर्थ—सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म ह ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा ह। उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि हाता ह ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान का रोकने वाला अज्ञान है एसा श्री जिनवर के द्वारा कहा गया ह। उस अज्ञान के उदय से यह जीव अज्ञानी नाम पाता ह यह जानना चाहिये। चारित्र को घातने वाला कषाय ह ऐसा भगवान का आदेश ह। उस कषाय के उदय से यह जीव अचरित्र हाता है यह जानना चाहिये।

विशेषार्थ -आत्मा का जो सम्यग्दर्शन है वह मोक्ष का कारण है तथा आत्मा का स्वभाव भूत है। उसे रोकने वाला मिथ्यात्व है। वह स्वयं कम ही है। जब उसका उदयकाल आता है तब ज्ञानी के मिथ्यादृष्टिपन रहता है। इसी तरह आत्मा का जो ज्ञान है वह मोक्ष का कारण है तथा आत्मा का स्वभाव है। उसका प्रतिबन्धक अज्ञान है वह स्वय कर्म है। उसके उदय से ज्ञान के अज्ञानपन होता है। इसी तरह आत्मा का जो चारित्रगुण है वह मोक्ष का कारण है तथा आत्मा का स्वभाव है। उसको रोकने वाला कषाय है। यह कषाय स्वयं कर्म है उसके उदय से ज्ञान का अचारित्र भाव होता है। इसीलिये मोक्ष के कारणों का तिरोधायक-अच्छादक होने से कर्म का प्रतिषेध किया गया है। आत्मा असाधारण चेतन्य गुण विशिष्ट एक द्रव्य है परन्तु अनादिकाल से कर्मों के साथ एकमेक जैसा हो रहा है। इसमे जिस तरह चेतना असाधारण गुण है उसी तरह सम्यक्त्व चारित्र सुख और वीर्य भी असाधारण गुण हैं। किन्तु इन गुणो के विकास को रोकने वाले ज्ञानवरणादि आठ कम

अनादि से ही इसके साथ लग रहे हैं। उन कर्मों मे ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया है जो कि आत्मा के असाधारण अनुजीवी गुणो को घातत हैं। अघातिया कर्म आत्मगुण घातक नही हैं केवल उनके अभाव में प्रतिजीवी गुणो का ही उदय होता है। घातिया कर्मों मे ज्ञानावरण और दर्शनावरण चेतना गुण के विकास मे बाधक है अर्थात् जब ज्ञानावरण कम का उदय होता है तब आत्मा का ज्ञान नही प्रगट होता है और दर्शनावरण के उदय मे दर्शन नही होता और अन्तराय के उदय मे वीर्य (शक्ति) का विकास नही होता है। इनके क्षयोपशम मे आशिक ज्ञान दर्शन तथा वीर्य प्रगट होते हैं और क्षय मे पूर्णरूप से ज्ञानादिक गुणो का विकास हो जाना है। मोहनीय कम की तरह इनका सवथा उदय नही रहता अन्यथा आत्मा के ज्ञानगुण का सर्वथा अभाव होने से उसके अस्तित्व का हो लोप हो जाता सो हो नहीं सकता। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्र को घातता है। यहाँ पर घातका यह आशय है कि गुणो के विकास को रोकता तो नही है किन्तु उसका विरुद्ध परिणमन करा देता है। जसे कामला रोगी देखता तो है परन्तु श्वेतशङ्ख को पीतरूप देखता है। अत परमार्थ से देखा जावे तो यह घात आत्मा का अहित करने वाला है। इन्ही ज्ञानावरणादि कर्मों म पाप कम और पुण्य कम का विभाग है। घातिया कर्मों की जितनी प्रकृतियाँ हैं वे सब पापरूप ही हैं परन्तु अघातिया कर्मों मे कुछ पाप प्रकृतियाँ है कुछ पुण्य प्रकृतियाँ हैं। कषाय के मन्दोदय मे पुण्यप्रकृतियो का बन्ध होता है और कषाय के तीव्रोदय मे पाप प्रकृतियो का बन्ध होता है। पुण्य प्रकृतियो के विपाक काल मे सासारिक सुख की प्राप्ति होती है और पाप प्रकृतियो के उदयकाल मे सासारिक दुःख की ही प्राप्ति होती है। कषाय के मन्दादय मे होने वाला जो शुभाचरण है वह भी पुण्यकर्म के बन्ध मे साधक होने से पापरुप कहलाता है और कषाय के तीव्रोदय मे होने वाला जो अशुभा चरण है वह तो पापकर्म के बन्ध मे साधक होने से पापकर्म कहलाता ही है। इससे पापरूप होने से तो दोनो प्रकार के कर्मों का त्याग करना चाहिये। यही आगे कलश मे कहते हैं —

सन्यस्तव्यमिद समस्तमपि तत्कर्मैवमोक्षार्थिना।
सन्यस्ते सति तत्र काकिल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादि निजस्वभाव भवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव
न्नैष्कर्म्य प्रतिबुद्धमुद्धतरस ज्ञान स्वय धावति ॥१०९॥

अर्थ—मोक्ष के अभिलाषी मनुष्य के द्वारा ये सभी कर्म छोड देने के

योग्य हैं। इस आदेश से जब सब कम छोड़ दिये तब पुण्य और पाप की क्या चर्चा रह गई। पुण्य और पाप तो कर्म की विशिष्ट अवस्थायें हैं। जब सामान्य रूप से कम का त्याग हो गया तब पुण्य पाप का त्याग तो उसी त्याग मे अनायास गर्भित हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनो प्रकार के कर्मों के छूट जाने से जब इस जीव की निष्कर्मा अवस्था हो जाती है तब इसके सम्यक्त्वादि गुणो का निजस्व भावरूप परिणमन होने लगता है और तभी उससे सम्बन्ध रखने वाला शक्तिशाली ज्ञान मोक्ष का हेतु होता हुआ स्वय दौडकर आता है।

भावार्थ—जब पुण्य और पाप दोनो प्रकार के कर्म छूट जाते हैं तब एक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु होता है तथा सम्यक्त्वादि गुणो का स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। उस समय का यह ज्ञान इतना शक्तिशाली होता है कि इसकी गति को कोई रोक नही सकता। शुद्धोपयोग की भूमिका मे क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर जब यह जीव पुण्य पाप कर्मों के जनक समस्त रागादिक विकल्पो को दशम गुण स्थान के अन्त मे क्षय कर देता है तब उसका ज्ञान नियम से अन्तमु हूर्त मे केवलज्ञान हो जाता है। अब यह अशङ्का होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुण स्थानो मे जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान रागादि जन्य विकल्प परिणति से रहित नही हुआ है तब तक ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग कसे हो सकता ह तथा कम और ज्ञान साथ साथ किस तरह रह सकते हैं इसके समाधान के लिय आचार्य कलश म कहत हैं —

यावत्पाकमुपैति कम विरतिर्ज्ञानस्य सम्यड न सा।
कमज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति ॥
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तत्।
मोक्षाय स्थितमेकमेव परम ज्ञान विमुक्त स्वत ॥११०॥

अर्थ—जब तक कम उदय को प्राप्त हो रहा है तथा ज्ञान की रागादिक के अभाव मे जसी निर्विकल्प परिणति होती ह वैसी परिणति नही हो जाती है तब तक कम और ज्ञान दोनो का समुच्चय भी कहा गया है इसमे कोई हानि नही ह किन्तु इस समुच्चय की दशा में भी कर्मोदय की परतन्त्रता से जो कम होता है अर्थात् जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती ह वह बन्ध के लिये ही होती ह उसका फल बन्ध ही है। मोक्ष के लिये तो स्वत स्वभाव से पर से शून्य ज्ञायकमात्र एक उत्कृष्ट ज्ञान ही हेतुरूप से स्थित है।

भावार्थ—चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक कम और ज्ञान दोनो का समुच्चय रहता है क्योकि यथा संभव चारित्र मोह का उदय

विद्यमान रहने से रागादिरूप परिणति रहती है और उसके रहते हुए शुभ-अशुभ कर्मों मे प्रवृत्ति अवश्यंभावी है तथा दर्शनमोह का अनुदय हो जाने से ज्ञान का सद्भाव है। इस समुच्चय की दशा में इन गुण स्थानो मे रहने वाले जीवो को मोक्षमार्गी माना जावे या बन्धमार्गी यह आशङ्का उठ सकती है। उसका उत्तर यह है कि इस दशा मे कर्मोदय की बलवत्ता से जीवो की जो कर्म मे प्रवृत्ति होती है उससे तो बन्ध ही होता है और स्वभावरूप परिणत जा उनका सम्यग्ज्ञान है वह मोक्ष का कारण है क्योकि ज्ञान बन्ध का कारण नही हो सकता। यही कारण है कि इन गुणस्थानो मे गुण श्रेणी निर्जरा भी हाती है और देवायु आदि पुण्य प्रकृतियो का बन्ध भी होता है। इस वास्तविक अन्तर को गौण कर कितने ही लोग शुभ प्रवृत्ति को मोक्ष का कारण कहने लगते हैं और रत्नत्रय को तीर्थंकर प्रकृति आहारक शरीर तथा देवायु आदि पुण्य प्रकृतियो के बन्ध का कारण बताते हैं। ऐसे कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्ती ससार-सागर मे निमग्न रहते है। इसके लिये आचार्य आगे कहते हैं —

मग्ना कमनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयषिणोऽपि यद तिस्वच्छन्द मदोद्यमा
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त स्वय
ये कुर्वन्ति न कम जातु न वश याति प्रमादस्य च ॥१११॥

अर्थ—जो ज्ञान को नही जानते हैं तथा केवल कर्मनय के अवलम्बन मे तत्पर रहते हैं वे डबते हैं। इस प्रकार जो ज्ञाननय के इच्छुक होकर भी धर्माचरण के विषय मे अत्यन्त स्वच्छन्द और मन्दाद्यम रहते हैं वे भी डबते हैं। किन्तु जो निरन्तर स्वयं ज्ञानरूप होते हुए न तो कर्म करते है और न कभी प्रमाद के वशीभूत होते हैं वे ही समस्त ससार के ऊपर तरते हैं अर्थात् ससार से पार होते है।

भावार्थ—यहाँ कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्तियो का निरुपण करते हुए अनेकान्त स दोनो नयो का पालन करने वाले पुरुषा का वणन किया गया ह। जो मनुष्य ससार सागर के सतरण का मूलभूत उपाय जो ज्ञान ह उसे तो समझते नही हैं केवल बाह्य क्रिया काण्ड के आडम्बर मे निमग्न रहते हैं वे ससार सागर मे ही डबते है और जो ज्ञाननय को तो चान्ते हैं परन्तु बाह्य शुभाचरण मे स्वच्छन्द तथा अत्यन्त मन्दोत्साह है वे भी ससार सागर मे ही डबते हैं और जो न तो कर्म करते हैं और न कभी प्रमाद के वशीभूत हो

शुभाचरण से च्युत होते हैं वे स्वय ज्ञानरूप होते हुए विश्व के ऊपर तैरते हैं।

आगे सब प्रकार के कर्मों को नष्ट होने पर ज्ञान ज्योति प्रगट होती है इस पर आचार्य यह कहते हैं।—

भेदोन्माद भ्रमरस्य भराम्नाट यत्पीत मोह।
मूलोन्मूल सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन॥
हेलोन्मीलत्परमकलया साधमारब्धकेलि।
ज्ञान ज्योति कवलिततम प्रोज्ज्म्भे भरण॥११२॥

अर्थ—जो मोहरूपी मदिरा को पीकर उन्मत्त हुए मनुष्य को भेद के उन्माद से उत्पन्न भ्रमरस के भार से नृत्य करा रहा है ऐसा सभी प्रकार के कम को बलपूर्वक जड सहित उखाड कर वह ज्ञान ज्योति जोर से प्रकट होती है जो अनायास प्रकट हाते हुए केवलज्ञानरूपी परम कला के साथ क्रीडा प्रारम्भ करती है तथा सब अन्धकार दूर कर देती है।

भावार्थ—यह जीव अनादिकाल से मोहरूपी मदिरा को पीकर उसके मद मे मत्त हो रहा है तथा उसक फलस्वरूप पर पदार्थों मे इष्टानिष्ट बुद्धि कर रहा है। ऊपर से कम (पुण्य पाप) का भेद प्रगट कर तज्जन्य उन्माद मे उत्पन्न भ्रमरूपी रस के भार से उसे चतुर्गतिरूप ससार मे नचा रहा है। ऐसे समस्त कर्मों को जब यह जीव बलपूर्वक जड से उखाड कर नष्ट कर देता है तब अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाली वीतराग विज्ञानतारूपी वह ज्ञान ज्योति इसके प्रगट होती है जो अन्तमु हूर्त के भीतर अनायास प्रकट होने वाली केवल ज्ञानरूपी परम कला के साथ क्रीड़ा करती है अर्थात् स्वयं केवलज्ञान रूप हो जाती है।

☆

आचार्य शुद्धनय से च्युत होने वाले पुरुषो की अवस्था का वणन करत है —

प्रच्युत्य शुद्धनयत पुनरेव येतू
रागादि योग मुपयान्ति विमुक्तबोधा
ते कम्म बन्ध मिह बिभ्रति पूवबद्ध—
द्रव्यास्रव कृत विचित्र विकल्प जालम् ॥१२१॥

अथ–जो पुरुष शुद्धनय से च्युत होकर अज्ञानी होत हुए फिर से रागादि के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वे पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवो के द्वारा नाना प्रकार क विकल्प जाल को उत्पन्न करने वाले कमबन्ध को धारण करते हैं। आग हृष्टान्त द्वारा यही दिखाते हैं —

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविह
मस—वसा रुहिरादी भावे उपरग्गि सजुत्तो ॥१७६॥
तह णाणिस्स दु पुव्व जे बद्धा पच्चया बहुवियप्प।
बज्झते कम्म ते णयपरिहीणाउ ते जीवा ॥१८०॥

अर्थ—जिस प्रकार पुरुष क द्वारा ग्रहण किया गया आहार जठराग्नि से सयुक्त होता हुआ अनेक प्रकार मास वसा तथा रुधिर आदि भावा रूप परिणमन करता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव क पूवबद्ध प्रत्यय अनेक प्रकार क कर्मों को बाधते हैं परन्तु उस समय वे जीव शुद्धनय से च्युत होते है।

विशेषार्थ—जिस समय ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत हो जाता है उस समय उसक रागादिक विकृत परिणामो का सद्भाव होने से पूर्व क बधे हुए द्रव्य प्रत्यय पुद्गल कम कर्मबन्ध को ज्ञानावरणादि रूप परिणमाने लगते हैं अर्थात् बन्ध क कारण हो जाते हैं क्योकि कारण क रहते हुए काय की उत्पत्ति अनिवार्य रूप से होती है और यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है क्योकि पुरुष क द्वारा गृहति आहार का जठराग्नि क द्वारा रस रुधिर मास और वसा (चर्बी) रूप परिणमन देखा जाता है।१७६–१८०।

आचार्य आगे फिर शुद्धनय की महिमा दिखाते हैं :—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्ध एव हि ॥१२२॥

अर्थ—यहां यही तात्पर्य है कि शुद्धनय छोड़ने योग्य नही है क्योंकि उसके न छोडने से बन्ध नही होता और उसके छोडने से बन्ध नियम से होता है।

अब उसी शुद्धनय का प्रभाव दिखाते हुए कहते हैं—

धीरोदार महिम्न्यनादि निधने बोधे निबध्नन् धृति
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ॥
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रम चिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः ।
पूर्णज्ञान घनौघमेकमचल पश्यन्ति शांत महः ॥१२३॥

अर्थ—धीर और उदार महिमा वाले अनादिनिधन ज्ञान मे जो धीरता को धारण कराने वाला है तथा कर्मों को सर्वतो भावेन निर्मूल करने वाला है ऐसा शुद्धनय पुण्यशाली पुरुषो के द्वारा कदापि त्यागने योग्य नही है क्योंकि उसमे स्थिर रहने वाले ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों मे जाने वाले अपनी किरणो के समूह को शीघ्र ही समेटकर पूर्ण ज्ञान घन अद्वितीय अचल तथा शान्त तेज का अवलोकन करते हैं।

आगे परमतत्व का अन्तरङ्ग मे अवलोकन करने वाले पुरुष के पूर्णज्ञान प्रगट होता है इसे आचार्य कलश द्वारा कहते हैं :—

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां ।
नित्योद्योतं किमपि परम वस्तु सपश्यतोऽन्तः ॥
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा—
नालोकान्तादचलमतुल ज्ञान मुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

अर्थ—सब ओर से रागादिक आस्रवो का शीघ्र ही विलय हो जाने के कारण जो निरन्तर प्रकाशमान किसी अनिर्वचनीय परमतत्व का अन्तरङ्ग मे अवलोकन कराता है ऐसे ज्ञानी जीव के अनन्तानन्त स्वकीयरसके समूह से लोक पर्यन्त समस्त पदार्थों को अन्तर्निमग्न करता हुआ अचल और अतुल्य ज्ञान प्रगट होता है।

१०३ संवराधिकार

किस क्रम से संवर होता है यह कहते हैं —

तेसिहेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाण अविरयभावोय जोगोय ॥१६०॥
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसव भावेण विणाजायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१६१॥
कम्मसा भावेण य णोकम्माण पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य ससारणिरोहण होइ ॥१६२॥

अर्थ—सवज्ञ भगवान ने उन पूर्वकथित राग द्वेष मोह भावो के कारण मिथ्यात्व अज्ञान अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहे है । ज्ञानी जीव के इन हेतुओं के अभाव मे नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है । आस्रव भाव के बिना कर्म का भी निरोध हो जाता है कर्म के निरोध से नोकर्मों का भी निरोध हो जाता है और नोकर्मों के निरोध मे ससार का निरोध अनायास हो जाता है ।

विशेषार्थ—जीव के जब तक आत्मा और कर्म मे एकत्व का अभिप्राय है तब तक उसके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति और योग इन चार अध्यवसान भावो की सत्ता है । ये अध्यवसान भाव ही रागद्वेष मोहरूप आस्रव भाव के कारण हैं आस्रव भाव कर्म का कारण है कर्म नोकर्म का मूल है और नोकर्म ससार का आदि कारण है । इस प्रकार यह आत्मा निरन्तर आत्मा और कर्म मे अभिन्नता के निश्चय से मिथ्यात्व अज्ञान अविरति और योग से तन्मय आत्मा का अध्यवसाय करता है उस अध्यवसाय से रागद्वेष मोहरूप आस्रव भाव की भावना करता है और राग द्वेष मोह भावो को अपने मानने से इनके द्वारा कर्म का आस्रव होता है । कर्म से नोकर्म होता है और नोकर्म से ससार होता है । परन्तु जब आत्मा के आत्मा और कर्म का भेद विज्ञान हो जाता है तब उसके बल से शुद्ध चैतन्य चमत्कारमय आत्मा की प्राप्ति होती है । आत्मा की प्राप्ति से मिथ्यात्व अज्ञान अविरति और योगरूप आस्रव के हेतुभूत अध्यवसानो का अभाव हो जाता है इन आस्रवभावो के अभाव से कर्म का अभाव हो जाता है कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है

और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव हो जाता है। इस प्रकार यह सवर क्रम है।

आगे आचार्य कलश द्वारा भेद विज्ञान की महिमा प्रगट करते हैं —

सपद्यते सवर एष साक्षात् शुद्धात्म तत्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेद विज्ञानत एव तस्मात्तद् भेद विज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२६॥

अर्थ—निश्चयकर शुद्धात्म तत्व के उपलम्भ से साक्षात् सवर होता है और शुद्धात्मा का उपलम्भ भेद विज्ञान से होता है। इसलिये वह भेद विज्ञान निरन्तर भावना करने योग्य है।१२६।

अब भेद विज्ञान कब तक भावने याग्य है यह कहते हैं —

भावयेद् भेद विज्ञान मिदमच्छिन्न धारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठते ।१३०।

अर्थ यह भेद विज्ञान आवच्छिन्न रूप से तब तक भावना करने याग्य है जब तक ज्ञान परसे च्युत होकर ज्ञान मे स्थिर नही हो जाता।१३ ।

अब भेद विज्ञान ही सिद्ध पद की प्राप्ति का कारण है यह कहते हैं -

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यवा भावतो बद्धा बद्धाये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ—जो कोई सिद्ध पद को प्राप्त हुए हैं वे सब भेद विज्ञान से ही हुए हैं और जो कोई इस ससार मे बंधे है वे सब इसी भेद विज्ञान के अभाव से ही बधे हैं।१३१।

आगे सवर से कैसा ज्ञान प्रात होता है यह कहते हैं।

भेद ज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्वोपलम्भाद्
रागग्राम प्रलयकरणात्कर्मणां सवरेण ।
बिभ्रत्तोष परमममलालोक मम्लानमेक
ज्ञान ज्ञाने नियत मुदितं शाश्वतोद्योत मेतत् ॥१३२॥

अथ —भेद ज्ञान की प्राप्ति से शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि हुई शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि से राग समूह का प्रलय हुआ और रागसमूह के प्रलय

से कर्मों का संवर हुआ तथा कर्मों के सवर से यह ऐसा ज्ञान प्रगट हुआ जो कि परम सतोष को धारण कर रहा है निर्मल प्रकाश से सहित है कभी म्लान नही होता है एक है ज्ञान मे स्थिर रहता है और नित्य ही उद्योतरूप रहता है ।

भावार्थ—अनादिकाल से यह जीव अज्ञानवश नाना प्रकार क दुखो से आकीण संसार मे भ्रमता हुआ आकुलता का पात्र रहता है । परन्तु जब इस जीव का ससार अल्प रह जाता है तब पहले इसे अज्ञान का अभाव होने से स्व पर का भेदज्ञान होता है तदनन्तर उसी का निरन्तर अभ्यास करता है पश्चात् उस दृढ अभ्यास की सामर्थ्य से शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि होती है । अनन्तर उस शुद्ध आत्मा के बल से रागादिक रूप विभाव भावो के समुदाय का नाश हो जाता है और रागादिको के नाश से कर्मों का बन्ध न होकर संवर होता है । तदन्तर परम सन्तोष को धारण करने वाले ऐसे ज्ञान का उदय होता है जिसका प्रकाश अत्यन्त निमल है जो अम्लान है एक है ज्ञान मे ही स्थिर हैं और नित्य उद्योत से सहित है अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान मे यह सब विशेषताय नही थी जो अब केवलज्ञान मे प्रगट हुई है ।१३२।

卐

आगे द्रव्य और भाव मे निमित्त नैमित्तिक भाव का उदाहरण कहते हैं -

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उजे णिच्च ॥२८६॥
आधा कम्म उद्देसिय च पोग्गलमय इम दव्व।
कह त मम होइ कय ज णिच्चमचेयण उत्त ॥२८७॥

अथ—अध कम को आदि लेकर जो ये पुद्गल द्रव्य के दोष हैं उन्हें ज्ञानी जीव किस प्रकार कर सकता है क्योकि ये सब पर द्रव्य के गुण हैं। अध कम और उद्दशिक ये जा दोष हैं वे सब पुद्गल द्रव्यमय हैं। ज्ञानी जीव विचारता है कि ये हमारे किस प्रकार हो सकते हैं ? क्योकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये हैं।

विशषार्थ - जो पुद्गल द्रव्य अध कम से निष्पन्न हुआ है अथवा जो पुद्गलद्रव्य उद्दश्य से निष्पन्न हुआ है अर्थात् जो आहार पापकम से उपार्जित द्र य द्वारा बनाया गया है अथवा जो आहार व्यक्ति विशेष के निमित्त से बनाया गया है मलिन भाव की उत्पत्ति मे निमित्त भूत उस आहार का जो मुनि प्रत्याख्यान नही करता है, त्याग नही करता है वह उसके निमित्त से होने वाले ब ध के साधक भाव का प्रत्याख्यान नही कर सकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण पर द्रव्य को नहीं त्यागने वाला मुनि उसके निमित्त से जायमान भाव का नही त्याग सकता है और जैसे आत्मा अध कर्मादिक पुद्गल द्रव्य के दाषो को नही करता है क्योकि ये अध कर्मादिक पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से आत्मा के कार्य नहीं हैं। ऐसे ही अध कर्म और उद्देश्य सैं निष्पन्न जो यह पुद्गल द्रव्य है वह मेरा कार्य नही है क्योकि यह नित्य अचेतन है। अत इसमें मेरा कार्यपने का अभाव है अर्थात् मैं इसका कर्ता नहीं हू। इस प्रकार तत्व ज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गल द्रव्य को त्यागता हुआ आत्मा ब ध के साधक जो नैमित्तिकभाव हैं उन्हें त्यागता है। इसी प्रकार समस्त पर द्रव्यो को त्यागता हुआ आत्मा उनके निमित्त से उत्पन्न भाव को भी त्यागता है। इस तरह द्रव्य और भाव मे निमित्त नैमित्तिक भाव है। आगे इसी भाव को कलश मे कहते हैं।

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्य समग्र बला—
त्तन्मूल बहुभावसतति मिमामुद्धतुकम समम् ।
आत्मान समुपति निभरवहत्पूर्णैक सविद्युत
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

अर्थ—इस प्रकार पर द्रव्य और अपने भावो मे निमित्त नैमित्तिक भाव का विचार कर नाना भावो की इस परिपाटी को बलपूर्वक एक साथ उखाड देने की इच्छा करने वाला आत्मा नाना भावो को मूलभूत उस समस्त पर द्रव्य का परित्याग करता है और उसके फलस्वरूप अतिशयरूप से बहने वाले पूर्ण एक सवेदन से युक्त उस आत्मा को प्राप्त होता है । जिसके द्वारा समस्त कर्म ब ध को उखाड देने वाला यह भगवान आत्मा अपने आप मे ही प्रकट होता है ।

भावार्थ—समस्त पर द्रव्यो और रागादिक भावो मे परस्पर निमित्त नैमित्तिकपन है अर्थात् पर द्रव्य निमित्त है और रागादिक भाव नैमित्तिक है । जो आत्मा रागादिक भावो की इस परम्परा को उखाडकर दूर करने की इच्छा रखता है वह उन रागादिक भावो का मूल कारण जो समस्त पर द्रव्य है उसको पृथक कर निरन्तर उपयोगरूप रहने वाले पूर्णज्ञान केवलज्ञान स युक्त आत्मा को प्राप्त होता है अर्थात् अरहन्त अवस्था को प्राप्त हाता है और उसके फलस्वरूप समस्त कम ब धन को नष्ट कर भगवान आत्मा आत्मा मे ही प्रकट होता है अर्थात् सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है ।

रागादीनामुदयमदय दारयत्कारणाना
कार्यं बन्ध विविधमधुना सद्यएव प्रणुद्य ।
ज्ञान ज्योति क्षपिततिमिर साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत् प्रसरमपरा कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥

अर्थ—बन्ध के कारण जो रागादिक भाव हैं उनके उदय को निर्दयता पूर्वक विदारण करने वाली तथा अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली जो यह ज्ञान रूपी ज्योति है वह रागादिक का कार्य जो नाना प्रकार बन्ध है उसे उसी समय शीघ्र ही नष्ट कर अच्छी तरह उस प्रकार सज्जित होती है—पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रकट हाती है कि काई दूसरा इसके प्रसार को रोक नहीं सकता ।

भावार्थ—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध के चार भेद हैं। इन बन्धो का कारण रागादिक विकारी भावो का उदय है। सो आत्म कल्याणक इच्छुक पुरुष (क्षपक श्रेणी मे आरुढ होकर) दशम गुण स्थान के अन्त मे उन रागादिक भावों का इतनी निर्दयता पूर्वक विदारण करता है कि फिर वे उत्पन्न होने का नाम ही नही लेते। रागादिक भावो का अभाव हो जाने पर कर्मों का नाना प्रकार का बन्ध तत्काल ही नष्ट हो जाता है। यद्यपि केवल साता वेदनीय का प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है परन्तु स्थिति और अनुभाग बन्ध से रहित होने के कारण उसकी विवक्षा नही की गई है। इस तरह निर्बन्ध अवस्था होने पर बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण दर्शनावरण रूपी अन्धकार नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट तथा सदा अखंड रहने वाली अर्थात् उपयोग रूप परिणत केवलज्ञानरूप वह ज्योति इस तरह प्रकट होती है कि कोई दूसरा पदार्थ उसके प्रसार को रोकने मे समर्थ नही होता।

१०५ मोक्षाधिकार

पडिक्कमण पाडसरण परिहारो धारणा णियत्तीय ।
णिंदा गरहा सोही अटठविहोहोई विसकुम्भो ॥३०६॥
अपडिकमण अप्पडिसरण अप्परिहारो अधारणा ।
अणियत्ति य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुम्भो चेव ॥३०७॥

अर्थ—प्रतिक्रमण प्रतिसरण परिहार धारणा निवृत्ति निन्दा गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुम्भ हैं क्योकि इनमे आत्मा के कर्तापन का अभिप्राय है और जहाँ कर्तापन का अभिप्राय है वहाँ बन्धरुप दोष का सद्भाव ही है तथा अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति अनिन्दा अगर्हा और अशुद्धि ये आठ प्रकार अमृतकुम्भ हैं क्योकि यहाँ कर्तापन का निषेध है अतएव निरपराध है तथा इसी से अबन्ध है। (१) किये हुए दोषो का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। (२) सम्यकचारित्रादि मे आत्मा को प्रेरित करना प्रतिसरण है। (३) मिथ्यात्व तथा रागादिक दोषो से आत्मा का निवारण करना परिहरण है। (४) पञ्चनमस्कारादि बाह्य द्रव्य का आलम्बन कर चित्त को स्थिर करना धारणा है। (५) बहिरङ्ग विषय कषायादिक मे जो चेष्टा है उससे चित्त की प्रवृत्ति को रोकना निवृत्ति है। (६) आत्मा का साक्षीकर दोषो को प्रकट करना निन्दा है। (७) गुरु की साक्षीपूर्वक दोषो का प्रकट करना गर्हा है। (८) गुरु प्रदत्त प्रायश्चित का धारण करना शुद्धि है।

विशेषार्थ – जो अज्ञानी जन साधारण अप्रतिक्रमणादिक है वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव स्वरूप होने से स्वयमेव अपराध है इसलिये विष कुम्भ ही हैं। उनके विचार से क्या लाभ है ? वे तो स्वय त्यागने योग्य ही हैं परन्तु जो द्रव्य रूप प्रतिक्रमणादिक हैं वह सम्पूर्ण अपराध रूप विष के दोषो के कम करने मे समर्थ होने से यद्यपि अमृत कुम्भ भी हैं तो भी प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमि को न देखने वाले पुरुष के स्वकीय कार्य के करने मे असमर्थ होने तथा विपक्ष कार्य के करने के कारण वे विषकुम्भ ही हैं। वह अप्रतिक्रमणादि रूपा तृतीय भूमि स्वय शुद्धात्मा की सिद्धि स्वरूप होने के कारण सम्पूर्ण अपराध रूपी विष के दोषो को समूल नष्ट करने मे समर्थ हैं। इसलिये स्वय साक्षात् अमृत

कुम्भ है। इस तरह से वह व्यवहार से द्रव्य प्रतिक्रमणादिक के भी अमृत कुम्भपन को सिद्ध करती है। इसी तृतीय भूमि के द्वारा आत्मा निरपराध होता है। इस तृतीय भूमि के अभाव मे द्रव्य प्रतिक्रमणादिक भी अपराध ही हैं। अतएव तृतीय भूमि के द्वारा ही नि पराधपन होता है यह सिद्ध होता है और उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्य प्रतिक्रमणादिक हैं। इससे यह नहा मानना कि श्रुति प्रतिक्रमणादिक का त्याग करा रही है किन्तु वह द्रव्य प्रतिक्रमणादिक को छोड नही रहा है। इसमे अतिरिक्त प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणादिक के अगोचर अप्रतिक्रमणादिक रूप शुद्धात्मा की सिद्धि ही जिसका लक्षण है ऐसे अनिर्वचनीय अत्यन्त दुष्कर कार्य का भी कराती है।

भावार्थ अप्रतिक्रमण तो विषकुम्भ है किन्तु द्रव्य प्रतिक्रमण भी निश्चयनय की अपेक्षा से विषकुम्भ है क्योकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप की सिद्धि नही होती। आत्म स्वरूप की सिद्धि प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण के विकल्प से रहित तृतीय भूमिका के आधीन है। इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिये कि शास्त्र मे प्रतिक्रमण का निषेध किया गया है। शास्त्र मे यह बताया जा रहा है कि जब तक यह जीव अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण के कर्तृत्व से नही छूटता तब तक शुद्धात्मा की सिद्धि को प्राप्त नही होता। प्रतिक्रमण का स्वरूप आगे सव विशुद्धि अधिकार मे इस प्रकार कहा गया है

कम्म ज पुव्वकय सुहासुहमणेय वित्थर विसेस।
तत्तोणियत्तए अप्पय तु जोसो पडिक्कमण इत्यादि॥

अर्थात पूर्वकाल मे किये हुए जो शुभ अशुभ अनेक विस्तार विशेषरुप कर्म हैं उनसे जो चेतयिता अपने आत्मा को छुडाता है वह प्रतिक्रमण स्वरूप है। इस कथन से प्रतिक्रमण के विकल्प का छाडकर प्रमादी बन सुख से बठे लोगो का निराकरण किया गया है उनकी चपलता नष्ट की गई है उनका पर द्रव्य सम्बन्धी बाह्य आलम्बन उखाड कर दूर किया गया है और जब तक सम्पूर्ण विज्ञान घन स्वरूप आत्मा की उपलब्धि नही हो जाती तब तक चित्त को आत्मा मे ही निबद्ध किया है।

यहां निश्चयनय से प्रतिक्रमणादिक को विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमण को अमृत कुम्भ कहा है। इसलिये कोई विपरीत बुद्धि प्रतिक्रमणादि को छोड़ प्रमादी हो जावे उसे समझाने के लिये कलश कहते हैं :—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विष प्रणीत।
तत्रा प्रतिक्रमणमेव सुधा कुत स्यात्।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः ।
किं नोर्ध्वमूर्ध्व मधिरोहति निष्प्रमादः ।।१८८।।

अर्थ—जहा प्रतिक्रमण को विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है। इसलिये यह मनुष्य नीचे-नीचे पडता हुआ प्रमाद क्यों करता है ? प्रमादरहित होकर ऊपर ऊपर क्यो नही चढता है।

भावार्थ—शुद्धात्मा के अभाव में कृतदोषो का निवारण करने के लिये व्यवहार चारित्र मे प्रतिक्रमणादिक का करना आवश्यक बतलाया है। परन्तु निश्चय चारित्र म उस विकल्प को हेय ठहराया गया है। इसका अर्थ कोई विपरीत बुद्धि यह समझे कि प्रतिक्रमण तो हेय है विष के कलश के समान है अत प्रतिक्रमण नही करना ही श्रेयस्कर है तो उसे आचार्य महानुभाव ने समझाया है कि हे भाई ! प्रतिक्रमण को छोड अप्रतिक्रमण मे आना तो ऊपर स नीचे उतरना है निष्प्रमाद दशा च्युत होकर प्रमाददशा में आना है। जहा प्रतिक्रमण को विष का कलश कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत का कलश कैसे हो सकता है ? अप्रतिक्रमण तो हेय है ही उसकी चर्चा ही क्या करना। परन्तु शुद्धात्मा की सिद्धि के अभाव में केवल द्रव्य प्रतिक्रमण स भी लाभ होने वाला नही है। इसलिये उसका भी विकल्प छोड और ऊपर-ऊपर की ओर चढकर निष्प्रमाद दशा का पात्र होता हुआ उस उच्चभूमि को प्राप्त कर जहाँ द्रव्य प्रतिक्रमण का भी विकल्प छूट जाता है।

आगे प्रमादी मनुष्य शुद्धभाव का धारक नही हो सकता यह कहते हैं -

प्रमाद कलित कथ भवति शुद्धभावोऽलस ।
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यत ।।
अत स्वरसनिर्भरे नियमत स्वभावे भवन् ।
मुनि परमशुद्धता व्रजति मुच्यते चाचिरात् ।।१८९।।

अर्थ—प्रमाद से युक्त जो आलसी मनुष्य है वह शुद्धभाव का धारक कैसे हो सकता है ? क्योंकि कषाय के भार की गुरुता से जो आलस्य होता है वही प्रमाद कहलाता है। अतएव स्वरस से भरे हुए स्वभाव में स्थिर रहने वाला मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है और शीघ्र ही मुक्त होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिक्रमण विषकुम्भ है निश्चयनय के इस कथन को सुनकर प्रतिक्रमण को छोड देता है और प्रमादी बनकर सदा आलस्य मे

निमग्न रहता है। वह शुद्धभाव से युक्त नहीं हो सकता। अर्थात् उसका भाव शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि कषाय की अधिकता से जो आलस्य होता है वह प्रमाद कहलाता है और प्रमाद के रहते हुए भाव की शुद्धता होना दुष्कर कार्य है। अतः प्रतिक्रमण विषकुम्भ है निश्चयनय के इस कथन से अभिप्राय लेना चाहिये कि द्रव्य प्रतिक्रमण का विकल्प छोड आत्मीयरस से भरे हुए स्वभाव मे लीन होना कल्याणकारी है। जो मुनि इस तरह नियम पूर्वक स्वभाव मे स्थिर रहता है अर्थात् अप्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण दोनो का विकल्प छोड उच्चतम भूमिका मे स्थिर होता है वह अशुद्धता का कारण जो मोह कर्म है उसका क्षयकर परम शुद्धता को प्राप्त होता है और कम से कम अन्तमुहूर्त और अधिक से अधिक देशोन कोटीवर्ष पूर्व मे अवश्य ही मुक्त हो जाता है – भव बन्धन से छूट जाता है। अब मुक्त कौन होता है यह कहते हैं —

> त्यक्त्वाऽशुद्धि विधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
> स्वे द्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
> बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल
> च्चैतन्यामृत पूरपूर्ण महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१६०॥

अर्थ—जो मनुष्य निश्चय से अशुद्धि को करने वाले सम्पूर्ण परद्रव्य का स्वय त्यागकर स्वद्रव्य मे रति को प्राप्त होता है वह नियम से सम्पूर्ण अपराधो से छूट जाता है और बन्ध के ध्वंस को प्राप्त होकर नित्य उदय को प्राप्त स्वकीय ज्ञानज्योति मे निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृत के प्रवाह से पूर्ण है महिमा जिसकी ऐसा शुद्ध होता हुआ मुक्त होता है बन्धन से छूट जाता है।

भावार्थ—आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। परन्तु अनादिकाल से उसके साथ कर्म नोकर्मरूप पर द्रव्य का जो सम्बन्ध लगा हुआ है उसके कारण यह अशुद्ध हो रहा है। उस अशुद्ध दशा में इसकी स्वरूप की ओर दृष्टि नही जाकर सदा पर द्रव्यो मे लीन रहती है तथा अनेक प्रकार के अपराधो से यह युक्त रहता है। उस सापराध अवस्था में नये-नये कर्मों का बन्ध करता है तथा स्वकीय ज्ञान स्वभाव से च्युत हो संसार भ्रमण का पात्र होता है। परन्तु जब इसे भान होता है कि यह समस्त पर द्रव्य ही मेरी अशुद्धता के कारण है तब उनका संसर्ग छोडकर स्वकीय आत्म द्रव्य मे प्रीति करता है। आत्मद्रव्य में प्रीति होने से सब प्रकार के अपराधो से च्युत हो जाता है। रागादिक भाव ही वास्तविक अपराध हैं उनसे छूट जाने पर नये-नये कर्मों का बन्ध स्वयं

रुक जाता है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय होने पर निरन्तर उदित रहने वाली केवल ज्ञानरूप ज्योति प्रकट हो जाती है। पहले रागाग्नि का समिश्रण रहने से ज्ञान ज्योति में निर्मलता का अभाव था पर अब रागादिक के सर्वथा दूर हो जाने से केवल ज्ञानरूप ज्योति में अत्यन्त निर्मलता रहती है। इस समय निरन्तर छलकते हुए अर्थात् प्रतिसमय उल्लसित होते हुए चैतन्यरूपी अमृत से इसकी महिमा पूर्णता को प्राप्त हो जाती है और यह कर्मकलङ्क से सर्वथा रहित होने के कारण शुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है संसार के बन्धन से छूट जाता है।१८।

आगे पूर्णज्ञान की महिमा का गान करते हुए कलश कहते हैं —

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योत स्फुटित सहजावस्थमेकान्त शुद्धम्
एकाकार स्वरस भरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ।।१६१।।

अर्थ—कर्म बन्ध के छेद से जो अतुल तथा अविनाशी मोक्ष को प्राप्त हुआ है जिसका सहज स्वाभाविक अवस्था नित्य प्रकाश से प्रगट हुई है जो अत्यन्त शुद्ध है एकाकार स्वरस के भार से अत्यन्त गम्भीर है धीर है और अपनी अचल महिमा मे लीन है ऐसा पूर्णज्ञान सदा देदीप्यमान रहता है।

卐

एव ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमय ज्ञातुन लिङ्ग मोक्षकारणम् ।२३६।

अर्थ—इस तरह जब शुद्ध ज्ञान देह ही नही है तब देह रूप जो लिङ्ग है वह आत्मा के मोक्ष का कारण नही हो सकता ।२३७।

पाखडीलिगाणि व गिहलिगाणी व बहुप्परायाणि ।
घित्तु वदति मूढा लिगमिण मोक्ख मग्गो त्ति ।४०८।
ण उ होदि मोक्ख मग्गो लिग ज देहणिम्ममा अरिहा ।
लिग मुइत्तु दसणणाण चारिताणि सेयति ।४०६।

अर्थ—मुनिलिङ्ग अथवा बहुत प्रकार के गृहस्थलिङ्गो को ग्रहण कर अज्ञानीजन कहते हैं कि यह लिग मोक्ष मार्ग है पर तु लिङ्ग मोक्ष मार्ग नही है क्योकि शरीर से ममत्व रहित अरहत देव लिङ्ग का छोडकर दर्शन ज्ञान चारित्र का सेवन करते हैं ।

विशेषार्थ—कितने ही जन अज्ञान से द्रव्य लिङ्ग को ही मोक्ष मार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिङ्ग को ही ग्रहण करते हैं सो वह मानना । सगत नही है क्योकि समस्त भगवान् अरहन्त देवो ने शुद्ध ज्ञान से तन्मय होने के कारण द्रव्यलिग के आश्रय भूत शरीर से ममकार का त्याग किया है तथा शरीराश्रित द्रव्यलिग से भिन्न आत्मस्थित दर्शन-ज्ञान चारित्र की ही मोक्षमार्ग रूप से उपासना देखी जाती है ।

अनन्तर इसी को सिद्ध करते हैं:—

ण वि एस मोक्ख मग्गो पाखडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दसणणाण चारित्ताणि मोक्ख मग्ग जिणा बिंति ।४१०।

अर्थ—जो मुनि और गृहस्थ रूप लिग हैं वे मोक्ष मार्ग नहीं हैं क्योंकि जिनेन्द्र भगवान दर्शन ज्ञान और चारित्र को ही मोक्ष मार्ग कहते हैं ।

विशेषार्थ—निश्चय से द्रव्य लिंग मोक्ष मार्ग नही है क्योकि शरीराश्रित होने से वह परद्रव्य है। इसलिये दर्शन-ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है क्योकि आत्माश्रित होने से वे स्वद्रव्य है। यहां पर द्रव्य लिंग का मोह छुडाकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मे लगाने का उपदेश है सो इसका आशय यह है कि द्रव्य लिंग शरीराश्रित है उसी को कोई मोक्ष मार्ग मान ले तथा आत्माश्रित जो सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र हैं उनकी ओर लक्ष्य न दे तो उसे वस्तुरूप बतलाने के लिये आचार्य महाराज का उपदेश है कि द्रव्यलिंग के ममकार को त्यागकर आत्माश्रित गुणो का सेवन करो वही मोक्षमार्ग है। यहा देशव्रत और महाव्रत के छुडाने का उपदेश नहीं है क्योंकि बिना मुनि लिंग धारण किये मोक्ष की प्राप्ति शक्य नहीं है। हां यह अवश्य है कि यावति प्रवृत्ति है वह बंध का कारण है अत ज्ञानी जीव देशव्रत तथा महाव्रत पालते हैं और उनके पालने का यत्न भी करते हैं परन्तु उस प्रवृत्ति को बन्ध मार्ग ही समझते हैं मोक्ष मार्ग नही।४१०।

फिर भी इसी अर्थ को दृढ करने का उपदेश है —

तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाण चरित्ते अप्पाणं जुंजु मोक्ख पहे।४११।

अर्थ—इसलिये गृहस्थ प्रतिमा धारियो और गृह त्यागी मुनियो के द्वारा गृहीत लिंगो को छोडकर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग मे युक्त करो। ऐसा श्री गुरुओ का उपदेश है।

विशेषार्थ—क्योकि द्रव्य लिंग मोक्ष का मार्ग नही है इसलिये सभी द्रव्य लिंगो से व्यामोह को छोडकर दर्शन ज्ञान चारित्र मे ही आत्मा को लगाना चाहिए क्योकि यही मोक्ष मार्ग है। यह जिनागम की आज्ञा है।

अब दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है वह कलश मे दिखाते है—

दर्शन ज्ञान चारित्र त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्ष मार्गो मुमुक्षुणा।२३८।

अर्थ—दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीन रूप ही आत्मा का तत्त्व है यही मोक्ष मार्ग है। इसलिये मोक्ष के अभिलाषी पुरुष द्वारा यही एक मार्ग सदा सेवन करने योग्य है।

आगे इसी मोक्ष मार्ग मे आत्मा को लगाओ ऐसा उपदेश करते है।—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहरणिच्चं मा विहरसु अण्णदविएसु ।४१२।

अर्थ—उसी मोक्षमार्ग मे आत्मा को लगाओ उसी का ध्यान करो उसी मे नित्य विहार करो अन्य द्रव्यो मे विहार न करो ।

विशेषार्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते है कि हे भव्य ! यद्यपि यह आत्मा अनादिकाल से अपनी बुद्धि के दोष से रागद्वेष के वशीभूत होकर प्रवृत्त हो रहा है तो भी अपनी ही बुद्धि के गुण से उस आत्मा को वहा से निवृत्त कर दर्शनज्ञान चारित्र मे नित्य ही अत्यन्त निश्चल रूप से स्थापित करो तथा अन्य पदार्थ सम्बन्धी चिन्ताओ को त्याग कर अत्यन्त एकाग्र हो दर्शनज्ञान चारित्र ही ध्यान करो तथा समस्त कर्म चेतना और कर्मफल चेतना का त्याग कर शुद्धज्ञान चेतनामय दर्शनज्ञान चारित्र का ही अनुभव करो तथा द्रव्य स्वभाव के वश से प्रत्येक क्षण मे बढ़ते हुए परिणमन से तन्मय होकर दर्शन ज्ञानचारित्र मे ही विहार करो तथा एक निश्चल ज्ञान स्वरूप का ही अवलम्बन कर ज्ञेयरुप उपाधि के कारण सभी ओर से दौडकर आते हुए सभी पर द्रव्यो मे किञ्चिन्मात्र भी विहार मत करो ।४१२।

आगे यही भाव कलश में दरशाते हैं —

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्ति वृत्तात्मक–
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्य स्पृशन् ।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ।।२३९।।

अर्थ—जो यह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप एक मोक्ष मार्ग निश्चित है उसी मे जो पुरुष स्थिति को प्राप्त होता है उसी का निरन्तर चित्त मे ध्यान करता है और अन्य द्रव्यो का स्पर्श न करता हुआ उसी मे निरन्तर विहार करता है वह अवश्य ही नित्य उदित रहने वाले समयसार को आत्मा की शुद्ध परिणतिरूप मोक्ष को शीघ्र ही प्राप्त होता है ।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रय की जो एकता है वह मोक्ष का निश्चित एक ही मार्ग है । इसके अतिरिक्त अन्य मार्गों से मोक्ष की प्राप्ति अशक्य है । इसलिये जो इसी मोक्षमार्ग मे स्थित है इसी का रात दिन अपने हृदय मे ध्यान करता है तथा अन्य द्रव्यों को अपने उपयोग का विषय न बनाकर इसी रत्नत्रय को तथा उसके आधार भूत जीव

द्रव्य को ही अपने उपयोग का विषय बनाता है वह नियम से शीघ्र ही जिसका नित्य उदय रहता है ऐसे समयसार को प्राप्त होता है। व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधक हाने स मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय से रहित मात्र व्यवहार रत्नत्रय से मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है।२३६।

अब जो मात्र व्यवहार मार्ग का आश्रय करते हैं वे समयसार क दर्शन स बचित रहते है यह भाव कलश मे प्रगट करते हैं :—

ये त्वेन परिहृत्य सवृतिपथ प्रस्थापितेनात्मता।
लिङ्ग द्रव्यमये वहन्ति ममता तत्वावबोधच्युता ॥
नित्योद्योतमखण्डमेक मतुलालोक स्वभाव प्रभा।
प्राग्भार समयस्य सारममल नाद्यापि पश्यंति ते ॥२४०॥

अथ—तत्वज्ञान से च्युत हुए जो पुरुष इस निश्चय मोक्षमार्ग को छोड कर व्यवहार मोक्षमार्ग मे प्रस्थान करने वाले अपने आपके द्वारा मात्र द्रव्य लिंग म ममता को धारण करते हैं अर्थात् उसे ही मोक्षमार्ग मानते हैं वे उस निर्मल समयसार का आज भी अवलोकन नही कर रहे है जो नित्य दय उदय रूप है अखण्ड है एक है अनुपम प्रकाश से युक्त है तथा स्वभाव की प्रभा का प्राग्भार है।

भावार्थ—आत्मा की शुद्ध परिणति को समयसार कहते हैं इसी को परमात्मपद कहते हैं। यह समयसार निरन्तर उदयरूप रहता है अर्थात् एक बार प्राप्त होने पर फिर कभी भी नष्ट नही होता और जो अखण्ड है अर्थात् गुण गुणी के भेद से रहित है द्रव्य दृष्टि होने से एक है केवल ज्ञानरूप ऐस प्रकाश से सहित है जिसकी सूर्य चन्द्रमा आदि के प्रकाश से कभी तुलना नही कर सकते ज्ञानदर्शन रूप जो आत्मा का स्वभाव है उसी के पूर्ण विकास से सहित है तथा रागादिक का अभाव हो जाने से निर्मल है ऐसे समयसार के दर्शन उन पुरुषो को आज भी दुर्लभ है। जो मात्र व्यवहार मार्ग म चलकर केवल द्रव्यलिंग में ही ममता भाव रखते हैं और उसी को मोक्षमार्ग मानते हैं वास्तव मे ऐसे पुरुष तत्वज्ञान से रहित हैं इसीलिये वे इस ससार मे अनन्तबार मुनिपद धारण करके भी ससार के ही पात्र बनते हैं।२४ ।

आगे यही अर्थ गाथा मे कहते हैं —

पाखण्डीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार ॥४१३॥

अर्थ—जो मुनियो के लिंग में तथा नाना प्रकार के गृहस्थो के लिंग मे ममता करते है उन्होने समयसार को नही जाना है।

विशेषार्थ—निश्चल से जो पुरुष मैं श्रमण हू तथा श्रमणो का उपासक हू इस प्रकार द्रव्यलिंग की ममता से मिथ्या अहंकार करते हैं वे अनादिकाल से चले आये व्यवहार मे विमूढ़ हैं तथा उत्कृष्ट भेदज्ञान से युक्त निश्चय को अप्राप्त हैं। ऐसे जीव परमार्थ सत्यरूप भगवान समयसार को नही देखने हैं।

भावार्थ—जो पुरुष मुनिवेश अथवा गृहस्थो के नाना प्रकार के वेष को धारण कर यह मानते हैं कि मैं मुनि हू अथवा ऐलक क्षुल्लक आदि हू तथा मेरा यही वेष मुझे मोक्ष की प्राप्ति करा देने वाला है इस प्रकार मात्र व्यवहार मे मूढ रहकर निश्चय मोक्षमार्ग की ओर लक्ष्य नही देते आचाय कहते हैं कि ऐसे पुरुषो ने समयसार को जाना भी नही है उसकी प्राप्ति होना ता दुर्लभ ही है।४१३।

अब यही भाव कलश मे प्रगट करते हैं —

व्यवहार विमूढ दृष्टय परमार्थ कलयन्ति नो जना।
तुषबोध विमुग्धबुद्धय कलयन्तीह तुष न तण्डुलम् ॥२४१॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि व्यवहार मे ही विमूढ है ऐसे मनुष्य परमार्थ को नही प्राप्त करते हैं क्योंकि जिनकी बुद्धि तुषज्ञान मे ही विमुग्ध हो रही है ऐसे पुरुष इस ससार मे तुष को ही प्राप्त करते हैं चावल को नही।

भावाथ—यद्यपि तुष और चावल जबसे धान के पौधो मे उत्पन्न हुए तभी से साथ साथ हैं तो भी तुष पृथक वस्तु है और उसके भीतर रहने वाला चावल पृथक वस्तु है। इसी प्रकार शरीर और आत्मा अनादिकाल से साथ २ रहते यद्यपि एक दिखते हैं तो भी शरीर अलग है और आत्मा है अलग। शरीर रुप रस गन्ध और स्पर्श को लिये हुए पुद्गल द्रव्य की परिणति है और आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव को लिये हुए स्वतन्त्र जीव द्रव्य है। मुनिलिंग अथवा गृहस्थलिंग शरीर के परिणमन हैं और समयसार आत्मा की परिणति है। इस भेद विज्ञान को न समझकर जो केवल शरीर की परिणति से समयसार को प्राप्त करना चाहते हैं वे समयसार के लाभ से वञ्चित रहते हैं। जैसे कोई तुष को ही सर्वस्व समझ मात्र उसी की संभाल मे सलग्न रहे और उसके भीतर रहने वाले चावल की ओर लक्ष्य न दे तो वह तुष को ही प्राप्त करता है चावल को नही वैसे ही जो शरीर को ही सवस्व समझ उसी की सभाल मे सलग्न रहे तथा ज्ञानदर्शन स्वभाव की ओर लक्ष्य न दे तो उसे

शगीर की ही प्राप्ति होगी आत्मा की नही अर्थात् वह इसी ससार म बार बार ज म मरण का पात्र होता रहेगा।

द्रव्यलिग ममकार मीलितैद्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिग मिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वत ।२४२।

अथ—द्र यलिग के ममकार से जिनके अभ्यन्तर नेत्र मुद्रित हो गये हैं उनके द्वारा समयसार नही देखा जाता है क्योकि इस लोक मे जो द्रव्यलिग है वह निश्चय से अन्याश्रित है और यह जो एक ज्ञान है वह निश्चय से स्वत है अर्थात् स्वाश्रित है।

भाव र्थ—जा मात्र द्र यलिग से मोक्ष मानते हैं वे अन्धे हैं। जसे कोई चश्मा ही का देखने का उपकरण समझ आँख की परवाह न कर तो उसे नेत्र ग् ि त के बिना पदार्थ का अवलोकन नही होता वसे ही कोई द्रव्यलिग को ही माक्ष प्राप्ति का साधक मान निश्चय रत्नत्रय की परवाह न करे तो उसे आभ्य तर की निमलता के बिना केवल द्रव्यलिग से मोक्ष की प्राप्ति नही हाती। आगे व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयो से मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

अथ—व्यवहार मुनिलिग और गृहस्थलिग दोनो लिगो का माक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय सभी लिगो को माक्षमार्ग मे नही चाहता है।

विशेषार्थ—निश्चय मे श्रमण और श्रमणोपासक अर्थात् मुनि और श्रावक के भेद से दा प्रकार के द्रव्यलिग मोक्षमार्ग है। यह जो कथन करने का प्रकार है वह केवल व्यवहार ही है परमार्थ नही है क्योकि व्यवहारनय स्वय अशुद्ध द्रव्य के अनुभावन रूप है। अत उसमे परमार्थपन का अभाव है और श्रमण तथा श्रमणोपासक के विकल्प से रहित दर्शनज्ञान चारित्र की प्रवृत्ति मात्र शुद्धज्ञान ही एक है इस प्रकार का निस्तुष अर्थात् पर द्रव्य से रहित जो अनुभव है वह निश्चय है क्योकि निश्चयनय ही स्वय शुद्ध द्रव्य के अनुभवन रूप होने से परमार्थ है। इसलिये जो व्यवहार का ही परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे समयसार का ही अनुभव नही करते और जो परमार्थ का निश्चय का ही परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनय की अपेक्षा साक्षात् मुनिलिंग और परम्परा से गृहस्थलिंग मोक्षमार्ग है और निश्चयनय की अपेक्षा दर्शनज्ञान चारित्र की प्रवृत्तिरूप एक ज्ञान ही मोक्षमार्ग है।

आगे आचार्य एक परमार्थ के ही अनुभव करने का उपदेश देते हुए कलश कहते हैं —

> अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
> रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
> स्वरसविसर पूर्णज्ञान विस्फूर्ति मात्रा-
> न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२४३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत कथन तथा बहुत प्रकार के दुर्विकल्पों से रुको उनसे क्या प्रयोजन है। इस जगत मे निरन्तर इसी एक परमार्थ का चिन्तन किया जाय क्योंकि निज रस के समूह से परिपूर्ण ज्ञान के विकासरूप समयसार से बढकर अन्य कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—आत्मा का जो ज्ञान मोह की उपाधि से कलङ्कित होकर परपदार्थ मे निजत्व की कल्पना से दुखी हो रहा था अब उस उपाधि के अभाव से वह परमार्थरूप हो गया इससे उत्तम और क्या होगा ?

अब ज्ञानपूर्णता को प्राप्त होता है यह कलश द्वारा प्रगट करते हैं —

> इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
> विज्ञान घन मानन्दमय मध्यक्षतां नयत् ॥२४४॥

अर्थ—जो विकल्पातीत होने के कारण एक है जगत के पदार्थों को प्रगट करने के लिये नेत्र स्वरूप है अविनाशी है तथा जो विज्ञान घन और आनन्दमय आत्मा की प्रत्यक्षता को प्राप्त कर रहा है ऐसा यह ज्ञानपूर्णता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—विज्ञानघन तथा परमानन्दमय जो आत्मा है उसका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान के द्वारा ही होता है। यह ज्ञान विकल्पातीत होने से एक है तथा अविनाशी है और जगत के पदार्थों को प्रकट करने के लिये चक्षु स्वरूप है। ऐसा यह ज्ञान पूर्णता को प्राप्त होता है।

अब श्री कुन्दकुन्द स्वामी समय प्राभृत को पूर्ण करते हुए उसके फल प्रतिपादन करते हैं :—

जो समयपाहुडमिण पडिहूण अत्थतच्चदो णाउं ।
अत्थे ठाही चेयासो हो ही उत्तम सोक्ख ।।४१५।।

अर्थ—जो आत्मा इस समय प्राभृत को पढ़कर अर्थ और तत्व से अव गत कर इसके अर्थ मे स्थिर होगा वह उत्तम सुख स्वरूप होगा ।

विशेषाथ–निश्चय से जो पुरुष समयसारभूत भगवान परमात्मा का जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्वसमय कहा जाता है प्रतिपादन करने से शब्द ब्रह्म के समान आचरण करने वाले इस समय प्राभृत नामक शास्त्र को पढकर समस्त पदार्थों के प्रकाशन मे समर्थ परमार्थ भूत चतन्य प्रकाश स्वरुप परमात्मा का निश्चय करता हुआ अर्थ और तत्व से इसे जानकर इसी के अर्थ भूत एकपूण तथा विज्ञानघन परमब्रह्म मे सम्पूर्ण आरम्भ के साथ अर्थात् पूण प्रयत्न द्वारा स्थित होगा वह साक्षात तथा उसी समय विकसित एक चतन्य रस से परिपूर्ण स्वभाव मे अच्छी तरह स्थित तथा निराकुल आत्मस्वरूप होने से परमानन्द शब्द के वाच्य उत्तम तथा अनाकुलता लक्षण से युक्त सुख स्वरुप स्वय हो जावेगा ।

भावार्थ—यह समय प्राभृत नामक शास्त्र समय अर्थात् आत्मा की सारभूत अवस्था जो परमात्मपद है उसका प्रतिपादन करता है इसलिये शब्द ब्रह्म के समान है । इसका जो महानुभाव अच्छी तरह अध्ययन कर समस्त पदार्थों के प्रकाशन करने मे समर्थ परमार्थ भूत चैतन्य प्रकाशमय परमात्मा है ऐसा निश्चय करता हुआ इसी समय प्राभृत शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयभूत विज्ञानघन एक परमब्रह्म मे अर्थात् शुद्धात्म परिणति मे पूर्ण उद्यम के साथ स्थित हाता है अर्थात् उसी मे अपना उपयोग स्थिर करेगा वह स्वय निराकुल सुख स्वरूप होगा । इस तरह निराकुल सुख की प्राप्ति ही इस समय प्राभृत शास्त्र के अध्ययन का फल है । अतएव हे भव्यात्माओ ! अपने कल्याण के अर्थ इस शास्त्र का अध्ययन करो कराओ सुनो सुनाओ और मनन करो । इसी पद्धति से अविनाशी सुख के पात्र होओगे ऐसा श्री गुरू का उपदेश है ।

इतीदमात्मनस्तत्त्व ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचल स्वसंवेद्यमबाधितम् ।२४५।

अर्थ—इस प्रकार यह आत्मा का तत्व ज्ञानमात्र निश्चित हुआ । यह ज्ञान अखण्ड है एक है अचल है स्वसवेदन के याग्य है तथा अविनाशी है ।

भावार्थ—आत्मा का निजरूप ज्ञानमात्र ही कहा है । आत्मा अनन्त

धर्मों का पिण्ड है। उनमें कई धर्म तो साधारण और कितने ही असाधारण हैं। उन असाधारण धर्मों मे भी कई ऐमे हैं जो सर्व साधारण के गोचर नही हैं। चेतन सामान्य भी दर्शनज्ञान पर्यायो क बिना अनुभव मे नही आता। इन दशनज्ञान मे भी जो ज्ञान गुण हैं वह साकार है और इसी की महिमा है क्योकि यह सर्व पदार्थों की व्यवस्था योग्य रीति से करता है। इसी कारण मुख्यता से ज्ञानमात्र आत्मा को कहा है सो यही परमार्थ है। इसका यह तात्पर्य नही कि अन्य गुण मिथ्या है। यदि कोई ज्ञान को ही मान अन्य को कुछ भी नही माने जो कुछ है सो ज्ञान ही का विकार है ऐसे विज्ञान द्व तवादी अथवा ब्रह्मवादी की तरह श्रद्धा भर लेव तो वह मुनिव्रत पालन करके भी मोक्ष का पात्र नही हो सकता। मन्द कषाय से स्वर्ग चला ‘ावे तो चला जावे कुछ यथार्थ लाभ नही हुआ। इसलिये स्याद्वाद के द्वारा वस्तु तत्व को यथार्थ जानना चाहिये।२४५।

परिशिष्ट—१

(जन दशन के कुछ शीषको का सक्षिप्त स्पष्टीकरण)

(शान्ति प्रवचन से)

मगलमय मगलकरण, वीतराग—विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये, अरहतादि महान॥
तीन भुवन मे सार वीतराग विज्ञानता।
शिव स्वरुप सुखकार, नमो त्रियोग सम्हारिके॥

(१) चारित्र की महत्ता

मात्र सम्यकज्ञान का होना कम बन्धन का रोकने मे समर्थ नही है। उसके लिये राग द्वेष के अभाव रूप चारित्र का होना आवश्यक है।

(२) परिग्रह

जिनको परिग्रह पिशाच का स्वरूप ही ज्ञात नही वे इसे दूर न करें तो इसमे कोई आश्चय नही। आश्चय तो इस बात का है कि जितने विद्वान हैं वे स्वय इसके द्वारा पराभूत हैं। ससार के सब पदार्थ मिल जावें तब भी इच्छा पूरी नही होती। अत आवश्यकता इस बात की है कि कम से कम इच्छा रहे। मूर्छा के अभाव मे चक्रवर्ती की विभूति का भी भार नही और मूर्छा के सद्भाव मे एक फूटी कानी कोडी भी भार है।

(३) दान

दान से लोभ कषाय मे कमी आनी चाहिये। मनुष्य जिस वस्तु का दान करता है उसे अपनी समझता है अत इसी भाव से अह बुद्धि होती है। यही ससार भ्रमण का कारण है। अत ऐसे दान से धन का धन गया और ससार के पात्र हुए। जो लोग ख्याति के वास्ते दान देते हैं उनके तो पुण्य का भी बध नही होता लोभ कषाय कम होने की बात तो दूर रही। पहले लोभ कषाय से संग्रह किया अब मान कषाय म दान कर रहे हैं। अत दोनो बार

कषाय ही बढाई। दुखी को दान दिया इसमे क्या किया ? अपना ही दुख तो दूर किया। वस्तुत लोभ के त्याग को दान कहते हैं।

(४) सयम

सयम का प्रयोजन है कि पचेन्द्रिय व मन के विषयो से विरक्त रहना। मन के विकल्प मेटना। यदि आप मुक्ति की अभिलाषा रखते हैं तो विषयो को विष के सदृश जान त्याग करो। इन्द्रियो का दास सबसे बडा दास है। इन्द्रियो की दासता से जो मुक्त हुआ वही महान है। इन्द्रियो के द्वारा विषयो का अवबोध होता है तो होने दो परन्तु विषयो में राग बुद्धि न हो यही संयम है।

(५) आहार

बहुधा औषधि का सेवन आवश्यकता से अधिक खाने वाले करते हैं। भोजन मे लिप्सा का त्याग करना उत्तम पुरुषों का कर्तव्य है। पर के घर अतिथि बनकर भोजन करना अपरिग्रही जीवो को ही योग्य है। बिना प्रत्युपकार किये भोजन करना एक तरह का समाज पर भार है। जिस व्रत मे अन्न का सादा भोजन छोडकर बहुमूल्य एव गरिष्ट पदार्थ लिये जाते हैं। वह व्रत नही अव्रत है धम नही अधर्म है।

(६) उदासीनता

जा कुछ होता है प्रकृति के नियमानुसार होता है उसमे कर्तृत्व बुद्धि का त्याग करना ही उदासीनता है। जिन विषयो के फल से भगवान डर गये तुम नही डरते बड बलवान हो। उदासीनता ही वैराग्य की जननी और संसार की जड काटने वाली है। उदासीनता का अथ है पर से आत्मीयता छोड। उपेक्षाभाव उदासीनता का पर्यायवाची है। उदासीन वे हैं जो सब कुछ करते हुए भी लिप्त नही होते। संसार की कोई वस्तु तुम्हे लुभा न सके। काय को कृष करने से पहले कषाय को कृष करो।

(७) मौन

मौन का प्रयोजन सांसारिक चिन्ताओं से मन की वृत्ति का निरोध कर रागादि को कृष करना है। यदि कषाय नहीं घटी तो बोलने मे क्या हानि है ? केवल ऊपर से न बोलना मौन नही। यदि पर को अपना मानना छोड़ दो तो अनायास मनोव्यापार उधर नही जायेगा। केवल मु ह से न बोलना मौन नही बोलने की कषाय का अभाव होना मौन है। मौन का प्रयोजन कषाय आदि को कम करना है।

(८) सम्यक श्रद्धा

जिनको सम्यक श्रद्धा हो गई उन्हे साता असाता का उदय चचल नही करता। श्रद्धा की निर्मलता के अभाव मे कई जन्म द्रव्यलिंग धारण करने पर भी मोक्ष मार्ग का पथिक नही। सम्यक श्रद्धा निमल हाने पर व्रत धारण के बिना भी मोक्ष मार्ग का पथिक बन गया। श्रद्धा निमल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण मे न बाधक न साधक। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है। अन्तरग शुद्धि क बिना बहिरग शुद्धि हितकर नही। अत ससारी जीवो को प्रथम सम्यक श्रद्धा का होना आवश्यक है।

(९) आत्मविश्वास

आत्म शक्ति पर विश्वास ही मोक्ष महल की नीव है। आत्मा के लिये कोई भी कार्य असाध्य नहा। आत्मविश्वास एक ऐसा गुण है कि उससे नर से नारायण बनने मे काई विलम्ब नही लगता।

(१०) आत्महित

आत्महित का कारण सम्यकज्ञान है। ज्ञान को उतना ही आवश्यक समझो जितना भोजन को समझते हो। ज्ञान ही सुख का कारण है। जितना समय ससारी कार्यों मे लगाते हो यदि उसका दशाश भी आगमाभ्यास मे लगाओ तो अनायास ही भेद ज्ञान हो जायेगा। ज्ञान शून्य जीवन निरथक है। यदि सम्यकज्ञान नही तो व्रत सयम शील नियम तप पूजा आदि होने पर भी अज्ञानी जीवो को मोक्ष लाभ नही हो सकता। ज्ञान का उद्देश्य शान्ति लाभ है। आध्यात्मिक ज्ञान से ही शान्ति मिलेगी।

(११) स्वाध्याय

स्वाध्याय के समान तप नहीं। स्वाध्याय का फल ज्ञान की वृद्धि ही नही किन्तु स्वात्म तत्त्व को स्वावलम्बन देकर शान्ति माग मे आना है। ज्ञान का प्रयोजन ससार की प्रतिष्ठा नही संसार मुक्ति है। उसका प्रयाग अपने को महान व दूसरे को तुच्छ समझना नही। स्वाध्याय का प्रयाजन शान्ति लाभ है। शास्त्रज्ञान और बात है एव भेद ज्ञान और बात है। सन्त समागम से भी स्वाध्याय विशेष हितकर है। सन्त समागम मे प्रकृति विरुद्ध मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय मे इसकी भी सम्भावना नही।

(१२) सतसमागम

विचारधारा को उत्तम रखने का कारण अन्त करण की शुद्धि है।

वह शुद्धि बिना विवेक के नही हो सकती । विवेक, भेद विज्ञान के बिना नही हो सकता और भेद विज्ञान बिना सत्समागम के नही हो सकता । प्रत्येक उदासीन व्यक्ति को सत्समागम मे रहना चाहिये । सत्समागम से यह अर्थ लेना चाहिये कि जो मनुष्य ससार से विरक्त हों शेष आयु मोक्ष मार्ग मे बिताना चाहते हो उन्ही का समागम करें । विकल्पों का अभाव कषायो के अभाव मे है कषायो का अभाव तत्वज्ञान के सदभाव मे है और तत्वज्ञान का सदभाव सत्समागम से होता है ।

(१३) आत्म-स्वतन्त्रता

सुख का साधन एकाकी है । अनेको के साथ सम्बन्ध होना यही संकट है । जिसके अनेक सम्बन्ध होगे उसका उपयोग निरन्तर झझटो में उलझा रहेगा । पचास्तिकाय मे आचार्य कुन्द कुन्द ने तो यहा तक कह दिया कि हे आत्मन ! यदि तू ससार बन्धन से छूटना चाहता है तो जिनेन्द्र की भक्ति का भी त्याग कर दे । शान्ति का मार्ग तो केवल कषाय निग्रह है । शान्ति जब आवे तब कषाय का कुछ भी उपद्रव न हो । जिसे पर की निन्दा मे हर्ष होता है उसे आत्म निन्दा मे स्वमेव विषाद होता है । अपना उपयोग बाहर भ्रमाया तो फसे । मोह राजा की यह अटवी है इसके रक्षक रागद्वेष हैं इनसे यह निरन्तर रक्षित रहती है । जीवो का इससे निकलना अति कठिन है । कितनी मूर्खता है पर के द्वारा आत्मकल्याण चाहते हैं । देवी देवताओ को भी लालच घूस देना चाहते हैं । पास कस्तूरी के अर्थ कस्तूरी मृग की तरह स्थानान्तर मे भ्रमण कर आत्म शुद्धि की चेष्टा निरर्थक है ।

(१४) परोपदेश

हम अपने को नही सम्भालते पर को उपदेश देते हैं । रक्षा वही कर सकता है जो स्वय रक्षित है । जगत को सुलझाने की चेष्टा है उसे त्यागो और अपने को सुलझाने का प्रयत्न करो । यदि वक्ता चाहता है कि उसके वचनो का प्रभाव पडे तो उसे स्वयं भी उपदेश अनुसार आचरण चाहिये । वर्तमान युग मे पर का कल्याण करने की भावना प्राय, सबमे रहती है परन्तु अपना कल्याण हो इसका ध्यान नही रहता ।

(१५) परोपकार

प्राणियों का कल्याण हो यह भाव तो ठीक है परन्तु यह भाव कि हमसे दूसरे का परोपकार होता है मिथ्या है । कोई किसी का अपकार या उपकार नही कर सकता । आत्मीय परिणाम ही उपकार और अनुपकार करते

वाले हैं। अनन्तानन्त तीर्थंकर हो गये हैं वे भी ससार का उद्धार नही कर पाये तब हम शक्तिहीन अल्पज्ञ क्या कर सकते हैं ? संसार मे दृष्टि स्वात्मोपकार पर रहनी चाहिये उससे अन्य जीवो का उपकार हो जावे यह अन्य बात है। जगत के उपकार की चेष्टा करना प्राय व्यर्थ हैं। आत्मोपकार की भावना मे प्राय ससार का उपकार हो जाया करता है। जगत के उपकार से आत्मा का उपकार नही हो सकता। परोपकार की अपेक्षा स्वोपकार करने वाला व्यक्ति जगत का अधिक उपकार कर सकता है ऐसा निश्चय से जानो। परोपकार से बडकर पुण्य नही ऐसा व्यवहार से कहा जाता है और इसका यही अर्थ है कि निजत्व की रक्षा करो।

(१६) मोह की महिमा

संसार के कारण भी हम स्वय हैं और मोक्ष के भी। मोह को नष्ट करना संसार बन्धन से मुक्त होना है। जिस तरफ दृष्टि डालोगे उपद्रव ही उपद्रव दृष्टि मे आते हैं क्योंकि दृष्टि मे मोह है। निश्चय कर मैं एक हू शुद्ध हू ज्ञान दर्शनात्मक हू इस ससार में परमाणुमात्र भी मेरा नही। परन्तु मोह तेरी महिमा अचिन्तीय है अपार है। मोह की दुर्बलता भेद विज्ञान एव रागादि त्यागने से होगी। श्रम तो बहुत किया परन्तु उसका प्रयोजन रागादि निवृत्ति है उस पर दृष्टि नही दी। आनन्द तो तब होगा जब मोहादि शत्रु दूर होगे। इनके सद्भाव मे आनन्द कैसे ? ससार का मूल कारण मोह है। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयता को छोडो परन्तु आत्म-सदृश लोक व्यवहार करो। उन पुरुषो का समागम करो जिनका राग मोह कम हो गया है।

(१७) कषाय निग्रह

जिस त्याग मे कषाय है वह शान्ति मार्ग नही। शान्ति न आने का कारण कषाय का सदभाव है और शान्ति आने का कारण कषाय का अभाव है। मोक्ष का लाभ उसी को होता है जो कषाय से परे है। कषाय की निवृत्ति ही धम है। श्रेयोमार्ग तो आन्तरिक कलुषता के अभाव मे है। कषाय दूर करने के लिये जन संसर्ग, विषयो की प्रचुरता विशेषकर जीभ की लोलुपता का त्याग अधिक से अधिक आवश्यक है।

(१८) मीठा विष-लोकेषणा

सबसे बड़ा दोष सबको खुश करने की इच्छा है ताकि हमें सब अच्छी दृष्टि से देखें। इस लोकेषणा मे ही हमे पतित कर रक्खा है। सबको प्रसन्न करने की चेष्टा अग्नि मे कमल उत्पन्न करने के समान है। लोकेषणा से मुक्ता

लघुता मे परिणत हो जाती है जो जितना प्रशंसा मे आनन्द मानता है वह उतना ही अधिक निन्दा मे दुखी होगा। वस्तुत प्रशंसा व निन्दा दोनो ही विकृत रूप हैं। हमारा व्रत तप ज्ञान दान सभी का प्रयोजन केवल लोकेषणा रहता है। यही अशान्ति का कारण है। लोक प्रतिष्ठा पतन का कारण है। जिन्हे इससे हर्ष होता है वे तत्त्वज्ञान से परागमुख हैं। मनुष्य मे सबसे बडा अवगुण अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा है प्रतिष्ठा के लिये धर्म आचरण अधोगति का कारण है। जो लोकेषणा के लोभ से दान देते है उनको तो पुण्य का भी बन्ध नही होता। पहले लोभ कषाय से ग्रहण किया था अब मान कषाय से त्याग रहे हैं। कषाय से पिंड न छूटा।

(१९) निन्दा प्रशसा

पर की प्रशसा या निन्दा स स्वरूप-पराङमुखता न हो इस ओर निरन्तर सतक रहो। जहा पर की निन्दा व अपनी प्रशसा होती हो वहाँ बहरे बन जाओ। अपनी गलतियो को छिपाने के अभिप्राय से ही मनुष्य आत्म प्रशसा और पर निन्दा कर दुर्गति का पात्र होता है। जहा प्रशसा हुई वहा प्रसन्नता जहा निन्दा हुई वहा अप्रसन्नता फिर शान्त रस की तो वहा गन्ध भी नही। उन्नत होने के लिये आत्म प्रशसा की आवश्यकता नही आवश्यकता सदगुणो के विकास की है।

(२०) समालोचना

दूसरो की आलोचना करना सरल है अपनी कठिन। अपनी त्रुटि देखना विवेकी मनुष्यो का कर्त्तव्य है। पर की आलोचना से आत्महित दुर्लभ है। सब जीव अपने अपने प्रयोजन को देखते हैं अत किसी को अपराधी मानना मूर्खता है। हम कहते हैं कि ससार स्वार्थी है तब क्या इसका अर्थ यह है कि हम स्वार्थी नही। अपने आपकी समालोचना ससार बन्धन से मुक्ति का प्रधान कारण है। जो अपनी समालोचना मे नही घबराते वही विजयी होते हैं।

(२१) कर्त्तव्य पथ-कहनी नहीं, करनी

कल्याण की प्राप्ति मे ज्ञान ही कारण है यह बात समझ मे नहीं आती। ज्ञान से पदार्थों का जानना होता है। केवल जानना कल्याण मे सहायक होता नहीं। अतः उत्तम यह है कि ज्ञान के द्वारा जानकर जो परिणाम बन्ध के कारण हो रहे हैं उन्हे त्यागना चाहिये इससे कल्याण होगा। पदार्थों मे जो इष्ट-अनिष्ट की कल्पना होती है उसे न होने देने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है। तात्विक विचार की यही महिमा है कि यथार्थ मार्ग पर चलें।

शास्त्र प्रवचन और बात है अन्तरंग की श्रद्धा और बात है। श्रद्धा के अनुकूल प्रवृत्ति हरएक को नही होती। ऊपर के बगुला भगत हस नही हो सकते। बडा कलक यही है कि जो कहते हो उसे करत नही। कहने की प्रवृत्ति छाडो करने की प्रवृत्ति अपनाओ। शास्त्र उपदेश उसी का हितकर होता है जो स्वय उस पथ पर चलता है।

(२२) निवृत्ति माग

शास्त्रीय भाषाओ के आधार पर त्याग से काम न चलेगा। जब तक आत्मगत विचार से त्याग नही होता तब तक त्याग त्यागनही कहला सकता। वाह्य वस्तु का त्याग कठिन नही आभ्यन्तर कषायो की निवृत्ति ही कठिन है। राग छोडो वस्तु को छोडने की आवश्यकता नही। वस्तु तो राग के अभाव मे स्वय छूट जायेगी। वह तो पहले से छुटी हुई है ही। द्रव्यलिग ग्रहण मत करा आत्मा को नग्न करो। हम लोग मोही हैं। एक घर छोडकर ससार को अपना घर बनाने की चेष्टा करते हैं।

(२३) व्रत धारण

व्रत उत्तम वस्तु है। विवेकहीन व्रत संसार का कारण है। विवेक का अथ चरणानुयोग की पद्धति के ज्ञान से है। बाह्य व्रत का प्रयोजन अन्तरग चारित्र के अथ है। मन्द कषाय व्रत का फल नही वह तो मिथ्यात्व गुण स्थान मे भी हो जाता है। व्रत का फल ता वास्तव मे सम्यक चारित्र है। जो नियम करो पूर्वापर परामश करके करो। यदि कोई विवेकी बुद्धिमान उसे अनावश्यक बतावे ता उस त्याग दो। व्रत का धारण करना सरल है उसका निर्वाह करना बहुत कठिन है। शुद्ध परिणामो से किया गया व्रत ही व्रत है। अन्यथा वह तो कष्ट है। मूर्छा त्याग ही व्रत है।

(२४) दम्भ निषेध

निष्कपट होकर जो काम करता है वही मोक्ष का पात्र होता है। अन्तरंग में यदि इच्छा की प्रचुरता है और ऊपर स लोक प्रतिष्ठा के लिये त्यागी बनते हैं तो वह त्याग नही दम्भ है। दूसरो को धोखा व आत्मवचना है। उससे आत्मोत्थान की आशा ही व्यर्थ है। धर्म से नाम पर जगत ठगाया जाता है। प्रत्यक्ष ठग से धर्म-ठग भयकर होता है। ठग तो एक बार ही ठगता है धर्म ठग जन्म-जन्म भर ठगता रहता है। धर्म रत्नत्रय रूप है उसमें वंचना के लिये स्थान नही। आत्मा को धोखा मत दो। तुम अपनी प्रवृत्ति आत्मा के

अनुरूप करो। संसार की प्रसन्नता या अप्रसन्नता से न तो लाभ है और न अलाभ।

(२५) धर्म दिग्दर्शन

कल्याण मार्ग मोही जीवो ने इतना गहन बना दिया है कि सामान्य आदमी उसे सुनकर उसे धारण करने मे असमर्थ हो जाता है। बाह्य मे इतने आचरण उसके साथ लगा दिये हैं कि उन्ही के करने मे सारा समय चला जाता है अत सम्यक आचरण के लिये समय ही नही बच पाता। उचित तो यह है कि पर-पदार्थों से जो आत्माय सम्बन्ध है उसे त्यागा जाय उसमे मूर्छा न रहे। जब तक यह नही होगा सभी क्रियाये नि सार हैं।

(२६) समता

संसार में सभी पदार्थों को समान देखो इसका यह अर्थ नही कि घोडा गधा स्वर्ण लोहा आदि सभी को समान समझो। इसका अर्थ है कि किसी पदार्थ मे रागद्वेष न करो। कल्याण का मार्ग अति सुलभ है। न तो किसी से प्रीति करो और न शत्रुता। जब यह निश्चय हो गया कि न तो मेरा कोई शत्रु है और न मित्र है तब उन पदार्थों से किस लिये सम्बन्ध रखना। इसी प्रकार ससार के और जितन पदार्थों म इष्ट अनिष्ट बुद्धि करते हो वह सब दुखदाई हैं उसी मे समता भाव लाना है। निश्चय से संसार मे न कुछ इष्ट है न अनिष्ट। समय समय पर एक ही वस्तु कभी इष्ट मान ली जाती है कभी अनिष्ट। मोक्ष क पथिक को न राग करना न द्वेष करना मध्यस्थ रहना है। जिसका इष्ट वियाग और अनिष्ट संयाग मे धीरता रहती है वही सयम का पात्र है। असाता उदय मे क्लेश मत करो साता उदय मे हर्ष मत करो। शान्त भाव से कम के उदय का देखा जानो कवल ज्ञाता द्रष्टा रहो।

(२७) पूज्य कौन ?

मनुष्य जन्म पाना अति दुर्लभ है। इसका सदुपयोग यही है कि प्रति समय धार्मिक भावो से ओत प्रोत रहो। निज को जानकर पर का त्याग करो। इसी से संसार छुटेगा। इसका मूल कारण संयम है। इसका तात्पर्य यही है कि सब ओर से अपने को हटाकर अपने आत्म भाव मे लीन रहो। जो मोह राग द्वेष को निर्मूल करता है वही महापुरुष है। जिसके जितना राग द्वेष कम है वह उतना ही अधिक पूज्य है। पूज्यता अपूज्यता स्वाभाविक पर्याय नहीं निमित्त पाकर आविर्भूत होती है। जहां मोह है, वही अपूज्यता है, जहा भाव निर्मल है वही पूज्यता है।

(२८) शत्रु कौन ?

ससार एक विशाल काराग्रह है। इसका संरक्षक मोह है। राग द्वेष इसके दो मन्त्री हैं। क्रोध मान माया लोभ कषायें इसके पहरे दार हैं जो जोव का स्वतन्त्र नही होने देते। अत ये ही जीव के सबसे बड शत्र हैं। इन्ही चारो शत्रुओ को जीतो तभी कल्याण होगा। मोह (मिथ्यात्व) और चारो कषाओ को ही उपशम करना सम्यकदशन है। इन्ही के कारण आहार भय मथुन और परिग्रह मे जीव का सारा अमूल्य समय निकल जाता है और हाथ कुछ नहीं लगता।

(२६) सम्यकदशन

सम्यकदर्शन का अथ आत्मलब्धि है। आत्म स्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाना ही आत्मलब्धि है। सम्यकदशन का विकास होते ही दृष्टि पूव से पश्चिम का हो जाती है। आत्मा मे प्रशम सवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रगट हो जाते हैं। यदि आप मे यह गुण प्रगट है तो समझ लो आपको सम्यकदर्शन है दूसरा कोई क्या बतलायेगा कि सम्यकदृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि ? सम्यक के आठ अंगो पर विचार करो।

(३०) जीव तत्त्व

सब तत्वो मे जीव तत्व मुख्य है उसी का सब खेल है। इसे ही आत्मा कहते है। मैं सुखी हू दुखी हू इत्यादि प्रत्यय से जीव के अस्तित्व का साक्षात्कार होता है। जीव अनादि है अकारण है अचल है। इसका चेतना लक्षण इसे अन्य अजीवादि तत्वा से अलग करता है। दर्शन ज्ञान इसके गुण हैं। चेतना लक्षण एक रूप है। फिर भी सामान्य विशेष रूप से दशन व ज्ञानरूप हो जाती है। दर्शन ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भाव आत्मा के नही है। गुण तो अनन्त है परन्तु मुख्यता से दर्शन ज्ञान ही कहा है।
जीव तत्त्व क्रियावान है।

(३१) अजीव तत्त्व

जीव (चेतन तत्त्व) के अलावा और जो कुछ भी संसार में देखने या अनुभव मे आता है वह सब अजीव तत्त्व है। पुदगल धर्म अधर्म आकाश और काल इसके ५ भेद हैं। पुदगल द्रव्य मूर्तिक है बाकी चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। पुदगल द्रव्य क्रियावान है बाकी चार द्रव्य अक्रियावान हैं।

(३२) आस्रव तत्त्व

जीव से बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक ऐसे बहुत से कार्य होते हैं जिनसे कर्म का आस्रव जारी रहता है। जो कर्म जिस भाव से आता है उस भाव के विरुद्ध भाव यदि आत्मा में उत्पन्न किया जाय तो उस कर्म का आस्रव रुक सकता है अन्यथा नहीं। जिस आस्रव का प्रयोजन संसार है वह साम्परायिक आस्रव कहलाता है और जिसमे स्थिति व अनुराग बन्ध नहीं होता उसे ईर्ष्या पथ आस्रव कहते हैं। साम्परायिक आस्रव शुभ व अशुभ दो प्रकार का होता है। शुभ पुण्य रूप है और अशुभ पाप रूप। योग आस्रव का कारण है।

(३३) बंध तत्त्व

आत्मा की सकषाय अवस्था ही बंध का कारण है। मिथ्या दर्शन अविरत प्रमाद और कषाय सहित योग ये बंध के कारण हैं। विषय ग्रहण से रागादि भाव होते हैं और उससे कर्म का बंध होता है। बंध का अंतरंग कारण मोह राग द्वेष है और बहिरंग कारण पंचेन्द्रिय के विषय है। विषय भोग इन्द्रियो द्वारा होते हैं उनमे जो इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है वही कषाय है और बंध का कारण है। बंध का हेतु मोह व अज्ञान है।

(३४) संवर तत्त्व

कर्मों के आस्रव का रुक जाना संवर तत्त्व है। यह त्रिगुप्ति पांच समिति दस धर्म बारह अनुप्रेक्षा और बाइस परिषह जय द्वारा होता है। संवर मे मन वचन काय की प्रवृत्ति रुक जाती है। यदि योगो पर नियंत्रण हो गया तो आस्रव रुक जाता है।

(३५) निर्जरा तत्त्व

कर्मों की निर्जरा सविपाक अविपाक दो प्रकार होती हैं। उदय में आये कर्म फल देते हैं वह सविपाक निर्जरा है जो हर समय होती रहती है। छः आभ्यन्तर व छः बाह्य तप द्वारा जो निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है। कर्म उदय के समय उपेक्षाभाव रहने से अकाम निर्जरा होती है।

(३६) मोक्ष तत्त्व

बंध के कारणो का अभाव रूप संवर और पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होने से जो दशा होती है उसे ही मोक्ष कहा है। निश्चय दृष्टि से कर्म की आत्मा से भिन्न है अत मोक्ष और कर्म का व्यवहार ही नहीं बनता। परन्तु व्यवहार दृष्टि से जीव और कर्म रूप पुद्गल-द्रव्य का एक क्षेत्रावगाह हो रहा

है। जब दोनो का एक क्षेत्रावगाह मिट जाता है तब उसे मोक्ष व्यवस्था कहते हैं। मोहनीय कर्म के अभाव मे ही मोक्ष होता है बाकी कम तो मोहनीय कम के पिछलग्गू हैं। कर्मों का आत्मा से अलग हो जाने पर यह आत्मा एक समय मे सिद्धालय मे पहुँचकर कुछ न्यून शरीर के आकार सहित बिराजमान हो जाता है जहा अनन्तकाल तक रहेगा। यही जनागम मे मोक्ष की व्यवस्था है।

(३७) सम्यक पुरुषार्थ

आत्मा अपने ही अपराध से ससारी बना हुआ है और अपने ही प्रय न से मुक्त हो सकता है। मोही रागी द्व षी होने से ससारी बना रहेगा इनसे मुक्त होने से ससार स मुक्त हो जायेगा। साधु का चक्षु आगम है ससार के प्राणियो का चक्षु इन्द्रिया है देवो का चक्ष अवधिज्ञान है और अरहत सिद्ध परमेष्ठी का चक्ष सवदर्शी केवल ज्ञान है। आगमाभ्यास ही जीवादि तत्त्वो को जानने मे मुख्य कारण है। जिन्हे आत्म कल्याण की लालसा है वे आप्त कथित आगम का स्वाध्याय करें। स्वाध्याय का अथ आगम को पढकर स्व को पढना है अपने को पहचानना है। यदि ग्यारह अग और नौ पूर्व पढ़कर भी स्व को न पढा न अनुभवा तो उस भारभूत ज्ञान से कोई लाभ नही। आगमाभ्यास भी उतना ही सुखद है जितना कि आत्मा धारण कर सके। बुद्धि मे निज का अंश छूटकर पर मे न मिल जाय और पर का अश निज मे न रह जाय यही पुरुषार्थ है।

(३८) शुभोपयोग शुद्धोपयोग

सम्यक दृष्टि का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग ही रहता है। अशुभोपयोग की निवृत्ति के लिये पूजा दानादि म प्रवतन करता है। जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नही तब तक शुभोपयोग रूप ही प्रवर्तता है। यदि आज ही शुभोपयोग की प्राप्ति हो जाय तो आज स ही शुद्धोपयोग का योग दे। अशुभ योग तो स्पष्ट हेय है ही शुभोपयोग भी मोक्ष की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि शुभोपयोग न करे। शुभोपयोग को त्यागने से शुद्धोपयोग नही होता परन्तु शुभोपयोग मे जो शुद्धोपयोग की कल्पना कर रखी है उसके त्याग मे (राग द्व ष की निवृत्ति) मे शुद्धोपयोग होता है और वही मोक्ष का कारण है। कहने का तात्पय यह है कि सम्यक दृष्टि का लक्ष्य शुद्धोपयोग ही है। वह अभी शुद्धोपयोग पर चढने मे असमर्थ ह इसलिये शुभोपयोग मे प्रवृतता है। परन्तु अतरग में जानता ह कि वह भी मोक्ष मार्ग में बाधक है।

(३६) आत्म स्वभाव धर्म (दस लक्षण धर्म)

(अ) क्षमाभाव आत्मा का स्वभाव है क्रोध पर निमित्त से विभाव रूप है।

(ब) मार्दव भाव विनय भाव आत्मा का स्वभाव है। मानभाव विभाव है। विद्या विनय को देती है विनय से पात्रता आती है पात्रता से धन धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है। विनय हीन जीव धर्म का अधिकारी नहीं।

(स) आर्जव भाव मन वचन काय की एकता आत्म स्वभाव है। माया विभाव है। माया के अभाव मे ही आजवभाव होता है।

(द) शौच आत्मा का स्वभाव है। आत्मा निमल है। लोभ कषाय के अभाव मे ही शौचभाव होता है। आशारूपी गर्त प्रत्येक प्राणी के सामने खुदा है जिसमे समस्त ससार का वभव परमाणु समान समा जाता है। जितना विषया से भरागे उतना ही गहरा होता जायेगा। लोभ ही सब पापो की जड है।

महाभारत मे कहा है हे अर्जु न संयम ही जिसका पवित्रघाट है सत्य का जिसमे पानी भरा है शील ही जिसके तट है और जिसमे दया रूपी भवर उठ रही हैं ऐसी आत्मा रूपी नदी मे हे अर्जु न अभिषेक करो। पानी मात्र से आत्मा शुद्ध नही होती।

घर गृहस्थी बाल-बच्चे छोडकर जगल मे जाते हैं पर वहा शिष्य सग्रह धर्म प्रचार आदि का लोभ सामने आ जाता है लाभ नष्ट कहां हुआ ? वह तो वेष बदलकर आपके सामने आ गया है। परिग्रह से सुख नही हो सकता। परिग्रह की आकाक्षा का न होना ही सुख का कारण है। जहा परिग्रह है वहा शौच धर्म कहा ?

(य) सत्य धम —सत्य आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानता वा कषाय के कारण ही असत्य कहा जाता है। आत्मा का स्वभाव मे स्थिर होना ही सत्य है बाकी सब असत्य है।

सच देखा जाय तो असत्य नाम कुछ है ही नही। जिसे आप सत्य कहते हैं, वह वस्तु भी तो आत्मीय स्वरूप से सत्य है। जो पदार्थ आत्मा को विभाव रूप करे वही असत्य है। शरीर असत्य नही है किन्तु जिस रूप से वह है उससे अन्य रूप मानना असत्य है।

(र) सयम धर्म—पांच इन्द्रियो तथा मन के विषयो से और षट-

कायिक जीवो की हिंसा से विरक्त होना संयम है। आत्मा में निश्चय से हिंसा भाव है ही नही। यह सब तो विभाव रूप है। इन्द्रिय दमन का अर्थ इन्द्रियों द्वारा विषय जानने का अभाव नहीं उनमे आशक्तता नही होनी चाहिए।

(ल) तप —इच्छा विरोध ही तप है। निश्चय से आत्मा का स्वभाव इच्छावान है ही नहीं। इच्छा होना विभाव है। बाह्य व आभ्यान्तर तप दो प्रकार हैं। अनशन आदि छ बाह्य तप व प्रायश्चित आदि छ आभ्यन्तर तप हैं। अन्तरग तपो म स्वाध्याय सर्व प्रधान तप है। उसी से आत्मा अनात्मा का बोध और अनुभव हाता है। इसलिये प्रमाद छाडकर स्वाध्याय मे प्रवृत्ति करना चाहिय।

(व) त्याग का अर्थ छाडना है। जो वस्तु आपकी नही उनमे अपनत्व बुद्धि का न होना अपना न मानना ही त्याग है। जब किसी वस्तु का ग्रहण होता है तभी तो त्याग होगा। हमने अज्ञानता से जिन्हे अपनी मान रखा है वास्तव में वे अपनी हैं तो नहीं उन्हे सम्यक ज्ञान के द्वारा अपनीन मानने अपने का कभी भाव न आना त्याग धर्म है। वस्तु का त्याग त्याग नही। उनमे आभ्यन्तर मूर्छा का त्याग ही त्याग है। त्याग वह भाव है जहा त्यक्त वस्तु का विकल्प ही न हो तथा त्यक्त वस्तु क अभाव मे अन्य वस्तु की इच्छा न हो। शान्ति के बाधक जो रागादि दोष हैं उन्हे ता त्यागा नही और राग के निमित्त जो वस्तुय हैं उन्हे त्यागा वह त्याग नही। इसी प्रकार दान करने मे जब तक (आहार औषधि ज्ञान एव अभय) लोभ कषाय म निवृत्ति नही होती मान कषाय रहती है तब तक वह दान भी बेकार है बल्कि वह तो और पाप का बध करता है।

(श) आकिंचन — त्याग त्याग करते करते अन्त में आपके पास क्या बचेगा कुछ नहीं। जिसके पास कुछ नही बचा वह आकिंचन कहलाता है। जहा केवल शुद्ध अवस्था हा जाय मिलावट कुछ न रह जाय वही आकिंचन अवस्था है। आत्मा निश्चय से आकिंचन ही है।

(स) ब्रह्मचर्य — परिग्रह त्याग रूप आकिंचन के पश्चात ही ब्रह्मचर्य कहा गया ह। परिग्रह के कारण ही उपयोग मे चचलता आती थी। आकिंचन अवस्था के बाद तो स्व मे अपनी आत्मा मे ही आचरण रहेगा, परिग्रह न होने के कारण उपयोग जायगा ही कहा? यही अवस्था ब्रह्मचर्य धर्म है।

यदि किसी की लडकी विधवा हो जाती है तो लोग यह कहकर उसे रुलाते हैं कि हाय तेरी जिन्दगी कैसे कटेगी। पर यह नही कहते कि बेटी

तू अनन्त पाप से बच गई तेरा जीवन बन्धन मुक्त हो गया। अब तू आत्म हित स्वतन्त्रता से कर सकेगी।

(४०) धर्म

धर्म आत्मा की निर्मल परिणति का नाम है। काम क्रोध मद लोभ आदि कषाय उस निर्मलता को मलिन किये हैं। आत्मा की मलिनता मे कमी का होना ही धर्म है। ज्ञान थोडा हो कोई हानि नही परन्तु मोह मिश्रित न हो तो वह ही लाभ कर जायेगा। परिग्रह सबसे बडा पाप है। अत गृहस्थ इसका परिमाण करता जाय। पहले सग्रह करे फिर दान दे तो ऐसा ही है जसे पहले कीचड लगावे फिर स्नान करे।

(४१) सईस और रईस

सईस घोडे की देखभाल करता है उसकी मलाई दलाई और सेवा करता है परन्तु उसका मालिक होकर नही रहता है। रईस घोड का कुछ नही करता पर मालिक रहता है उस पर लगाम लगाकर उस पर सवारी करता है। इसी प्रकार जो ज्ञानी होते है वे इन्द्रिया क स्वयं वश मे न होकर उनसे आत्महित का काम जसे ध्यान अध्ययन स्वाध्याय दर्शन पूजन तीर्थ यात्रा परोपकार आदि का काम लेते है क्योकि वे मन व इन्द्रियो पर सयम रूपी लगाम लगाये रहते हैं। अज्ञानी पुरुष इन्द्रियो की सेवा मे लगे रहते हैं और इन्द्रिया सयम के बिना जीव को दुर्गति के गड्ढ मे डाल देती हैं। अत अपनी इच्छओ पर नियन्त्रण करके इन्द्रियो का अपने वश मे रखना चाहिये और उनसे परमार्थ का काम लेना चाहिये। सईस नही रईस बनो।

(४२) मनुष्य भव दुर्लभ

अनादि काल से निगोद मे था किसी कारण बडे सौभाग्य से वहां से निकलकर एक इन्द्रिय हुआ विकलत्रय हुआ जो महा दुर्लभ था विकलत्रय से पचेन्द्री असज्ञी हुआ जो बहुत दुर्लभ था किसी प्रकार पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच हुआ जो महा दुर्लभ था। फिर बडे पुण्य से मनुष्य भव मिला मनुष्य में भी अच्छी जाति कुल वैभव ज्ञान का क्षयोपशम और सत्संग व धर्म के साधन मिले। रुचि भी मिली। इतना सब अति दुर्लभ अवसर पाकर उसे यों ही बिताकर मर जाना कितनी बडी मूर्खता है। अतः इस अमूल्य मनुष्य भव का एक-एक क्षण व वैभव के एक-एक पैसे का धर्म मे प्रयोग करना ही श्रेयस्कर है। नही तो वही होगा जैसे मणि को कौवा उडाने के वास्ते पानी मे फेंक दिया। फिर तो नरकादि गतियों मे सदा ही रोना है।

(४३) ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध

जसे दपण के सामने जसा पदाथ आता है वसी दर्पण मे झलक आ जाती है पदार्थ का कोई भी अश दर्पण म नही आता। दर्पण अलग है और पदाथ अलग। इसी प्रकार आत्मा के गुण ज्ञान मे जो पदार्थ उपयोग मे होता है ज्ञय हो जाता है उसका कोई भी अश ज्ञान मे नही मिलता। ज्ञान अलग व ससार पदाथ अलग। ज्ञानी ज्ञान की व ज्ञय की भिन्नता जानता है और वसा ही अनुभवता है। अज्ञानी ही उसको एकमेव मानकर उन्हे अपना मान लेता है और मोह से कर्म का बध करता है ज्ञानी उस ज्ञान से अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है। उसी मे उपयोग लगाता है ज्ञेय पदार्थ में नही।

(४४) वतमान की क्रिया का फल

जीव की वर्तमान बुद्धिमानी से धनादि वभव नही मिलता। अज्ञानी सोचता है कि उसकी चतुराई के कारण धनादि आ रहा है। धन प्राप्ति का भाव ही पाप है उससे धन प्राप्त कमे हो सकता है। धन तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है। ऐसा देखा जाता है कि जानवरो को वध करने वाले कुछ लोग काफी धन कमाते हैं। जानवरा को काटने जसा पाप कर्म करने स धन कसे प्राप्त हा सकता है ? इस पाप पूण कार्य से तो नरकगति ही मिलेगी। वर्तमान मे जो धन मिल रहा है वह पूव के पापानुबन्धी पुण्य का फल है। हिंसा झूठ चोरी आदि पाप कार्यों से कभी भी धन की या सत्ता की प्राप्ति नही हा सकती। ऐसे ही कभी पुण्य रूप कम करते हुए भी जीव दुखी दिखाई देता है। यह उसके पूर्व पाप के उदय का फल है। इसलिये जिसे आत्महित करना है उसे धनादि पर सयोगो की रुचि छोडकर असंयोगी आत्मस्वभाव पर ही दृष्टि करनी चाहिये। यही आत्महित का उपाय है।

(४५) ज्ञान की खेती

एक बार गौतम बुद्ध भिक्षार्थ किसी सम्पन्न किसान के यहां गये। उस किसान ने बुद्ध से कहा आप भीख म मागकर मेरे समान किसान बन जाइये खेत मे बीज बाइये उससे धनधान्य की प्राप्ति होगी और भीख मागने की जरूरत न होगी। बुद्धदेव ने कहा भाई मैं भी किसान ही हू। मेरा खेत मेरा हृदय है। उसमे मैं सत्कर्म रूपी बीज बोता हू विवेकीरूप हल चलाता हू विकार वासना एवम् कषाय रूपी घास की निराई करता हू तथा प्रेम और आनन्द की भरपूर फसल काटता हू।

तुलसी काया खेत है जीव भयो किसान।
पाप-पुण्य दोऊ बीज हैं बुव सो लूवै निदान ।।

(४६) सम्यक चारित्र की महिमा

यदि अल्प भी ज्ञान वीतरागता सम्पन्न हो तो वह विपुल कर्मराशि को विनिष्ट करने मे समथ है। धीर (सब उपसर्ग-सहन समर्थ) तथा ज्ञान को धारण कर कर्मों का क्षय करता है। वैराग्यभाव शून्य व्यक्ति सब शास्त्रो को पढ़कर भी मोक्ष नहीं पाता। जो चारित्रपूर्ण व्यक्ति हैं वह अल्पज्ञान युक्त होत हुए भी दशपूर्व के पाठी को पराजित करता है। जो चारित्रहीन है उसके बहु श्रत होने स क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। पच नमस्कार मन्त्र मात्र के ज्ञान तथा स्मरण से सयुक्त व्यक्ति यदि चरित्र सम्पन्न है तो वह दशपूर्व धारी महान ज्ञानी से आगे जाता है।

(४७) व्रत मे दोष-मिथ्यादशन

जनागम मे व्रत न लेने को अपराध नही माना हैं किन्तु व्रत लेकर उसमे दोष लगाना या उसे भग करना अपराध है। कितने ही त्यागी तीर्थयात्रा क बहाने ग्रहस्थो से पसे की याचना करते हैं यह मार्ग अच्छा नही है। यदि याचना ही करनी थी तो त्याग का आडम्बर क्यों किया। त्यागी किसी सस्थावाद मे नही पडता। यह तो गृहस्थी का काम है। यदि त्यागी को भी उत्तर या दक्षिण की धुन है या शुद्र त्याग के पीछे पडा है या स्त्री प्रक्षाल का हिमायती हा रहा है या जनऊ पहनाने या कटि मे धागा बधवाने को यग्र है या ग्रन्थ मालाआ के सचालक बने हुए हैं या ग्रन्थ छपवाने की चिन्ता मे हैं या साथ मे मोटर व सामान चलता है या चन्दा करके चौका लगाता है वहा सम्यक चारित्र कहा ? वहा तो सम्यक दर्शन भी नहीं। व्रत मे दोष लगा तो सम्यक दर्शन कहा ? जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया उस ओर दृष्टि रहे तो सम्यक दर्शन है। धर्म किसी विशेष जाति का नहीं। धर्म तो अधम के अभाव मे होता है।

(४८) सम्यक दशन

शुद्ध अन्त तत्व के विलास का जन्म भूमि स्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न जो परम श्रद्धान वह ही सम्यक दर्शन है। सच्चे देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा भी व्यवहार श्रद्धा है। जैसे सम्यकज्ञान मे मात्र निज परमात्मा का अवलम्बन है वसे ही सम्यक दर्शन मे भी अकेले आत्मा का ही अवलम्बन है। सम्यकदर्शन शुद्ध जीवास्तिकाय के ही आश्रय से उत्पन्न होता है। जिन्हे चतु गति की अभिलाषा नही है, स्वर्ग मे इन्द्रपद की सुख की अभिलाषा नही परमात्म सुख की ही अभिलाषा है उसे सम्यकदर्शन होता है अपनी आत्मा को ही परमात्मा कहा है। ऐसे निज भगवान परमात्मा के

आश्रय मे होने वाली परम प्रतीत ही सम्यकदर्शन है। ऐसे सम्यकदर्शन होने के बाद ही मुनिदशा होती है और चारित्र होता है।

(४६) सम्यक ज्ञान

पर द्रव्य का अवलम्बन लिये बिना नि शेषपने अन्तमु ख योग शक्ति मे से उपादय (उपयोग को सम्पूणतया अन्तमु ख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निजपरम तत्त्व का परिज्ञान् वह ज्ञान है। शरीर मन वाणी अथवा देव गुरु शास्त्र इत्यादि किसी भी परद्रव्य का अवलम्बन लिये बिना अन्तमु ख जो निज परमात्म तत्व का ज्ञान है वही सम्यकज्ञान है। पर सन्मुख भाव टालकर नि शेष रूप से चैतन्य भगवान आत्मा मे ही अन्तमु ख होकर उपादेय रूप जो अपना परमआत्मतत्व उसका जानना वह सम्यकज्ञान है। उपादेय रूप निजपरमात्म तत्व का परिज्ञान ही सम्यकज्ञान है।

(५०) सम्यक चारित्र

निश्चय ज्ञान दर्शनात्मक कारण परमात्मा मे अविचल स्थिति (निश्चल रूप से लीन रहना) ही सम्यक चारित्र है। त्रिकाल चैतन्य ज्ञायक ज्योति वह कारण परमात्मा है। जैसा ध्रुव आत्मा त्रिकाल है वसा ही उसका दर्शन ज्ञान भी ध्रुव त्रिकाल है। ऐसे निज कारण परमात्मा मे श्रद्धा एव ज्ञानपूर्वक अविचल स्थिति ही चारित्र है। शरीर की क्रिया अथवा पच महाव्रत के विकल्प से चारित्र नही है। उसी मे कोई धर्म माने तो उसको सम्यकदर्शन भी नही है। सम्यकदर्शन ज्ञानपूर्वक निज कारण परमात्मा मे निरन्तर लीनता होने का नाम चारित्र है। चारित्र अन्तर की लीनता में है। ऐसी अन्तर लीनता बिना पच महाव्रत का पालन करे और उसे चारित्र माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र तो मोक्ष मार्ग भी नही उसका का ण है। सम्यक दर्शन सहित भी जो पच महाव्रतादि व्यवहार चारित्र हैं वह भी सच्चा मोक्ष मार्ग नही है। अन्तर मे लीनता रूप निश्चय चारित्र ही मोक्ष मार्ग है।

(५१) ज्ञान की ज्ञान में स्थिरता

ज्ञान की ज्ञान में स्थिरता दो प्रकार से है —(१) एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर ज्ञान मे ठहरना। (२) दूसरा राग का सर्वथा अभाव होकर ज्ञान का ज्ञान मे ठहरना। यह दोनों प्रकार की स्थिरतायें जब तक पूर्ण न हों तब तक ज्ञान की भावना निरन्तर धारा प्रवाह रूप से भाना योग्य है। आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं वे इसी भेद विज्ञान के प्रताप से ही सिद्ध हुए हैं।

जितने जीव बंधे हैं वे सभी इसी भेद विज्ञान के अभाव में बंधे हैं। कर्म के उदय से जीव नही बंधे। शुभभाव से भी 'मैं भिन्न हूं यह बात सुनने को मिलना दुर्लभ है। महाव्रतादि के शुभ भाव से भी मैं भिन्न हू ऐसे भेद ज्ञान से मुक्ति मिलती है।

(५२) रत्न-त्रय

आत्मा का निश्चय यह सम्यक दर्शन है आत्मा का अनुभव यह सम्यक ज्ञान ह आत्मा मे लीन होना निश्चल होना यह सम्यक चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय साक्षात मोक्ष का कारण है।

(५३) मिथ्या दृष्टि सम्यक दृष्टि

प्रबल कीचड मिलने से जिसका एक सहज निर्मल भाव ढक गया ह ऐसा जल का अनुभव करने वाले बहुत से लाग जल और कीचड की भिन्नता का विवेक न हाने के कारण जल का मलिन ही मानते हैं। बहुत से लोग यह जानते ही नही कि जल की मलिनता जल स भिन्न ह और वह अलग भी हो सकती ह। इस कारण वे मलिन जल का ही उपयोग करते रहते हैं और रोगी होते रहत है। जो विवेकी और ज्ञानी हैं जल और मल को भिन्न भिन्न जानते हैं और मल को अलग करने की क्रिया भी जानते है वे मैला जल नही पीते उसे निमल करके पीते हैं। उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि जीव आत्मा के सहज परमात्म ज्ञायक भाव को कर्मरूपी मल से अलग नही देख पाता। कषाय राग द्व ष भाव आदि से आत्मा का निर्मल सहज ज्ञायक भाव जो ढक गया ह उसकी उसे पता नही और न उसे यह मालूम कि यह मैली संसारी आत्मा उस कम मल से अलग भी हो सकती हैं। इसलिये वह इसका उपाय ही नही करता। सम्यक दृष्टि जीव आत्मा के निर्मल स्वभाव रूप कारण पर मात्मा को कर्म मल से अलग देख रहा है। वह त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का आश्रय लेकर कम मल को दूर करके उसी का अनुभव करता ह।

(५४) स्याद्वाद रूप जिन वाणी

जिनवाणी स्याद्वाद रूप है। प्रयोजनवश, वस्तु को मुख्य गौण करके कहती है। अत जिस अपेक्षा से कहा गया हो उसी अपेक्षा से समझना चाहिये। नित्य को सत्यार्थ और अनित्य को असत्यार्थ कहा या निश्चय को सत्यार्थ व्यवहार को असत्यार्थ कहा यह कथन स्याद्वाद शैली से किया है। जिनवाणी स्याद्वादरूप होने जन्म मरण का अन्त करने वाले सम्यक दर्शन के प्रयोजनवश

शुद्धनय को मुख्य कहकर निश्चय कहकर सत्यार्थ कहती " तथा व्यवहारनय को गौण कहके असत्यार्थ कहती है।

(५५) अशुभ, शुभ एव शुद्धभाव विचार

अशुभभाव छेदने के लिये शुभभाव करना उपादेय ह। प्रथम भूमिका मे भी साधारणतया सज्जनता का आचरण ब्रह्मचय की प्रीति अनीति का त्याग एव सत्य का आदर आदि तो हाता ही ह परन्तु वह अपूव नही। ऐसी चित्त शुद्धी तो अनन्तबार करके उसी मे सवस्व मानकर जीव अटक गया ह। तो भी शुभ का निषेध नही ह। क्योकि जो तीव्र क्रोध मान माया लोभ मे खडा ह उसे बिलकुल अविकारी सचिन्दान द भगवान आत्मा की बात कसे रुचेगी। अत अविरोधी तत्त्व समझने की प्रत्यय पात्रता के लिए शुभ भाव के आँगन मे आना चाहिये परन्तु शुभ म ही अटककर शुभ से निरपेक्ष निर्मल अविकारी स्वभाव की श्रद्धा न करे तो चित्तशुद्धि के शुभ व्यवहार का फल तो ससार ही ह। इसीलिये जैन दर्शन मे शद्धभाव का ही वर्णन मुख्य रूप से किया जाता ह। जन दर्शन मोक्ष की अपेक्षा से शभ व अशुभ दोनो को हेय ही मानता ह। दोनो ही गुलामी की जंजीर हैं एक लोहे की दूसरी साने की। दोनो ही भाव परत न्त्र बनाते हैं स्वत न्त्र नही। इस प्रकार जन दर्शन के अलावा कही भी विस्तारपूर्वक शुद्धनय का उपदेश नही है। जन दशन मे व्यवहार नय का भी बहुधा उपदेश है क्योकि व्यवहार जनो को व्यवहार के उपदेश बिना परमाथ कैसे समझायें ? जो जिस भाषा को जानता है उसे उसी भाषा म ता समझाया जायेगा। पर तु फिर भी व्यवहार को सत्यार्थ जानकर उसके अवलम्बन का फल तो ससार ही है। शुभभाव से निकलकर शुद्धभाव मे स्थिर होना ही मोक्ष मार्ग है।

(५६) अभेद स्वभाव का अनुभव ही उपादेय

जसे शक्कर शब्द सुनने या किसी को शक्कर खाते हुए देखने से उसका स्वाद नही अनुभव मे आ सकता चाहे काई कितना ही समझाये। शक्कर के सही स्वाद का पता तो शक्कर को स्वय खाक चखने से ही आता है। उसी प्रकार भगवान आत्मा की बात सुनने या उसका अनुभव करने वाले ज्ञानियो को देखने से या उनके बताने से आत्म स्वभाव का निराकुल आनन्द नही आ सकता अत सत्समागम से स्वय निर्णय करक नित्य असयागी पूण स्वरूप का ज्ञ न मे दृढ क रक अ दर मे स्वआश्रय करके शुद्धनय स अभेद स्वभाव का अनुभव करके ही विकल्प रहित एकाकार शुद्धात्म स्वरूप के आन द का स्वाद अनुभव मे आता है। इस बात का विशेष रूप से श्रवण मनन करना चाहिये।

(५७) जिन शासन द्रव्यश्रुत भावश्रुत आत्म अनुभव

कर्म बन्धन तथा पर के सम्बन्ध से रहित जो एक रूप आत्म स्वभाव उसे जान लेने से जैन शासन को जाना कहा जाता है। पर के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध वाले आत्मा को जाने तो उसमे सच्चा जिन शासन नही आता। जिन शासन का सार है कि आत्मा का पर के सम्बन्ध से रहित भाव श्रुत ज्ञान से अनुभव करो। ऐसे आत्मा का जो अनुभव वही जन शासन है। भावश्रुत को अन्तरोन्मुख करके अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव वही दिव्य ध्वनि का सार है। जिन शासन मे सर्वज्ञदेव कथित जो द्रव्यश्रुत है उसके द्वारा शुद्ध आत्मा का भावश्रुत ज्ञान से अनुभव करना ही सर्वद्रव्यश्रुत का सार है। अत जिसने शुद्ध आत्मा का अनुभव किया उसने जिन शासन का सर्व द्रव्यश्रुत जान लिया और जिसने भावश्रुत से अपने शुद्ध आत्मा को नही जाना उसने जिन शासन का द्रव्यश्रुत भी वास्तव मे नही जाना। अनन्तबार शास्त्र पढे महाव्रत धारण करके द्रव्यलिंगी भी अनन्तबार हुआ किन्तु श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मा को नही जाना इसलिये उसका हित नही हुआ।

आत्मा का सम्यग्ज्ञान ऐसा अन्धा नही है कि स्वय को अपनी खबर न पडे। सम्यग्ज्ञान होते ही नि शक रुप से अपने को उसकी खबर पडती है। जिसे अपने ज्ञान मे सन्देह है कि हमे सम्यकदर्शन है या नही वह भले ही बाह्य मे त्यागी हो तथापि वह सम्यकदृष्टि नही है। सम्यकदर्शन का उपाय तो यह है कि परके सम्बन्ध रहित अपने एक रूप शुद्ध आत्मा को भावश्रुत ज्ञान द्वारा स्वानुभव मे लेना चाहिये। अकेले गुरु के शब्दो से भी ऐसा स्वानुभव नही होता किन्तु अपने भावश्रुत ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने से ही आत्मा का स्वानुभव होता है और ऐसा स्वानुभव करना ही जिन शासन है।

जिन शासन वीतरागता का उपदेश देता है और वीतरागता स्वानुभव से होती है। अर्थात ज्ञान का स्व की ओर झुकाव होने से वीतरागता होती है वही जैन शासन है। अन्तर्मुख भावश्रुत से अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है ऐसा अनुभव करने वाली श्रुतज्ञान पर्याय आत्मा के साथ अभेद हो चुकी है इसलिये उसी को अन्तर आत्मा कहा है और उसी को जिन शासन कहा है। प्रथम ऐसी यथार्थ समझ का प्रयत्न करना चाहिये।

(५८) सम्यक दृष्टि की दशा

सम्यक्ती धर्मात्मा संसार से उदास है। अन्तर की चैतन्य ऋद्धि का

उसे भान है और प्रतिक्षण पर्याय मे ज्ञान आनन्द की ऋद्धि वृद्धि होती जाती है। जगत से उसे सुख की आशा नही है इसलिये जगत से उदास हैं और भगवान का दास हैं। उसे भान है कि हमारा सुख हमारे स्वभाव मे है विभाव मे नही। उसने ससार का स्वरूप देख लिया है। उसे जगत के किसी पदार्थ मे सुखभासित नही होता। उसे इन्द्र पद चक्रवती पद या पद्मिनी स्त्री मे कही भी सुख नहीं है। एक चैतन्य पद मे ही सुख है। वह जानता है कि जीव स्वय सिद्ध अनादि अनन्त है। वह है और है। उसका स्वभाव ज्ञान और सुख है किन्तु अनादिकाल से अपने स्वभाव को भूलकर व चोरासी मे परिभ्रमण करके दुखी हो रहा है। वह जानता है कि जसा सिद्ध परमात्मा है वसा ही परमार्थत वह भी है। जो विकल्प और राग है वह तो पानी मे काई की तरह हैं। वे विकल्प और राग उसके आत्मा के शान्त स्वभाव भूत नही है किन्तु मलिन उपाधिभाव हैं। जिसे तृष्णा लगी हो और शान्त करना चाहता है तो काई को हटाकर शुद्ध जल पी सकता है। ऐसे ही आत्मा के शान्त सुख अभिलाषी आत्मा का अनुभव करके वह आत्मार्थी जीव आत्मा के विकारी मलिन भावो को हटाकर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावरूप से आत्मा का अनुभव करता है। ऐसा मत सोच कि आत्मा की बात कस समझ मे आयेगी। तू छोटा नही है। तुझमें सिद्ध भगवान जसी महान प्रभुता भरी हुई है उसे प्रगट कर यही मोक्ष मार्ग है। यदि तूने उस प्रभुता की कारण समयसार की प्रतीति नही की तो तेरा शास्त्राभ्यास या मुनिव्रत पालन कार्यकारी नही। इसलिये आत्मा के ज्ञानानन्द स्वाभाव को लक्ष्य म ल उसी स भव भ्रमण का अन्त आयेगा।

(५९) निमित्त उपादान

निमित्त कर्त्ता नही होते। निमित्त मे कर्तव्य कदाचित भी नही हो सकता। निमित्त उपादान म कुछ भी नवीनता नही ला सकते। जो भी नवीनता उपादान मे आती है वह केवल मात्र अपने ही कारण से आती है। यह सर्वथा अबाधित और अकाटय नियम है इसम कोई फेर फार नही हो सकता। यह युक्ति और आगम दानो से प्रमाणित है। हां काय होगा तो निमित्त होगा ही। कार्य के बाद ही तो निमित्त का पता चलता है। जब कार्य ही नही हुआ तो निमित्त भी किसे कहा जाय। उपादान ठीक है तो निमित्त मिलेगा ही। जैसा उपादान जसा निमित्त वैसा कार्य।

(६०) अहिंसा

प्राणी मात्र की रक्षा करना व्यवहार अहिंसा है। अपनी आत्मा मे अपने आत्मिक गुणो का पूर्ण रीति से सरक्षण का नाम ही निश्चय से सच्ची

आध्यात्मिक अहिंसा है। अहिंसा वस्तुत आत्मा क समस्त गुणो की निर्विकारता को सूचित करता है परमात्मा के स्वरूप का कहता है। प्राणी मात्र मे स्वय कोई भी आत्मा जो अपने गुणो का हर तरह स निर्विकार कर लेता है वही अहिंसा स्वरूप हो जाता है और वह अहिंसा स्वरूप स्वमेव परमात्मा है। इस प्रकार पूर्ण रूप स अहिंसा का पालन परमात्म स्वरूप सिद्ध भगवान ही करते हैं। निर्दोष प म वीतराग मुद्रा ही अहिंसा है।

जिस स्थिति मे जरा सा भी आरम्भ है वहा निश्चय से पूर्ण अहिंसा हो ही नही सकती। वहां व्यवहार से अहिंसा कही जाती है। व्यवहार अहिंसा भी द्रव्य अहिंसा एव भाव अहिंसा दो रूप हो जाती है। परिपूर्ण व्यवहार अहिंसा के पालक नग्न दिगम्बर साधु सन्त महन्त ही हाते हैं। वे ही षटकाय जीवो की रक्षा करने मे समर्थ हैं एव उनक रागद्वेष भी नही हैं अत भाव अहिंसा के भी पालन करते हैं। इस प्रकार व्यवहार अहिंसा के एक देश अहिंसा और सर्व देश अहिंसा से दो विभाग हो जाते हैं। एक देश अहिंसा के पालक गृहस्थ श्रावक सम्यक दृष्टि जीव हैं। वे अपने चारित्र मोहनीय के क्षय पशय के अनुकूल त्रस जीवो की हिंसा के त्यागी होते हैं। उनके आरम्भी उद्यागी एव विराधी हिंसा होती ही है। व नियम से सकल्पी हिंसा के त्यागी हात हैं। सर्व देश अहिंसा के पालक महाव्रती मुनि साधु होते हैं।

(६१) शाति का कारण

शाति का कारण अपने स्वभाव एव परभाव को जानना है। अपनी करतूत से जा क्रोध मान माया लोभ आदि कषाय परिणाम हाते हैं वे ही अशाति के कारण हैं। इन कषायो म उपयोग न देना ही शान्ति का कारण है। जितना २ राग द्वेष कम होगा उतना ही जीवन मे शान्ति आती जायेगी। सब जीवो क प्रति प्रमभाव होना शान्ति का कारण है। जितना ही परिग्रह कम होगा उतनी ही शान्ति होगी। जितनी लोकेषणा और अहकार कम होगा उतनी ही शान्ति होगी। जितनी दूसरे की निन्दा का भाव कम होगा उतनी ही शान्ति होगी। ससार के पर द्रव्यो से उपयोग हटाकर स्वात्म मे रुचि एव अनुभव से शान्ति होगी।

(६२) द्रव्य लिंग मोक्ष का कारण नहीं

आत्मा शुद्ध ज्ञानमय है। शुद्ध ज्ञान के शरीर नही आकृति नहीं वेष नही। इसलिये द्रव्यलिग मोक्ष का कारण नही। बाह्य वेष जुदा है कला कौशल जुदा है, वचन चातुरी जुदा है अष्टमहा ऋद्धियां जुदा हैं। वेष मे ज्ञान नहीं, महन्तपने मे ज्ञान नहीं मन्त्र तन्त्र यन्त्र मे ज्ञान नही शास्त्र मे ज्ञान नही, कविता कौशल में ज्ञान नही व्याख्यान में ज्ञान नहीं क्योकि ज्ञान

का मूल कारण आत्मा है। जो वेष बनाकर लोगों को ठगता है। वह धम ठग कहलाता है।

(६३) देव-मूढता

पदार्थ की प्राप्त करने की इच्छा से इच्छावान होता हुआ जो राग द्वेष मल से मल देवताओ की पूजा करता है वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि कहलाता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि ही ऐसा मानत हैं कि अमुक देव की भक्ति करने से वह प्रसन्न हाकर हमे अमुक २ वस्तु देगा। यह पराधीन दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। लेना देना किसी भी देव के अधीन नही है। वह तो अपने अपने पुण्य के आधीन है। कोई भी देव न किसी के पुण्य को बढा सकता है न कम कर सकता है। जो देव स्वय रागद्वेष कषायो से विकारी हो रहे हैं वे क्या मदद कर सकते हैं। भवनवासी व्यन्तरवासी और ज्योतिष देवो मे जन्म लेने वाले जीव तो मिथ्या दृष्टि ही हाते हैं। यदि कोई वहा जन्म लेने के पश्चात सम्यकदृष्टि हो भी जाय तो वह साता असाता के उदय मे कुछ हेर फेर नही कर सकता। पुराणा मे इसके दृष्टात भरे पडे हैं। सम्यकदृष्टि देव भी चौथे गुण स्थान स आगे बढ़ ही नही सकता। तब व्रतीश्रावक ऐसे देवो को कसे पूज सकता है। व्रती श्रावक की श्रणी तो सम्यकदृष्टि देवो से भी अधिक ऊँची है।

(६४) गुरु मूढ़ता

जो वस्तुत गुरु नही हैं गुरुता के लक्षण आचार विचार व्यवहार आदि से सर्वथा विपरीत है उस गुरु मानना गुरु जैसे भक्ति करना सेवा करना स्तुति करना उपासना करना आदि सब संसार समुद्र मे ही डबाने वाली क्रियायें हैं। जो स्वयं उन्मार्ग पर चल रहा है वह दूसरो को कैसे सन्मार्ग पर लगा सकता है। अत आगम मे बताये अनुसार ही गुरु की परीक्षा करके गुरु मानना उचित है। गुरु अपरिग्रही ही होता है। जहा लेशमात्र भी अन्तरग या बहिरग परिग्रह है वहा गुरुपना नही। किताबें छपाना संस्था चलाना मन्दिर बनवाना वाहन आदि रखना आहार आदि के लिये चन्दा करना पखे चटाई आदि का प्रयोग करना मर्जी का आहार बनवाने के लिये एक दो आदमी साथ रखना गुरुता नही।

(६५) धम मूढ़ता

जीव की अपनी स्व आत्मा मे ही परिणति का होना निश्चय से धर्म है। दान पूजादि यह सब तो व्यवहार है शुभभाव है निश्चय धर्म नहीं। हाँ इसके द्वारा निश्चय धर्म की स्थिति मे पहुँचा जाता है। इसी प्रकार बाहर

की जितनी क्रियायें अहिंसा पूर्वक है वहाँ व्यवहार धर्म है। जहा हिंसा है वहा व्यवहार धर्म भी नही। इसी प्रकार पेड पौधा जो पूजना कब्र को पूजना साई आदि को पूजना या रागी द्वेषी महन्तो या देवो को पूजना व्यवहार धर्म भी नहीं। यह सब तो धर्म मूढता है। केवल व्रतादि व पूजादि मे धर्म मानना धर्म मूढता है।

(६६) उत्तम ध्यानी की दशा

हे भगवन्! ऐसे दिन कब आयेंगे जब मैं गगा नदी के किनारे पर हिमालय की शिला पर पद्मासन से बैठकर ब्रह्मध्यान मे लीन होकर योग मुद्रा को धारण करूगा जिसमे वहा पर विचरण करने वाले हिरन आदि निशक होकर मेरे शरीर से खुजलाकर अपनी खुजली दूर करेगे। (इसमे ध्यान की परम निश्चलता की भावना व्यक्त की गई है जो किसी भी उत्तम ध्यानी के अतिशयरूप मे वाछनीय है।

(६७) सविकल्प-अविकल्प शुद्धोपयोगी

जो भव्यात्मा शुद्धात्मा के अनुभव मे दक्ष है समर्थ अथवा चतुर है श्रुतज्ञान मे निपुण है भावदर्शी है वस्तु स्वरूप का ज्ञाता है चरित्रादि पर आरूढ है सम्पूर्ण सक्लेशभाव से मुक्त है ऐसा वह मुनीन्द्र दिगम्बर मुद्रा का धारक निर्ग्रथ साधु नियम से साक्षात पूर्ण शुद्धोपयोगी पुण्य पाप परिणति से रहित शुद्ध उपयोग वाला है। यही महान कर्मों का नाश करता हुआ परम सुख को प्राप्त होता है। नय भेद से यह शुद्धोपयोगी आत्मा दो प्रकार का है – (१) सविकल्पक (२) अविकल्पक। सातवें गुण स्थानवर्ती आत्मा सविकल्पक शुद्धोपयोगी है आठवें गुणस्थान से लेकर चौदव गुण स्थान तक के आत्मा अविकल्पक शुद्धोपयोगी है।

(६८) पचमकाल मे भी मोक्ष की सम्भावना

भरत क्षेत्र के इस पचम काल मे भी रत्नत्रय मे शुद्ध निर्मल आत्मायें धर्मध्यान के द्वारा इन्द्रपद का अथवा लौकान्तिक देव पद को पाकर और वहा से च्युत होकर विदेह क्षेत्र मे मनुष्य भव को प्राप्त कर उसी भव से मोक्ष जा सकता है। इस प्रकार इस भरत क्षेत्र से भी अबसे मोक्ष जा सकता है। धर्म ध्यान इस पचम काल मे भी सम्भव है। इस विवेचन से उन लोगो की यह शका दूर हो जानी चाहिये जो यह कहते हैं कि इस पंचम काल मे इस क्षेत्र से जब मोक्ष का मिलना ही कठिन है तब महाव्रती होने से क्या लाभ ?

(६९) स्व-पर चिन्ता

चिता किसकी करते हो जब कोई पर वस्तु अपनी है ही नही। जो अपनी है वह अपनी ही रहेगी उसकी चिता क्यो। जो पर की चिता मे रत रहत है वे ससार भ्रमण करते ही रहेगे। इस काल मे सत का पथिक वही है जो चिता स अपने को बचा सके। चिता चाहे अपनी हो या पर की भयानक ही है। चिता चिता से भी बढकर है। जिनका चित्त चिता से मलिन है वह धम-ध्यान कर ही नही सकता वहा आत्म-कल्याण तो नाम लेने को भी नही। जहा सप्तभय है वही चिता है। जहा सप्तभय हैं वहा सम्यक दर्शन नही।

(७०) शास्त्र प्रवचन मात्र अनरञ्जना

मनुष्यो का अनुरंजन मात्र तात्विक मार्ग नही। तात्विक मार्ग तो वह है जिससे आत्मा को शाति मिले। जब आप स्वय निज स्वरूप से च्युत हैं धर्म के अनूकूल प्रवचन कसे होगा। वचनो की कुशलता से जगत का मुग्ध करना वञ्चना है। जा चाहता है कि उसके उपदेशो का प्रभाव लोगो पर पड तब उसे वह काम पहले स्वय करना चाहिये। अन्य को उपदेश देकर सुधारने की अपेक्षा स्वय को सुधारना कल्याणकारी है। प्रवचन का लाभ यह है कि अपने को निर्मल बनाया जाये। उपयोग की निर्मलता कषाय के अभाव मे है। स्वयं पालन किये बिना दूसरे को उपदेश देना ऐसा ही है जसा वेश्या के द्वारा ब्रह्मचर्य का उपदेश देना। ज्ञान से मोक्ष पथ का ज्ञान हो जाने पर भी उसकी प्राप्ति चारित्र स ही होती है। यदि आगमज्ञान सयम भाव से शून्य है तो उसस कोई लाभ नही। सम्बोधना अपने को ही है पर को नही।

(७१) मुनि को सम्बोधन

कई निर्दय निर्लज्ज साधुपन मे भी अतिशय निन्दा करने योग्य कार्य करते हैं। जैसे काई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं तैसे ही कोई मुनि होकर उस मुनि दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धन की याचना कर धन इकट्ठा करते हैं। वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं जो चन्दा मांगते हैं अथवा आहार के लिये याचना करते हैं। परमात्मा की कथनी को विस्तार रूप से कहने वाले तो जगत में अनेक विद्वान होते हैं परन्तु परमात्मा स्वरूप मे लीन होने वाले बिरले ही होते हैं। जगत्पूज्य मुनिदीक्षा को ग्रहण करके विद्वानो को अपना हित विचार कर अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिये। जो साधु प्रमाद के दोष करि पंचेन्द्रियन के विषय

में अपसरण करे हैं प्रवर्तन करे हैं उस साधु रूप वणिक के चारित्र रूप धन को इन्द्रिय रूप चोर लूटते हैं।

(७२) ससार के तीन रूप

जो मानव मूढ़चित है, शास्त्राभ्यासादि से रहित अज्ञानी है उनका ससार स्त्री–पुत्र–धनादि हैं। जो शास्त्रो के अभ्यासी विद्वान हैं पर अध्यात्म से रहित हैं अपनी आत्मा को जिन्होने शुद्ध स्वरूप मे नही पहचाना वे शास्त्रो का शास्त्रीपन करते–२ ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और अपनाहित कुछ भी नही करने पाते अपने ध्यान कृषियोग्यरूपी बीज को व्यर्थ गवाते हैं उनका संसार शास्त्र है। जो सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्र सहित सयमी अपरिग्रही महाव्रती हैं चारित्र पालन मे पूर्णत उद्यमी हैं आत्म अनुभव मे लीन रहते हैं वे ही पुरुष धन्य हैं। उनका ससार आत्मा है।

(७३) अविवेकी मुनि से विवेकी ग्रहस्थ श्रेष्ठ

मोह (मिथ्यादर्शन) रहित ग्रहस्थ मोक्ष मार्गी है। मोह सहित (मिथ्या दर्शन-युक्त) मुनि मोक्ष मार्गी नही हैं। इसीलिये मोही मिथ्यादृष्टि मुनि से निर्मोही सम्यकदृष्टि ग्रहस्थ श्रष्ठ है। मुनि मात्र का दर्जा ग्रहस्थ से ऊँचा नही है। मुनियो मे मोही और निर्मोही दो प्रकार के मुनि होते हैं। मोही मुनि से निर्मोही श्रावक का दर्जा ऊँचा है वह उससे श्रेष्ठ है। अविवेकी मुनि से विवेकी ग्रहस्थ भी श्रेष्ठ है इसलिये उसका दर्जा अविवेकी मुनि स ऊचा है। अविवेकी मुनि मिथ्यादृष्टि है विवेकी ग्रहस्थ सम्यकदृष्टि है। अत वह ग्रहस्थ मुनि से ऊँचा है। चारित्रहीन मुनि की बहुलता है ऐसा जानकर उनका आश्रय मत करो और सदगुणी मुनि कोई २ है ऐसा समझकर उसे मत छोड़ो। लक्षावधि चारित्रहीन मुनियो की अपेक्षा एक सुशील मुनि श्रष्ठ है। सुशील मुनि के आश्रय से ही शील दर्शन ज्ञान और चारित्र बढ़ते हैं।

(७४) देशाटन के लाभ

देशाटन से अनेक मनुष्यो के साथ धर्म चर्चा का अवसर मिलता है। एक स्थान पर रहने से प्राणियो से जो मोह होता है वह नहीं होता। अनेक देशों के वन उपवन नदी नाले आदि देखने का सुअवसर मिलता है। शरीर के अवयवो मे संचलन होने से क्षुधा आदि की शक्ति क्षीण नही हो पाती। अन्न का परिपाक ठीक होता रहता है। दुर्गुणो से आत्मा सुरक्षित रहती है। अनेक तीर्थ क्षेत्रादि के दर्शना का अवसर मिलता है। किसी दिन अनुकूल स्थानादि या वातावरण न मिलने से परिषह आदि सहन करने की शक्ति आती है।

कभी दुर्जन मनुष्यो के समागम मे क्रोधादि कषाय के कारणो के सदभाव मे क्षमा का भी परिचय हो जाता है। अहकार व मान कम होता है। दूसरों को दुखी देखकर सन्तोष होता है। इस प्रकार पदयात्रा से देशाटन के अनेक लाभ हैं।

(७५) सामयिक चिन्तवन

मैं निरजन निर्विकार हूं। अरिहन्त सिद्ध भगवान का रूप मेरे अन्दर है। कर्मों का परदा पडा हुआ है। कर्मों का परदा हटते ही सिद्ध स्वरूप प्रगट हो जायेगा।

इस ससार मे मेरा कोई शत्रु नही है। मेरा सब जीवो से समताभाव है। मेरा जीव निगोद से आया है। उर्ध्वगमन का इसका स्वभाव है। द्रव्य दृष्टि से निश्चय से सिद्धो के समान हू। पर्याय दृष्टि से ससारी हू। पुरुषार्थ करके कर्मों का क्षय कर सिद्ध स्वरूप को प्रगट हो जाऊँगा।

मैं ज्ञायक परमानन्द स्वरूप हू। अकिंचन मेरा धर्म है। ससार मे मेरा अणुमात्र भी परिग्रह नही है। पुद्गल कर्म के उदय से आहार विहार या दाना पानी भी आत्मा का परिग्रह है। औदायिक विकारी भाव कर्मों के उदय से होते हैं उनका मैं स्वामी नही हू। मैं उन्हे आदर नही देता हू। यह सब अबुद्धिपूर्वक हो रहा है। ज्ञानावरणी आदि पुद्गल कर्मों के उदय से कर्म चेतना कर्म फल चेतना उदय मे आते हैं। कहने को अष्ट कर्म प्रकृति, असख्यात कर्म प्रकृति क्षण-क्षण उदय म आती है। न मैं उनका स्वामी हू न उन्हे भोगता हू। वे तो मेरे क्षयोपशम ज्ञान मे झलकते हैं जैसे पर पदार्थ दपण मे झलकते हैं परन्तु उनका कोई अंश उसमे नहीं आता। इसी प्रकार मेरा स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। मैं तो केवल ज्ञान चेतना का कर्ता हू ज्ञान चेतना का भोगता हू।

ससार सागर मे अनादिकाल से चारो गतियो मे चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता चला आ रहा हू। जहाँ-जहा जाता हू, दर-दर की ठोकर खाता घर घर का भिखारी बनता जहा जहां जाता हू वहा पर रागद्वेष करके सुखी दुखी अनुभव करता रहता हू और इसी मोह के कारण ससार भ्रमण करता चला आ रहा हू। जीव पुद्गल का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है। दूध पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह होता चला आ रहा है।

भेद विज्ञान द्वारा प्रज्ञारूपी बुद्धि से अपने को पहचाना कि मैं चैतन्य स्वरूप हू अमूर्तिक हू स्पर्श, रस गन्ध वर्ण से रहित हू, अकार निराकार हू

अविनाशी हू। पु गल द्रव्य मूर्तिक है। स्पर्श रस गन्ध वर्ण सहित है गलन का स्वभाव है। भेद विज्ञान द्वारा जिस प्रकार हंस दूध और पानी को भिन्न भिन्न देखता है उसी प्रकार मैं भेद विज्ञान और प्रज्ञारूपी करोत के द्वारा जीव व शरीर आदि को अलग-अलग देखता हुआ अपने निज स्वभाव मे प्रसन्न रहता हू और इस प्रकार सदा सुखी रहूगा।

जीव पुद्गल धम अधर्म आकाश और काल छ द्रव्य हैं। इनमे जीव पुद्गल ही क्रियावान हैं और इनका ही सम्ब ध अनादिकाल से चला आ रहा है। इसीलिये यह जीव स्वभाव छोड विभाव परणति करता संसार में घूम रहा है। शेष चार द्रव्य धर्म अधर्म आकाश और काल क्रियाहीन हैं। स्पर्श रस ग ध वर्ण से रहित हैं उदासीन हैं। धर्म अधर्म असंख्यात प्रदेशी है। आकाश अनन्त प्रदेशी है। काल एक प्रदेशी है। एक २ प्रदश में परिणमन करता है यह निश्चय काल है। इस सबसे मै भिन्न हू। केवल निमित्त नमित्तिकसम्बन्ध चला आ रहा है। ये जड हैं मै चत य हू। अत इनस सर्वथा पृथक हू।

भावकर्म रागद्व ष की उत्पत्ति से होते हैं द्रव्य कर्म कार्माण वर्गणा से उत्पन्न होते हैं नो कर्म पुद्गल कम रचना है। मैं इन भाव कम द्रव्य कम नोकम से भी सवथा भिन्न हू। ये अचेतन हैं मैं चेतन हू। मैं कार्माण सूक्ष्म शरीर आदि स भी भिन्न हू। मैं पाप पुण्य शुभ अशुभ रूप भी नही। ये सब पुद्गल की पर्याय है। मैं आश्रव भी नही ब ध भी नही संवर भी नही निर्जरा भी नही और मोक्ष भी नही। ये तो सब पर्याय है और पुद्गल सम्बन्ध से हैं।

कर्म उदय मे न रहने पर ब ध छूटने पर आत्मा निरबध होता है इसी को मोक्ष कहते हैं। रागद्व ष के कारण आत्मा पर मल आ गया है। जितना-२ राग कम हाता जायेगा, उतना २ आत्मा निमल होता जायेगा। इसी स्थित को गुण स्थान कहते हैं।

मुझमें न राग है न द्व ष है न इष्ट है न अनिष्ट है न क्रोध है न मान है न माया है न लोभ है। न स्पर्श रस-वर्ण गन्ध है न मन वचन काय है न शब्द हैं। ये सब मुझसे अलग हैं। मैं शरीर रुपी जड मे चतन्य स्वरूप आत्मा हू। उत्कृष्ट टकोत्कीर्ण ज्ञायक अखण्ड रूप आत्मा हू।

मैं मूर्तिक भी हू अमूर्तिक भी हू सत भी हू, असत्य भी हू नित्य भी हू अनित्य भी हू।

मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा ज्ञाता दृष्टा हू, सिद्ध समान हू। स्वयभू

परमानन्द स्वरुप अजर अमर हू उत्तम क्षमादि रूप हू सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्र रूप हू।

मैं उपयोग वाला हू अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख अनन्तवीय का स्वामी हू। आत्मा ही दशन आत्मा ही ज्ञान आत्मा ही चारित्र है। आत्मा ही संवर निर्जरा एव मोक्षरुप है। आत्मा ही देव है आत्मा ही शास्त्र है आत्मा ही गुरु है आत्मा ही तीर्थ है। व्यवहार से ही देव गुरु शरण हैं।

मैं ज्ञान दर्शन का धारी उत्कृष्ट टंकोत्कीण अखण्डरुप एक आत्मा हू। जब तक कम का उदय है जड पदार्थों से निमित्त नमित्तिक सम्बन्ध हैं। इनका मेरे मे एक अश भी प्रवेश नही होता।

अनादि से पर से उपयोग लगाया इसलिये अशान्त हू। अब प्रज्ञारुपी भेद विज्ञान द्वारा पर स उपयोग हटाकर स्वसमय में उपयोग लगाकर आत्मा का अवलम्बन लेकर राग द्व ष मोह दूर करके सब द्रव्य संसार से शून्य होकर शुद्धापयाग ध्यान अग्नि से कर्मों को क्षय कर शुक्ल ध्यान प्राप्त कर समता भाव को प्रगट हो जाऊँगा। मेरा स्वभाव समता है आकुलता रहित है।

ज्ञान की गंगा मेरे सर्वांग मे भरी है। शान्ति का झरना झरता है दयामयी तरग उठती रहती हैं और तत्रूपी जल इसका प्रवाह है और शील सयम इसके तट है। संयम धारण से शान्ति प्राप्त होती है जिसे अती न्द्रय सुख कहते हैं। वह स्वानुभव से प्राप्त होता है। जो वीतराग रुप निर्विकल्प स्वसवेदन रत्नत्रय मे स्थिर रहते हैं और जिनकी कषाय खत्म हो चुकी है वे ही अतीन्द्रय सुख का वेदन करते हैं।

आज तक जितने सिद्ध हुए होगे वे भेद विज्ञान के द्वारा हुए हैं और आगे होगे।

मैं भी मन वचन काय की गुप्ति द्वारा ध्यान के द्वारा राग द्व ष मोह से अपने को अलग कर सब द्रष्टा से अलग होकर आत्मा आत्मा से आत्मा आत्मा मे आत्मा-आत्मा को ध्यान के द्वारा समताभाव को प्राप्त होऊँगा।

अरिहन्त सिद्ध भगवान परेमेष्ठी आठ कर्मों का क्षय कर उर्द्धव लोक मे विराजमान हैं मैं आठ कम सहित मध्यलोक में विराजमान हू। जो आत्मा सिद्ध भगवान की है वही आत्मा मेरे शरीररूपी देवालय में विराजमान है।

मैं अब उसी की श्रद्धा करता हू उसी की रुचि करता हू उसी की प्रीति करता हू। मैं सातभय रहित हू।